मध्यकालीन भारत

मध्यकालीन भारत

कक्षा 11-12 के लिए पाठ्यपुस्तक

भाग-2

सतीश चंद्र

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

प्राक्कथन

शिक्षा की नई प्रणाली में उच्चतर माध्यमिक स्तर (+2 स्तर) को सीमावर्ती माना गया है, अर्थात् यह स्तर विद्यार्थियों को जीवन में प्रवेश कराएगा तथा आगे की ऊँची शैक्षणिक पढ़ाई के लिए तैयार करेगा। सामान्य शिक्षा के लिए कक्षा दस तक के पाठ्यक्रम बिना किसी असमानता के बनाए गए हैं। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थी को उसकी पसन्द के कुछ विषयों में विशेष अध्ययन वाले पाठ्यक्रमों की ओर प्रवर्तित किया जाएगा।

इतिहास संपादक-मंडल ने +2 स्तर की पाठ्यचर्याओं को अंतिम रूप दिया और उन पर आधारित पाठ्यपुस्तकों को बनाने का काम शुरू किया।

प्रस्तुत खंड मध्यकालीन भारत का एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है। इसकी रचना प्रोफ़ेसर सतीश चंद्र ने की है जो इतिहास संपादक-मंडल के अध्यक्ष भी हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, प्रोफ़ेसर सतीश चंद्र के प्रति आभारी है। इस पुस्तक से संबद्ध अनेक विषयों में सहायता और सहयोग के लिए परिषद्, परिषद् से संबद्ध या असंबद्ध अनेक सज्जनों और संस्थाओं के प्रति आभारी है। परिषद् के डा० शिव कुमार सैनी तथा कुमारी इन्दिरा श्रीनिवासन को हम विशेष धन्यवाद देते हैं जिन्होंने प्रेस-प्रतिलिपि तैयार करने में अपना पूरा सहयोग दिया। परिषद् के ही श्री शफ़ीक़ हसन खान के हम आभारी हैं जिन्होंने प्रश्न-अभ्यास बनाने में योग दिया। हम श्री ए० के० घोष के प्रति भी आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के लिए मानचित्र बनाए। इस पुस्तक में छपे फोटोग्राफ प्रदान करने के लिए भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण को हम विशेष धन्यवाद देते हैं।

मूल अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद श्रीमती देवलीना और डा० सुरेश धींगड़ा ने किया है। परिषद् इसके लिए आभारी है। हिन्दी अनुवाद की प्रेस-प्रतिलिपि तैयार करने और पुस्तक के मुद्रण में सहायता देने के लिए हम प्रकाशन विभाग को धन्यवाद देते हैं।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए परिषद् द्वारा प्रकाशित की जा रही पुस्तकमाला में मध्यकालीन भारत दूसरी पुस्तक है और इसका प्रकाशन दो भागों में हो रहा है। इसका प्रथम भाग पहले प्रकाशित हो चुका है। यह पुस्तक का दूसरा भाग है।

इस प्रकाशन के किसी भी पक्ष से संबंधित सुझाव, टिप्पणी, आलोचना का राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् स्वागत करेगी।

शिव के० मित्र
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

प्रस्तावना

विद्यालय के प्रथम दस वर्षों के लिए सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक अंग इतिहास भी है। इसलिए इस स्तर तक इतिहास के कोर्स द्वारा विद्यार्थी को भारत और विश्व के इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियों एवं अभिवृद्धियों से अवगत करा देने का लक्ष्य रखा गया है। सामान्य शिक्षा के दस वर्षों के दौरान जो नींव पड़ेगी, उसी को आधार मान कर '+2' अर्थात् उच्चतर माध्यमिक स्तर के कोर्स बनाए गए हैं। इसके लिए जो मुख्य उद्देश्य दृष्टि में रखे गए हैं, वे हैं : विद्यार्थी के ऐतिहासिक ज्ञान को समृद्ध करना, उसे इस विषय की शक्तियों से परिचित कराना, और इतिहास के उच्च अध्ययन की दिशा में उसे तैयार करना।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर इतिहास के कोर्स बनाने के पूर्व संपादक-मंडल ने शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों और विशेषज्ञों से पर्याप्त विचार-विमर्श किया है। इतिहास के कोर्सों के लिए संपादक-मंडल पाठ्यपुस्तकें बना रहा है। इस पाठ्यचर्या में भारत के बाहर के क्षेत्रों के इतिहास पर वैकल्पिक कोर्स भी शामिल हैं। जब ये कोर्स स्कूलों में आ जाएँगे, तो इन पर पाठ्यपुस्तकें बना ली जाएंगी।

प्रस्तुत पुस्तक में लगभग आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक के मध्यकालीन भारत के इतिहास को दो भागों में समेटा गया है। इस पुस्तक में इन कारकों और आधारों पर बल देने की कोशिश की गई है जिन्होंने मध्यकाल में भारतीय समाज और संस्कृति को बनाया। मध्यकाल के भारतीय समाज के विविध पक्षों के महत्वपूर्ण परिवर्तनों पर भी पुस्तक में विस्तृत चर्चा है। इस काल में भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले और विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों के योगदान पर इसमें विशेष ध्यान दिया गया है।

इस पुस्तक के लिखने का भार उठाने के लिए संपादक-मंडल प्रोफ़ेसर सतीश चन्द्र का आभारी है। मंडल उन सज्जनों का भी आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक के निर्माण और प्रकाशन में किसी न किसी प्रकार की सहायता दी है।

नई दिल्ली

—संपादक-मंडल

विषय-सूची

मानचित्र

अध्याय 12

उत्तर भारत में साम्राज्य के लिए संघर्ष

मुग़ल और अफ़ग़ान (1525-1556)

पन्द्रहवीं शताब्दी में मध्य और पश्चिम एशिया में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। चौदहवीं शताब्दी में मंगोल-साम्राज्य के विघटन के पश्चात् तैमूर ने ईरान और तूरान को फिर से एक शासन के अन्तर्गत संगठित किया। तैमूर का साम्राज्य वोलगा नदी के निचले हिस्से से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था और उसमें एशिया माइनर (आधुनिक तुर्की), ईरान, ट्रांस-ऑक्सियाना, अफ़ग़ानिस्तान और पंजाब का एक भाग था। 1404 में तैमूर की मृत्यु हो गई लेकिन उसके पोते शाहरुख मिर्ज़ा ने साम्राज्य का अधिकांश भाग संगठित रखा। उसने कलाओं और विद्वानों को संरक्षण दिया। उसके समय में समरक़न्द और हिरात पश्चिम एशिया के सांस्कृतिक केन्द्र बन गए। प्रत्येक समरक़न्द के शासक का इस्लामी दुनियां में काफ़ी सम्मान था।

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देशों का सम्मान तेज़ी से कम हुआ। इसका कारण तैमूर के साम्राज्य को विभाजित करने की परम्परा थी। अनेक तैमूर रियासतें, जो इस प्रक्रिया में बनीं, आपस में लड़ती-झगड़ती रहती थीं। इससे नये तत्वों को आगे बढ़ने का मौक़ा मिला। उत्तर से एक मंगोल जाति उज़बेक ने ट्रांस-ऑक्सियाना में अपने क़दम बढ़ाये। उज़बेकों ने इस्लाम अपना लिया था, लेकिन तैमूरी उन्हें असंस्कृत बर्बर ही समझते थे। और पश्चिम की ओर ईरान में सफ़वी वंश का उदय हुआ। सफवी सन्तों की परम्परा में पनपे थे, जो स्वयं को पैग़म्बर के वंशज मानते थे। वे मुसलमानों के शिया मत का समर्थन करते थे और उन्हें परेशान करते थे, जो शिया सिद्धान्तों को अस्वीकार करते थे। दूसरी ओर उज़बेक सुन्नी थे। इसलिए उन दोनों तत्वों के बीच संघर्ष साम्प्रदायिक मतभेद के कारण और भी बढ़ गया। ईरान के भी पश्चिम में ऑटोमन तुर्कों की शक्ति उभर रही थी, जो पूर्वी यूरोप तथा इराक़ और ईरान पर आधिपत्य जमाना चाहते थे।

इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में एशिया में तीन बड़ी साम्राज्य शक्तियों के बीच संघर्ष की भूमिका तैयार हो गई।

1494 में ट्रांस-ऑक्सियाना की एक छोटी-सी रियासत फ़रग़ाना का बाबर उत्तराधिकारी बना। उज़बेक ख़तरे से बेख़बर होकर तैमूर राजकुमार आपस में लड़ रहे थे। बाबर ने भी अपने चाचा से समरक़न्द छीनना चाहा। उसने दो बार उस शहर को फ़तह किया, लेकिन दोनों ही बार उसे जल्दी ही छोड़ना भी पड़ा। दूसरी बार उज़बेक शासक शैबानी ख़ान को समरक़ंद से बाबर को खदेड़ने के लिए आमन्त्रित किया गया था। उसने बाबर को हराकर

समरक़ंद पर अपना झंडा फहरा दिया। उसके बाद जल्दी ही उसने उस क्षेत्र में तैमूर-साम्राज्य के भागों को भी जीत लिया। इससे बाबर को काबुल की ओर बढ़ना पड़ा और उसने 1504 में उस पर अधिकार कर लिया। उसके बाद 14 वर्ष तक वह इस अवसर की तलाश में रहा कि फिर उज़बेकों को हरा कर अपनी मातृभूमि पर पुनः अधिकार कर सके। उसने अपने चाचा, हिरात के शासक को अपनी ओर मिलाना चाहा, लेकिन इस कार्य में वह सफल नहीं हुआ। शैबानी ख़ान ने अन्ततः हिरात पर भी अधिकार कर लिया। इससे सफ़वीयों से उसका सीधा संघर्ष उत्पन्न हो गया क्योंकि वे भी हरात और उसके आस-पास के प्रदेश को अपना कहते थे। इस प्रदेश को तत्कालीन लेखकों ने खुरासान कहा है। 1510 की प्रसिद्ध लड़ाई में ईरान के शाह इस्माइल ने शैबानी को हरा कर मार डाला। इसी समय बाबर ने समरक़ंद जीतने का एक प्रयत्न और किया। इस बार उसने ईरानी सेना की सहायता ली। वह समरक़ंद पहुँच गया, लेकिन जल्दी ही ईरानी सेनापतियों के व्यवहार के कारण रोष से भर गया। वे उसे ईरानी-साम्राज्य का एक गवर्नर ही मानने को तैयार थे, स्वतन्त्र शासक नहीं, इसी बीच उज़बेक भी अपनी हार से उभर गये। बाबर को एक बार फिर समरक़ंद से खदेड़ दिया गया और उसे काबुल लौटना पड़ा। स्वयं शाह ईरान शाह इस्माइल को भी ऑटोमन-साम्राज्य के साथ हुई प्रसिद्ध लड़ाई में हार का सामना करना पड़ा। इस प्रकार उज़बेक ट्रांस-ऑक्सियाना के निर्विरोध स्वामी हो गए।

इन घटनाओं के कारण ही अन्ततः बाबर ने भारत की ओर रुख़ किया।

भारत-विजय

बाबर ने लिखा है कि काबुल जीतने (1504) से लेकर पानीपत की लड़ाई की विजय तक उसने हिन्दुस्तान जीतने का विचार कभी नहीं त्यागा। लेकिन उसे भारत-विजय के लिए कभी सही अवसर नहीं मिला था, "कभी अपने बेगों के भय के कारण, कभी मेरे और भाइयों के बीच मतभेद के कारण।" मध्य एशिया के कई अन्य आक्रमण-कारियों की भाँति बाबर भी भारत की अपार धन-राशि के कारण इसकी ओर आकर्षित हुआ था। भारत सोने की खान था। बाबर का पूर्वज तैमूर यहाँ से अपार धन-दौलत और बड़ी संख्या में कुशल शिल्पी ही नहीं ले गया था, जिन्होंने बाद में उसके एशिया-साम्राज्य को सुदृढ़ करने और उसकी राजधानी को सुन्दर बनाने में योगदान दिया, बल्कि पंजाब के एक भाग को अपने क़ब्ज़े में कर लिया था। ये भाग अनेक पीढ़ियों तक तैमूर के वंशजों के अधीन रहे थे। जब बाबर ने अफ़ग़ानिस्तान पर विजय प्राप्त की तो उसे लगा कि इन दोनों पर भी उसका क़ानूनी अधिकार है।

काबुल की सीमित आय भी पंजाब परगना को विजित करने का एक कारण थी। "उसका (बाबर) राज्य बदख़्शां, क़ंधार और काबुल पर था, जिनसे सेना की अनिवार्यताएँ पूरी करने के लिए भी आय नहीं होती थी। वास्तव में कुछ सीमा-प्रान्तों पर सेना बनाये रखने में और प्रशासन के काम में व्यय आमदनी से ज़्यादा था।" सीमित आय साधनों के कारण बाबर अपने बेगों और परिवार वालों के लिए अधिक चीज़ें उपलब्ध नहीं कर सकता था। उसे काबुल पर उज़बेक आक्रमण का भी भय था। वह भारत को बढ़िया शरण-स्थल समझता था। उसकी दृष्टि में उज़बेकों के विरुद्ध अभियानों के लिए भी यह अच्छा स्थल था।

उत्तर-पश्चिम भारत की राजनीतिक स्थिति ने बाबर को भारत आने का अवसर प्रदान किया। 1517 में सिकन्दर लोदी की मृत्यु हो गई थी और इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा था। एक केन्द्राभिमुखी बड़ा साम्राज्य स्थापित करने के इब्राहीम के प्रयत्नों ने अफ़ग़ानों और राजपूतों दोनों को सावधान कर दिया था। अफ़ग़ान सरदारों में सर्वाधिक शक्तिशाली सरदार दौलतख़ाँ लोदी था, जो पंजाब का गवर्नर था पर वास्तव में लगभग स्वतन्त्र था। दौलतख़ाँ ने अपने बेटे को इब्राहीम लोदी के दरबार में उपहार देकर उसे मनाने का प्रयत्न किया। साथ-ही-साथ वह भीरा का सीमान्त प्रदेश जीत कर अपनी स्थिति को भी मज़बूत बनाना चाहता था।

1518-19 में बाबर ने भीरा के शक्तिशाली क़िले को जीत लिया। फिर उसने दौलतख़ाँ और इब्राहीम लोदी को पत्र और मौखिक संदेश भेज कर यह माँग की कि जो प्रदेश तुर्कों के हैं, वे उसे लौटा दिए जाएँ। लेकिन

दौलतखाँ ने बाबर के दूत को लाहौर में अटका लिया। वह न स्वयं उससे मिला और न उसे इब्राहीम लोदी के पास जाने दिया। जब बाबर काबुल लौट गया, तो दौलतखाँ ने भीरा से उसके प्रतिनिधियों को निकाल बाहर किया।

1520-21 में बाबर ने एक बार फिर सिंधु नदी पार की और आसानी से भीरा और सियालकोट पर क़ब्ज़ा कर लिया। ये भारत के लिए मुग़ल द्वार थे। लाहौर भी पदाक्रांत हो गया। वह सम्भवत: और आगे बढ़ता, लेकिन तभी उसे क़न्धार में विद्रोह का समाचार मिला। वह उल्टे पाँव लौट गया और डेढ़ साल के घेरे के बाद क़न्धार को जीत लिया। उधर से निश्चिंत होकर बाबर की निगाहें फिर भारत की ओर उठीं।

इसी समय के लगभग बाबर के पास दौलतखाँ लोदी के पुत्र दिलावरखाँ के नेतृत्व में दूत पहुँचे। उन्होंने बाबर को भारत आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि चूँकि इब्राहीम लोदी अत्याचारी है और उसके सरदारों का समर्थन अब उसे प्राप्त नहीं है, इसलिए उसे अपदस्थ करके बाबर राजा बने। इस बात की सम्भावना भी है कि राणा सांगा का दूत भी इसी समय उसके पास पहुँचा। इन दूतों के पहुँचने पर बाबर को लगा कि यदि हिन्दुस्तान को नहीं, तो सारे पंजाब को जीतने का समय आ गया है।

1525 में जब बाबर पेशावर में था, उसे ख़बर मिली कि दौलतखाँ लोदी ने फिर से अपना पल्ला बदल लिया है। उसने 30000-40000 सिपाहियों को इकट्ठा कर लिया था और बाबर की सेनाओं को स्यालकोट से खदेड़ने के बाद लाहौर की ओर बढ़ रहा था। बाबर से सामना होने पर दौलतखाँ लोदी की सेना बिखर गई। दौलतखाँ ने आत्मसर्पण कर दिया और बाबर ने उसे माफ़ी दे दी। इस प्रकार सिन्धु नदी पार करने के तीन सप्ताह के भीतर ही पंजाब पर बाबर का अधिकार हो गया।

पानीपत की लड़ाई (21 अप्रैल, 1526)

दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी के साथ संघर्ष अवश्यम्भावी था। बाबर इसके लिए तैयार था और उसने दिल्ली की ओर बढ़ना शुरू किया। इब्राहीम लोदी ने पानीपत में एक लाख सैनिकों और एक हज़ार हाथियों को लेकर बाबर का सामना किया। क्योंकि हिन्दुस्तानी सेनाओं में एक बड़ी संख्या सेवकों की होती थी, इब्राहीम की सेना में लड़ने वाले सिपाही कहीं कम रहे होंगे। बाबर ने सिन्धु को जब पार किया था तो उसके साथ 12000 हज़ार सैनिक थे, परन्तु उसके साथ वे सरदार और सैनिक भी थे जो पंजाब में उसके साथ मिल गये थे। इस प्रकार उसके सिपाहियों की संख्या बहुत अधिक हो गई थी। फिर भी बाबर की सेना संख्या की दृष्टि से कम थी। बाबर ने अपनी सेना के एक अंश को शहर में टिका दिया जहाँ काफ़ी मकान थे, फिर दूसरे अंश की सुरक्षा उसने खाई खोद कर उस पर पेड़ों की डालियाँ डाल कर की। सामने उसने गाड़ियों की क़तार खड़ी करके सुरक्षात्मक दीवार बना ली। इस प्रकार उसने अपनी स्थिति काफ़ी मज़बूत बना ली। दो गाड़ियों के बीच उसने ऐसी संरचना बनवायी, जिस पर सिपाही अपनी तोपें रखकर गोले चला सकते थे। बाबर इस विधि को ऑटोमन (रूमी) विधि कहता था क्योंकि इसका प्रयोग ऑटोमनों ने ईरान के शाह इस्माईल के विरुद्ध हुई प्रसिद्ध लड़ाई में किया था। बाबर ने दो अच्छे निशानेबाज़ तोपचियों उस्ताद अली और मुस्तफ़ा की सेवाएँ भी प्राप्त करली थीं। भारत में बारूद का प्रयोग धीरे-धीरे होना शुरू हुआ। बाबर कहता है कि इसका प्रयोग सबसे पहले उसने भीरा के क़िले पर आक्रमण के समय किया था। ऐसा अनुमान है कि बारूद से भारतीयों का परिचय तो था, लेकिन प्रयोग बाबर के आक्रमण के साथ ही आरम्भ हुआ।

बाबर की सुदृढ़ रक्षा-पंक्ति का इब्राहीम लोदी को कोई आभास नहीं था। उसने सोचा था कि अन्य मध्य एशियायी लड़ाकों की तरह बाबर भी दौड़-भाग का युद्ध लड़ेगा और आवश्यकतानुसार तेज़ी से आगे बढ़ेगा या पीछे हटेगा। सात या आठ दिन तक छुट-पुट झड़पों के बाद इब्राहीम लोदी की सेना अन्तिम युद्ध के लिए मैदान में आ गई। बाबर की शक्ति देखकर लोदी के सैनिक हिचके इब्राहीम लोदी अभी अपनी सेना को फिर से संगठित ही कर रहा था कि बाबर की सेना के पार्श्व वाले दोनों अंगों ने चक्कर लगा कर उसकी सेना पर पीछे और आगे से आक्रमण कर दिया। सामने की ओर बाबर के तोपचियों ने अच्छी निशानेबाज़ी की लेकिन बाबर अपनी विजय का

अधिकांश श्रेय अपने तीर अन्दाज़ों को देता है। यह आश्चर्य की बात है कि वह इब्राहीम के हाथियों का उल्लेख नहीं के बराबर करता है। यह स्पष्ट है कि इब्राहीम को उनके इस्तेमाल का समय ही नहीं मिला।

प्रारम्भिक धक्कों के बावजूद इब्राहीम की सेना वीरता से लड़ी। दो या तीन घंटों तक युद्ध होता रहा। इब्राहीम 5000-6000 सैनिकों के साथ अन्त तक लड़ता रहा। अनुमान है कि इब्राहीम के अतिरिक्त उसके 15000 से अधिक सैनिक इस लड़ाई में मारे गये।

पानीपत की लड़ाई भारतीय इतिहास में एक निर्णायक लड़ाई मानी जाती है। इसमें लोदियों की कमर टूट गई और दिल्ली और आगरा तक का सारा प्रदेश बाबर के अधीन हो गया। इब्राहीम लोदी द्वारा आगरा में एकत्र ख़ज़ाने से बाबर की आर्थिक कठिनाईयाँ भी दूर हो गईं। जौनपुर तक का समृद्ध क्षेत्र भी बाबर के सामने खुला था। लेकिन इससे पहले कि बाबर इस क्षेत्र पर अपना अधिकार सुदृढ़ कर सके उसे दो कड़ी लड़ाईयाँ लड़नी पड़ीं—एक मेवाड़ के विरुद्ध और दूसरी पूर्वी अफ़ग़ानों के विरुद्ध। इस दृष्टि-कोण से देखा जाए तो पानीपत की लड़ाई राजनीतिक क्षेत्र में इतनी निर्णायक नहीं थी जितनी कि समझी जाती है। इसका वास्तविक महत्व इस बात में है कि इसने उत्तर भारत पर आधिपत्य के लिए संघर्ष का एक नया युग प्रारम्भ किया।

पानीपत की लड़ाई में विजय के बाद बाबर के सामने बहुत-सी कठिनाईयाँ आईं। उसके बहुत से बेग भारत में लम्बे अभियान के लिये तैयार नहीं थे। गरमी का मौसम आते ही उनके संदेह बढ़ गये। वे अपने घरों से दूर एक अनजाने और शत्रु देश में थे। बाबर कहता है कि भारत के लोगों ने 'अच्छी शत्रुता' निभाई, उन्होंने मुग़ल सेनाओं के आने पर गाँव खाली कर दिए। निःसन्देह तैमूर द्वारा नगरों और गाँवों की लूटपाट और क़त्लेआम उनकी याद में ताज़ा थे।

बाबर यह बात जानता था कि भारतीय साधन ही उसे एक दृढ़ साम्राज्य बनाने में मदद दे सकते हैं और उसके बेगों को भी संतुष्ट कर सकते हैं। "काबुल की ग़रीबी हमारे लिए फिर नहीं" वह अपनी डायरी में लिखता है। इसलिए उसने दृढ़ता से काम लिया, और भारत में रहने की अपनी इच्छा ज़ाहिर कर दी और उन बेगों को छुट्टी दे दी जो काबुल लौटना चाहते थे। इससे उसका रास्ता साफ़ हो गया। लेकिन इससे राणा साँगा से भी उसकी शत्रुता हो गयी, जिसने उससे दो-दो हाथ करने के लिए तैयारियाँ शुरू कर दीं।

खानवा की लड़ाई

पूर्वी राजस्थान और मालवा पर आधिपत्य के लिए राणा साँगा और इब्राहीम लोदी के बीच बढ़ते संघर्ष का संकेत पहले ही किया जा चुका है। मालवा के महमूद ख़ल्जी को हराने के बाद राणा साँगा का प्रभाव आगरा के निकट एक छोटी-सी नदी पीलिया खार तक धीरे-धीरे बढ़ गया था। सिंधु-गंगा घाटी में बाबर द्वारा साम्राज्य की स्थापना से राणा साँगा को ख़तरा बढ़ गया। साँगा ने बाबर को भारत से खदेड़ने, कम-से-कम उसे पंजाब तक सीमित रखने, के लिए तैयारियाँ शुरू कर दीं।

बाबर ने राणा साँगा पर संधि तोड़ने का दोष लगाया है। वह कहता है कि राणा साँगा ने मुझे हिन्दुस्तान आने का न्यौता दिया और इब्राहीम लोदी के ख़िलाफ़ मेरा साथ देने का वायदा किया, लेकिन जब मैं दिल्ली और आगरा फ़तह कर रहा था, तो उसने पाँव भी नहीं हिलाये। इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि राणा साँगा ने बाबर के साथ क्या समझौता किया था। हो सकता है कि उसने एक लम्बी लड़ाई की कल्पना की हो, और सोचा हो कि तब तक वह स्वयं उन प्रदेशों पर अधिकार कर सकेगा जिन पर उसकी निगाह थी या, शायद उसने यह सोचा हो कि दिल्ली को रौंद कर लोदियों की शक्ति को क्षीण करके बाबर भी तैमूर की भाँति लौट जायेगा। बाबर के भारत में ही रुकने के निर्णय ने परिस्थिति को पूरी तरह बदल दिया।

इब्राहीम लोदी के छोटे भाई महमूद लोदी सहित अनेक अफ़ग़ानों ने यह सोच कर राणा साँगा का साथ दिया कि अगर वह जीत गया, तो शायद उन्हें दिल्ली की गद्दी वापस मिल जायेगी। मेवात के शासक हसनखाँ मेवाती ने भी राणा साँगा का पक्ष लिया। लगभग सभी बड़ी राजपूत रियासतों ने राणा की सेवा में अपनी-अपनी सेनाएँ

राणा साँगा की प्रसिद्धि और बयाना जैसी बाहरी मुग़ल छावनियों पर उसकी प्रारम्भिक सफलताओं से बाबर के सिपाहियों का मनोबल गिर गया। उनमें फिर से साहस भरने के लिए बाबर ने राणा साँगा के ख़िलाफ़ 'जिहाद' का नारा दिया। लड़ाई से पहले की शाम उसने अपने आप को सच्चा मुसलमान सिद्ध करने के लिए शराब के घड़े उलट दिए और सुराहियाँ फोड़ दीं। उसने अपने राज्य में शराब की खरीदोफ़रोख़्त पर रोक लगा दी और मुसलमानों पर से सीमा कर हटा लिए।

बाबर ने बहुत ध्यान से रणस्थली का चुनाव किया और वह आगरा से चालीस किलोमीटर दूर खानवा पहुँच गया। पानीपत की तरह ही उसने बाहरी पंक्ति में गाड़ियाँ लगवा कर और उसके साथ खाई खोद कर दुहरी सुरक्षा की पद्धति अपनाई। इन तीन पहियों वाली गाड़ियों की पंक्ति में बीच-बीच में बन्दूकचियों के आगे बढ़ने और गोलियाँ चलाने के लिए स्थान छोड़ दिया गया।

खानवा की लड़ाई (1527) में ज़बर्दस्त संघर्ष हुआ। बाबर के अनुसार साँगा की सेना में 200,000 से भी अधिक सैनिक थे। इनमें 10,000 अफ़ग़ान घुड़सवार और इतनी संख्या में हसन ख़ान मेवाती के सिपाही थे। यह संख्या भी, और स्थानों की भाँति बढ़ा-बढ़ा कर कही गई हो सकती है, लेकिन बाबर की सेना निःसन्देह छोटी थी। साँगा ने बाबर की दाहिनी सेना पर ज़बर्दस्त आक्रमण किया और उसे लगभग भेद दिया। लेकिन बाबर के तोपख़ाने ने काफ़ी सैनिक मार गिराये और साँगा को खदेड़ दिया गया। इसी अवसर पर बाबर ने केन्द्र-स्थित सैनिकों से, जो गाड़ियों के पीछे छिपे हुए थे, आक्रमण करने के लिए कहा। ज़ंजीरों से गाड़ियों से बंधे तोपखाने को भी आगे बढ़ाया गया। इस प्रकार साँगा की सेना बीच में घिर गई और बहुत से सैनिक मारे गये। साँगा की पराजय हुई। राणा साँगा बच कर भाग निकला ताकि बाबर के साथ फिर संघर्ष कर सके परन्तु उसके सामन्तों ने ही उसे जहर दे दिया जो इस मार्ग को ख़तरनाक और आत्महत्या के समान समझते थे।

इस प्रकार राजस्थान का सबसे बड़ा योद्धा अन्त को प्राप्त हुआ। साँगा की मृत्यु के साथ ही आगरा तक विस्तृत संयुक्त राजस्थान के स्वप्न को बहुत धक्का पहुँचा।

खानवा की लड़ाई से दिल्ली-आगरा में बाबर की स्थिति सुदृढ़ हो गई। आगरा के पूर्व में ग्वालियर और धौलपुर जैसे क़िलों की श्रृंखला जीत कर बाबर ने अपनी स्थिति और भी मजबूत कर ली। उसने हसनखाँ मेवाती से अलवर का बहुत बड़ा भाग भी छीन लिया। फिर उसने मालवा-स्थित चन्देरी के मेदिनी राय के विरुद्ध अभियान छेड़ा। राजपूत सैनिकों द्वारा रक्त की अन्तिम बूँद तक लड़कर जौहर करने के बाद चन्देरी पर बाबर का अधिकार हो गया। बाबर को इस क्षेत्र में अपने अभियान को सीमित करना पड़ा क्योंकि उसे पूर्वी उत्तर प्रदेश में अफ़ग़ानों की हलचल की ख़बर मिली।

अफ़ग़ान यद्यपि हार गये थे, लेकिन उन्होंने मुग़ल शासन को स्वीकार नहीं किया था। पूर्वी उत्तर प्रदेश अब भी अफ़ग़ान सरदारों के हाथ में था जिन्होंने बाबर की अधीनता को स्वीकार तो कर लिया था, लेकिन उसे कभी भी उखाड़ फेंकने को तैयार थे। अफ़ग़ान सरदारों की पीठ पर बंगाल का सुल्तान नुसरत शाह था, जो इब्राहीम लोदी का दामाद था। अफ़ग़ान सरदारों ने कई बार पूर्वी उत्तर प्रदेश से मुग़ल कर्मचारियों को निकाल बाहर किया था और स्वयं क़न्नौज पहुँच गये थे। परन्तु उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी सर्वमान्य नेता का अभाव थी। कुछ समय पश्चात् इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी, जो खानवा में बाबर से लड़ चुका था, अफ़ग़ानों के निमन्त्रण पर बिहार पहुँचा। अफ़ग़ानों ने उसे अपना सुल्तान मान लिया और उसके नेतृत्व में इकट्ठे हो गये।

यह ऐसा ख़तरा था जिसको बाबर नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता था। अतः 1529 के शुरू में उसने आगरा से पूर्व की ओर प्रस्थान किया। बनारस के निकट गंगा पार करके घाघरा नदी के निकट उसने अफ़ग़ानों और बंगाल के नुसरत शाह की सम्मिलित सेना का सामना किया। हालाँकि बाबर ने नदी को पार कर लिया और अफ़ग़ान तथा बंगाली सेनाओं को लौटने पर मजबूर कर दिया, वह निर्णायक युद्ध नहीं जीत सका। मध्य एशिया की स्थिति से परेशान और बीमार बाबर ने अफ़ग़ानों के साथ समझौता करने का निर्णय कर लिया। उसने बिहार पर अपने आधिपत्य का एक अस्पष्ट सा दावा किया, लेकिन अधिकांश अफ़ग़ान सरदारों के हाथ में छोड़ दिया। उसके बाद बाबर आगरा लौट गया। कुछ ही समय बाद, जब वह काबुल जा रहा था, वह लाहौर के निकट मर गया।

बाबर के भारत आगमन का महत्व

बाबर का भारत-आगमन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद पहली बार उत्तर भारत के साम्राज्य में काबुल और क़न्धार सम्मिलित हुए थे। क्योंकि इन्हीं स्थानों से भारत पर आक्रमण होते रहे थे, उन पर अधिकार करके बाबर और उसके उत्तराधिकारियों ने भारत को 200 वर्षों के लिए विदेशी-आक्रमणों से मुक्त कर दिया। आर्थिक दृष्टि से भी काबुल और क़न्धार पर अधिकार से भारत का विदेश-व्यापार और मज़बूत हुआ क्योंकि ये दोनों स्थान चीन और भूमध्य सागर के बन्दरगाहों के मार्गों के प्रारम्भिक बिन्दु थे। इस प्रकार एशिया के आर-पार के विशाल व्यापार में भारत बड़ा हिस्सा ले सकता था।

उत्तर भारत में बाबर ने लोदियों और साँगा के नेतृत्व में संयुक्त राजपूत शक्ति को समाप्त किया। इस प्रकार उसने इस क्षेत्र में तत्कालीन शक्ति-सन्तुलन को भंग कर दिया। यह पूरे भारत में साम्राज्य स्थापित करने की दिशा में एक लम्बा क़दम था। लेकिन इस स्वप्न को साकार करने से पूर्व बहुत सी शर्तें पूरी करनी शेष थीं।

बाबर ने भारत को एक नयी युद्ध-पद्धति दी। यद्यपि बाबर से पहले भी भारतीय गोला-बारूद से परिचित थे, लेकिन बाबर ने ही यह प्रदर्शित किया कि तोपखाने और घुड़सेना का कुशल संयुक्त-संचालन कितनी सफलता प्राप्त करा सकता है। उसकी विजयों ने भारत में बारूद और तोपखाने को शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया और इस प्रकार क़िलों का महत्व कम हो गया।

अपनी नयी सैनिक-पद्धति और व्यक्तिगत व्यवहार से बाबर ने राजा के उस महत्व को पुन:स्थापित किया जो फ़िरोज़ तुग़लक़ की मृत्यु के बाद कम हो गया था। हालाँकि सिकन्दर लोदी और इब्राहीम लोदी ने राजा के सम्मान को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया था, लेकिन अफ़ग़ानों की जातीय स्वतन्त्रता और बराबरी की भावनाओं के कारण उन्हें आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई थी। फिर बाबर एशिया के दो महान योद्धाओं तैमूर और चंगेज़ का वंशज था। इसलिए उसके सरदार उससे बराबरी की माँग नहीं कर सकते थे और न ही उसकी गद्दी पर नज़र डाल सकते थे। उसकी स्थिति को चुनौती कोई तैमूरी राजकुमार ही दे सकता था।

बाबर ने अपने बेगों के बीच अपने व्यक्तिगत जीवन से मान बनाया। वह हमेशा अपने सिपाहियों के साथ कठिनाईयाँ झेलने को तैयार रहता था। एक बार कड़कती सर्दी में बाबर काबुल लौट रहा था। बर्फ़ इतनी ज़्यादा थी कि घोड़े उसमें धंस रहे थे। घोड़ों के लिए रास्ता बनाने के लिए सिपाहियों को बर्फ़ हटानी पड़ रही थी। बिना किसी हिचकिचाहट के बाबर ने उनके साथ बर्फ़ तोड़ने का काम शुरू कर दिया। वह कहता है "हर क़दम पर बर्फ़ कमर या छाती तक ऊँची थी। कुछ ही क़दम चल कर आगे के आदमी थक जाते थे और उनका स्थान दूसरे ले लेते थे। जब 10-15 या 20 आदमी बर्फ़ को अच्छी तरह दबा देते थे, तभी घोड़ा उस पर से गुज़र सकता था।" बाबर को काम करता देखकर उसके बेग भी बर्फ़ हटाने के लिए आ जुटे।

बाबर शराब और अच्छे संगीत को बहुत पसन्द करता था, और स्वयं भी अच्छा साथी सिद्ध होता था। साथ ही वह बहुत अनुशासन प्रिय और कार्य लेने में कड़ा था। वह अपने बेगों का बहुत ध्यान रखता था, और अगर वे विद्रोही न हों तो उनकी कई ग़लतियाँ माफ़ कर देता था। अफ़ग़ान और भारतीय सरदारों के प्रति भी उसका यही दृष्टिकोण था। लेकिन, उसमें क्रूरता की प्रवृत्ति मौजूद थी, जो सम्भवत: उसे अपने पूर्वजों से मिली थी। उसने कई अवसरों पर अपने विरोधियों के सिरों के अम्बार लगवा दिये थे। ये और व्यक्तिगत क्रूरता के अन्य अवसर बाबर के समक्ष कठिन समय के संदर्भ में ही देखे जाने चाहिए।

हालाँकि बाबर पुरातनपंथी सुन्नी था, लेकिन वह धर्मान्ध नहीं था और न ही धार्मिक भावना से काम लेता था। जब ईरान और तूरान में शियाओं और सुन्नियों के बीच तीव्र संघर्ष की स्थिति थी, उसका दरबार इस प्रकार के धार्मिक विवादों और साम्प्रदायिक झगड़ों से मुक्त था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने साँगा के विरुद्ध 'जिहाद' का एलान किया था और जीत के बाद 'ग़ाज़ी' की उपाधि भी धारण की थी, लेकिन उसके कारण स्पष्टत: राजनीतिक थे। युद्धों का समय होते हुए भी, मन्दिरों को तोड़ने के उदाहरण उसके संदर्भ में बहुत कम हैं।

बाबर अरबी और फ़ारसी का अच्छा ज्ञाता था। उसे तुर्की साहित्य के दो सर्वाधिक प्रसिद्ध लेखकों में से एक

माना जाता है। तुर्की उसकी मातृभाषा थी। गद्य लेखक के रूप में उसका कोई सानी नहीं था। उसकी आत्मकथा तुज़्क-ए-बाबरी विश्व-साहित्य का एक क्लासिक समझी जाती है। उसकी और रचनाओं में एक मसनवी और एक प्रसिद्ध सूफ़ी रचना का तुर्की-अनुवाद है। वह प्रसिद्ध तत्कालीन कवियों और कलाकारों के सम्पर्क में रहता था और उनकी रचनाओं के विषय में उसने अपनी जीवनी में लिखा है। वह गहन प्रकृति-प्रेमी था। उसने भारतीय पशु-पक्षियों और प्रकृति का काफ़ी विस्तार में वर्णन किया है।

इस प्रकार बाबर ने राज्य का एक नया स्वरूप हमारे सामने रखा, जो शासक के सम्मान और शक्ति पर आधारित था, जिसमें धार्मिक और साम्प्रदायिक मदान्धता नहीं थी, जिसमें संस्कृति और ललित कलाओं का बड़े ध्यानपूर्वक पोषण किया जाता था। इस प्रकार उसने अपने उत्तराधिकारियों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करके उनका मार्गदर्शन किया।

हुमायूं की गुजरात-विजय और शेरशाह के साथ संघर्ष

हुमायूँ दिसम्बर 1530 में 23 वर्ष की अल्पायु में बाबर की गद्दी पर बैठा। बाबर के पीछे छूटी अनेक समस्याओं का उसे सामना करना पड़ा। प्रशासन अभी सुगठित नहीं हुआ था। आर्थिक-स्थिति भी डांवाडोल थी। अफ़ग़ानों को पूरी तरह दबाया नहीं जा सका था, और वे अब भी मुग़लों को भारत से खदेड़ने के सपने देखते थे और सबसे बड़ी बात थी, पिता की मृत्यु के बाद पुत्रों में राज्य बाँटने की तैमूरी परम्परा बाबर ने हुमायूँ को भाईयों से नर्मी से पेश आने की सलाह दी थी, लेकिन उसने इस बात का समर्थन नहीं किया था कि नये-नये स्थापित मुग़ल साम्राज्य को विभाजित कर दिया जाए। इसके भयंकर परिणाम हो सकते थे।

जब हुमायूँ आगरा में गद्दी पर बैठा, साम्राज्य में काबुल और क़ंधार सम्मिलित थे और हिन्दूकुश पर्वत के पार बदख़शां पर भी मुग़लों का ढीला-सा आधिपत्य था। काबुल और क़न्धार हुमायूँ के छोटे भाई कामरान के शासन में थे। यह स्वाभाविक था कि वे उसी के अधिकार में रहते। लेकिन कामरान इन ग़रीबी से ग्रस्त इलाक़ों से संतुष्ट नहीं था। उसने लाहौर और मुल्तान की ओर बढ़ कर उन पर अधिकार कर लिया। हुमायूँ कहीं और विद्रोह दबाने में व्यस्त था। फिर वह गृह-युद्ध प्रारम्भ भी नहीं करना चाहता था। इसलिए उसके पास इस स्थिति को मंज़ूर करने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। कामरान ने हुमायूँ की प्रभुत्ता मान ली और आवश्यकता पड़ने पर उसकी मदद करने का वायदा किया। कामरान के इस कृत्य से यह भय उत्पन्न हो गया कि हुमायूँ के और भाई भी अवसर मिलने पर वही कुछ कर सकते हैं। किन्तु पंजाब और मुल्तान कामरान को देने का एक लाभ हुमायूँ को हुआ। वह पश्चिम की ओर से निश्चित हो गया और पूर्व की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने का उसे अवसर मिला।

हुमायूँ को पूर्व के अफ़ग़ानों की बढ़ती शक्ति और गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह की विजयों दोनों से निपटना था। पहले हुमायूँ ने यह सोचा था कि दोनों में से अफ़ग़ान ख़तरा ज़्यादा गम्भीर है। 1532 में दोराह पर उसने अफ़ग़ान सेनाओं को पराजित किया और जौनपुर को अपने अधिकार में ले लिया। अफ़ग़ान सेनाओं ने पहले बिहार जीत लिया था। इस सफलता के बाद हुमायूँ ने चुनार पर घेरा डाल दिया। आगरा से पूर्व की ओर जाने वाले मार्गों पर इस शक्तिशाली क़िले का अधिकार था और यह पूर्वी भारत के द्वार के रूप में प्रसिद्ध था। कुछ समय पूर्व ही इस पर शेरख़ाँ नाम के अफ़ग़ान सरदार का अधिकार हुआ था। शेरख़ाँ अफ़ग़ान सरदारों में सबसे ज़्यादा शक्तिशाली बन चुका था।

चुनार पर चार महीने के घेरे के बाद शेरख़ाँ ने हुमायूँ को क़िले का अधिकार अपने पास रखने के लिए मना लिया। बदले में उसने मुग़लों का वफ़ादार रहने का वचन दिया और अपने एक पुत्र को बन्धक के रूप में हुमायूँ के साथ भेज दिया। हुमायूँ ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया क्योंकि वह जल्दी ही आगरा लौट जाना चाहता था। गुजरात के बहादुरशाह की बढ़ती शक्ति और आगरा के साथ लगी सीमा पर उसकी गतिविधियों के कारण वह चिन्तित हो उठा था। वह किसी सरदार के नेतृत्व में चुनार पर घेरा नहीं डाले

रहना चाहता था क्योंकि इसका अर्थ सेना को दो भागों में विभक्त करना होता।

बहादुरशाह, जो हुमायूँ की ही आयु का था, एक योग्य और महत्वाकांक्षी शासक था। वह 1526 में गद्दी पर बैठा था और उसने मालवा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया था। उसके बाद वह राजस्थान की ओर घूमा और चित्तौड़ पर घेरा डाल दिया। जल्दी ही उसने राजपूत सैनिकों की मिट्टी पलीत कर दी। बाद की किंवदंतियों के अनुसार साँगा की विधवा रानी करणावती ने हुमायूँ के पास राखी भेजी और उसकी मदद माँगी और हुमायूँ ने वीरता से उसका जवाब दिया। हालाँकि इस कहानी को सच नहीं माना जा सकता, लेकिन हुमायूँ परिस्थिति पर नज़र रखने के लिए आगरा से ग्वालियर आ गया। मुग़ल-हस्तक्षेप के भय के कारण बहादुरशाह ने राणा से संधि कर ली और काफ़ी धन-दौलत लेकर क़िला उसके हाथों में छोड़ दिया।

अगले डेढ़ साल हुमायूँ दिल्ली के निकट दीनपनाह नाम का नया शहर बनवाने में व्यस्त रहा। इस दौरान उसने भव्य भोजों और मेलों का आयोजन किया। इन कार्यों में मूल्यवान समय व्यर्थ करने का दोष हुमायूँ पर लगाया जाता है। इस बीच पूर्व में शेरशाह अपनी शक्ति बढ़ाने में व्यस्त था। यह भी कहा जाता है कि हुमायूँ अफ़ीम का आदी होने के कारण आलसी था। लेकिन इनमें से किसी भी दोषारोपण का कोई विशेष आधार नहीं है। बाबर शराब छोड़ने के बाद अफ़ीम लेता रहा था। हुमायूँ शराब के बदले में या उसके साथ कभी-कभी अफ़ीम खाता था। अनेक सरदार भी ऐसा करते थे। लेकिन बाबर या हुमायूँ में से कोई भी अफ़ीम का आदी नहीं था। दीनपनाह के निर्माण का उद्देश्य मित्र और शत्रु दोनों को प्रभावित करना था। बहादुरशाह की ओर से आगरे पर ख़तरा पैदा होने की स्थिति में यह नया शहर दूसरी राजधानी के रूप में भी काम आ सकता था। बहादुरशाह ने इस बीच अजमेर को जीत लिया था और पूर्वी राजस्थान को रौंद डाला था।

बहादुरशाह ने हुमायूँ को और भी बड़ी चुनौती दी। वह इब्राहीम लोदी के सम्बन्धियों को अपने यहाँ शरण देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने हुमायूँ के उन सम्बन्धियों का भी अपने दरबार में स्वागत किया जो असफल विद्रोह के बाद जेलों में डाल दिए गए थे और बाद में वहाँ से भाग निकले थे। और फिर, बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर फिर आक्रमण कर दिया था। साथ ही साथ उसने इब्राहीम लोदी के चचेरे भाई तातारखाँ को सिपाही और हथियार दिए ताकि वह 40,000 की फ़ौज लेकर आगरा पर आक्रमण कर सके। उत्तर और पूर्व में भी हुमायूँ का ध्यान बंटाने की योजना थी।

तातारखाँ की चुनौती को हुमायूँ ने जल्दी ही समाप्त कर दिया। मुग़ल सेना के आगमन पर अफ़गान सेना तितर-बितर हो गई। तातारखाँ की छोटी-सी सेना हार गई और तातारखाँ स्वयं मारा गया। बहादुरशाह की ओर से आने वाले ख़तरे को हमेशा के लिए ख़त्म करने के लिए दृढ़ निश्चय हुमायूँ ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। वह धीमी गति और सावधानी से आगे बढ़ा और चित्तौड़ तथा माँडू के मध्य के एक स्थान पर मोर्चा बाँध लिया। इस प्रकार उसने बहादुरशाह को मालवा से खदेड़ दिया।

बहादुरशाह ने जल्दी ही चित्तौड़ को समर्पण के लिए विवश कर दिया क्योंकि उसके पास बढ़िया तोपख़ाना था जिसका संचालन ऑटोमन निशांची रूमीख़ाँ कर रहा था। कहा जाता है कि हुमायूँ ने धार्मिक आधार पर चित्तौड़ की मदद करने से इनकार कर दिया था। लेकिन, उस समय मेवाड़ आन्तरिक समस्याओं में व्यस्त था और हुमायूँ के विचार से मेवाड़ की मित्रता सैनिक दृष्टि से सीमित महत्व की थी।

इसके बाद जो संघर्ष हुआ, उसमें हुमायूँ ने काफी सैन्य कौशल और व्यक्तिगत वीरता का परिचय दिया। बहादुर शाह को मुग़ल सेना का सामना करने का साहस नहीं हुआ। वह अपनी क़िलेबन्दी छोड़कर माँडू भाग गया। उसने अपनी तोपों को तो छोड़ दिया, लेकिन बेशक़ीमती साज़ो-सामान पीछे छोड़ गया। हुमायूँ ने तेज़ी से उसका पीछा किया। उसने थोड़े से साथियों के साथ माँडू के क़िले की दीवार फाँदी। इस प्रकार क़िले में प्रवेश करने वालों में वह स्वयं पाँचवां आदमी था। बहादुरशाह माँडू से चम्पानेर भागा और वहाँ से अहमदाबाद और अन्ततः काठियावाड़ भाग गया। इस प्रकार मालवा और गुजरात के समृद्ध प्रदेश और माँडू तथा चम्पानेर के क़िलों में एकत्र

विशाल ख़ज़ाने हुमायूँ के हाथ लग गए।

मालवा और गुजरात जितनी जल्दी जीते गये थे, उतनी ही जल्दी हाथ से निकल भी गये थे। जीत के बाद हुमायूँ ने इन राज्यों को अपने छोटे भाई असकरी के सेनापतित्व में छोड़ दिया और स्वयं माँडू चला गया। माँडू केन्द्र में भी था और उसकी जलवायु भी अच्छी थी। मुग़ल साम्राज्य के सामने सबसे बड़ी समस्या जनता का गुजराती शासन के प्रति लगाव था। असकरी अनुभवहीन था और उसके मुग़ल सरदारों में परस्पर मतभेद था। जन-विद्रोहों, बहादुरशाही सरदारों की सैनिक कार्यवाही और बहादुरशाह द्वारा शीघ्रता से शक्ति के पुनर्गठन से असकरी घबड़ा गया। वह चम्पानेर की ओर लौटा लेकिन उसे क़िले से कोई सहायता नहीं मिली क्योंकि क़िले के सेनापति को उसके इरादों पर सन्देह था। वह माँडू जाकर हुमायूँ के सामने नहीं पड़ना चाहता था, अतः उसने आगरा लौटने का निर्णय किया। इससे यह संदेह पैदा हुआ कि वह आगरा पहुँच कर हुमायूँ को अपदस्त करने का प्रयत्न कर सकता है, या अपने लिए अलग हिस्सा लेने का षडयंत्र रच सकता है। हुमायूँ कोई ऐसा मौक़ा नहीं देना चाहता था, इसलिए उसने मालवा छोड़ दिया और तेज़ी से असकरी के पीछे कूच कर दिया। उसने राजस्थान में असकरी को जा पकड़ा। दोनों भाईयों में बातचीत हुई और वे आगरा लौट गये। इस बीच गुजरात और मालवा दोनों हाथ से निकल गये।

गुजरात अभियान पूरी तरह असफल नहीं रहा। हालाँकि इससे मुग़ल साम्राज्य की सीमाओं में विस्तार तो नहीं हुआ, लेकिन गुजरात की ओर से मुग़लों को ख़तरा हमेशा के लिए ख़त्म हो गया। हुमायूँ अब इस स्थिति में था कि अपनी सारी शक्ति शेरख़ान और अफ़ग़ानों के विरुद्ध संघर्ष में लगा सके। गुजरात की ओर से बचा-खुचा ख़तरा भी पुर्तगाली जहाज़ पर हुए झगड़े में बहादुरशाह की मृत्यु से समाप्त हो गया।

आगरा से हुमायूँ की अनुपस्थिति के दौरान (फ़रवरी, 1535 से फरवरी, 1537 तक) शेरख़ाँ ने अपनी स्थिति और मज़बूत कर ली थी। वह बिहार का निर्विरोध स्वामी बन चुका था। नज़दीक और दूर के अफ़ग़ान उसके नेतृत्व में इकट्ठे हो गये थे। हालाँकि वह अब भी मुग़लों के प्रति वफ़ादारी की बात करता था, लेकिन मुग़लों को भारत से निकालने के लिए उसने ख़ूबसूरती से योजना बनायी। बहादुरशाह से उसका गहरा सम्पर्क था। बहादुरशाह ने हथियार और धन आदि से उसकी बहुत सहायता भी की थी। इन स्रोतों के उपलब्ध हो जाने से उसने एक कुशल और वृहद सेना एकत्र कर ली थी। उसके पास 1200 हाथी भी थे। हुमायूँ के आगरा लौटने के कुछ ही दिन बाद शेरख़ाँ ने अपनी सेना का उपयोग बंगाल के सुल्तान को हराने में किया था और उसे तुरन्त 1,300,000 दीनार (स्वर्ण मुद्रा) देने के लिए विवश किया था।

एक नयी सेना को लैस करके हुमायूँ ने वर्ष के अन्त में चुनार को घेर लिया। हुमायूँ ने सोचा था कि ऐसे शक्तिशाली क़िले को पीछे छोड़ना उचित नहीं होगा क्योंकि इससे उसकी रसद के मार्ग को ख़तरा हो सकता था। लेकिन अफ़ग़ानों ने दृढ़ता से क़िले की रक्षा की। कुशल तोपची रूमी ख़ान के प्रयत्नों के बावजूद हुमायूँ को चुनार का क़िला जीतने में छः महीने लग गये। इसी दौरान शेरख़ाँ ने धोखे से रोहतास के शक्तिशाली क़िले पर अधिकार कर लिया। वहाँ वह अपने परिवार को सुरक्षित छोड़ सकता था। फिर उसने बंगाल पर दुबारा आक्रमण किया और उसकी राजधानी गौड़ पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार शेरख़ाँ ने हुमायूँ को लुका-छिपी पूरी तरह से मात दे दी। हुमायूँ को यह अनुभव कर लेना चाहिए था कि अधिक सावधानी से तैयारी के बिना वह इस स्थिति में नहीं हो सकता कि शेरख़ाँ को सैनिक-चुनौती दे सके। लेकिन वह अपने सामने सैनिक और राजनीतिक स्थिति को नहीं समझ सका। गौड़ पर अपनी विजय के बाद शेरख़ाँ ने हुमायूँ के पास प्रस्ताव भेजा कि यदि उसके पास बंगाल रहने दिया जाए, तो वह बिहार उसे दे देगा और दस लाख सालाना कर देगा। यह स्पष्ट नहीं है कि इस प्रस्ताव में शेरख़ाँ कितना ईमानदार था। लेकिन हुमायूँ बंगाल को शेरख़ाँ के पास रहने देने के लिए तैयार नहीं था। बंगाल सोने का देश था, उद्योगों में उन्नत था और विदेश-व्यापार का केन्द्र था। साथ ही बंगाल के सुल्तान, जो घायल अवस्था में हुमायूँ की छावनी में पहुंच गया था, का कहना था कि शेरख़ाँ का विरोध अब भी जारी है। इन सब कारणों से हुमायूँ ने शेरख़ाँ का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और बंगाल पर चढ़ाई करने का

निर्णय लिया। बंगाल का सुल्तान अपने घावों के कारण जल्दी ही मर गया। अतः हमायूँ को अकेले ही बंगाल पर चढ़ाई करनी पड़ी।

बंगाल की ओर हुमायूँ का कूच उद्देश्यहीन था और यह उस विनाश की पूर्वपीठिका थी, जो उसकी सेना में लगभग एक वर्ष बाद चौसा में हुआ। शेरखाँ ने बंगाल छोड़ दिया था और दक्षिण बिहार में पहुँच गया था। उसने बिना किसी प्रतिरोध के हुमायूँ को बंगाल की ओर बढ़ने दिया ताकि वह हुमायूँ की रसद-पंक्ति को तोड़ सके और उसे बंगाल में फँसा सके। गौड़ में पहुँच कर हुमायूँ ने तुरन्त क़ानून और व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। लेकिन इससे उसकी कोई समस्या हल नहीं हुई। उसके भाई हिंदाल द्वारा आगरा में स्वयं ताजपोशी के प्रयत्नों से उसकी स्थिति और बिगड़ गई। इस कारण से और शेरखाँ की गतिविधियों के कारण हुमायूँ आगरा से रसद और समाचारों से पूरी तरह कट गया।

गौड़ में तीन या चार महीने रुकने के बाद हुमायूँ ने आगरा की ओर प्रस्थान किया। उसने पीछे सेना की एक टुकड़ी छोड़ दी। सरदारों में असन्तोष, वर्षा ऋतु और लूटपाट के लिए किए गए अफ़ग़ानों के निरन्तर आक्रमणों के बावजूद हुमायूँ अपनी सेना को बनारस के निकट चौसा तक बिना किसी नुक़सान के लाने में सफल हुआ। यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी, जिसका श्रेय हुमायूँ को मिलना चाहिए। इसी बीच कामरान हिन्दाल का विद्रोह कुचलने के लिए लाहौर से आगरा की ओर बढ़ आया था। कामरान हालाँकि बाग़ी नहीं हुआ था, लेकिन फिर भी उसने हुमायूँ को कुमुक नहीं भेजी। इससे शक्ति-सन्तुलन का पलड़ा मुग़लों की ओर झुक सकता था।

इन हताशाओं के बावजूद हुमायूँ को शेरखाँ के विरुद्ध अपनी सफलता पर विश्वास था। वह इस बात को भूल गया कि उसका सामना उस अफ़ग़ान सेना से है, जो एक साल पहले की सेना से एकदम अलग थी। उसने सर्वश्रेष्ठ अफ़ग़ान सेनापति के नेतृत्व में लड़ाईयों का अनुभव और आत्म-विश्वास प्राप्त किया था। शेरखाँ की ओर से शांति के एक प्रस्ताव से धोखा खा कर हुमायूँ कर्मनाशा नदी के पूर्वी किनारे पर आ गया और इस प्रकार उसने वहाँ उपस्थित अफ़ग़ान घुड़सवारों को पूरा मौक़ा दे दिया। हुमायूँ ने न केवल निम्न कोटि की राजनीतिक समझ का परिचय दिया वरन् निम्न कोटि के सेनापतित्व का भी परिचय दिया। उसने ग़लत मैदान चुना और शेरखाँ को अपनी असावधानी से मौक़ा दिया।

हुमायूँ एक भिश्ती की मदद से नदी तैर कर बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा सका। शेरखाँ के हाथ बहुत-सी सम्पत्ति आई। लगभग 7000 मुग़ल सैनिक और बड़े सरदार मारे गये।

चौसा की पराजय (मार्च 1539) के बाद केवल तैमूरी राजकुमारों और सरदारों में पूर्ण एकता ही मुग़लों को बचा सकती थी। कामरान की 10000 सैनिकों की लड़ाका फ़ौज आगरा में उपस्थित थी। लेकिन वह इसकी सेवाएँ हुमायूँ को अर्पित करने को तैयार नहीं था क्योंकि हुमायूँ के नेतृत्व में उसका विश्वास नहीं रहा था। दूसरी ओर हुमायूँ भी सेनाओं को कामरान के सेनापतित्व में छोड़ने को तैयार नहीं था क्योंकि उसे भय था कि कहीं वह स्वयं सत्ता हथियाने में उनका प्रयोग न कर ले। दोनों भाईयों में शक बढ़ता रहा। अन्ततः कामरान ने अपनी सेना सहित लाहौर लौटने का निर्णय कर लिया।

जल्दबाज़ी में इकट्ठी की गई हुमायूँ की सेना शेरखाँ के मुक़ाबले में कमज़ोर थी, लेकिन क़न्नौज की लड़ाई (मई 1540) भयंकर थी। हुमायूँ के दोनों छोटे भाई असकारी और हिन्दाल वीरतापूर्वक लड़े, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली।

क़न्नौज की लड़ाई ने शेरखाँ और मुग़लों के बीच निर्णय कर दिया। हुमायूँ अब राज्यविहीन राजकुमार था क्योंकि काबुल और क़न्धार कामरान के पास ही रहे। वह अगले ढाई वर्ष तक सिन्ध और उसके पड़ोसी राज्यों में घूमता रहा, और साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए योजनाएँ बनाता रहा लेकिन न तो सिंध का शासक ही इस कार्य में उसकी मदद करने को तैयार था और न ही मारवाड़ का शक्तिशाली शासक मालदेव। उसकी स्थिति और भी बुरी हो गई। उसके अपने भाई ही उसके विरुद्ध हो गये और उन्होंने उसे मरवा डालने या क़ैद करने के प्रयत्न भी किए। हुमायूँ ने इन सब परीक्षाओं और कठिनाईयों का सामना धैर्य और साहस से किया। इसी काल में हुमायूँ के चरित्र की दृढ़ता का पूरा प्रदर्शन हुआ। अन्ततः हुमायूँ ने ईरानी शासक के दरबार में शरण ली और 1545 में उसी की सहायता से काबुल और क़न्धार

को फिर से जीत लिया।

यह स्पष्ट है कि शेरखाँ के विरुद्ध हुमायूँ की असफलता का सबसे बड़ा कारण उसके द्वारा अफ़ग़ान शक्ति को समझ पाने की असमर्थता थी। उत्तर-भारत में अनेकानेक अफ़ग़ान जातियों के फैले रहने के कारण वे कभी भी किसी योग्य नेता के नेतृत्व में एकत्र होकर चुनौती दे सकती थी। स्थानीय शासकों और ज़मींदारों को अपनी ओर मिलाये बिना मुग़ल संख्या में अफ़ग़ानों से कम ही रहते। प्रारम्भ में हुमायूँ के प्रति उसके भाई पूरी तरह वफ़ादार रहे। उनके बीच वास्तविक मतभेद शेरखाँ की विजयों के बाद ही पैदा हुआ। कुछ इतिहासकारों ने हुमायूँ के अपने भाइयों के साथ मतभेदों और उसके चरित्र पर लगाये गये आक्षेपों को अनुचित रूप से बढ़ा-चढ़ा कर कहा है। बाबर की भाँति ओजपूर्ण न होते हुए भी हुमायूँ ने अविवेक से आयोजित बंगाल अभियान से पूर्व स्वयं को एक अच्छा सेनापति और राजनीतिक सिद्ध किया था। शेरखाँ के साथ हुई दोनों लड़ाइयों में भी उसने अपने आप को बेहतर सेनापति सिद्ध किया।

हुमायूँ का जीवन रोमांचक था। वह समृद्धि से कंगाल हुआ और फिर कंगाली से समृद्ध हुआ। 1555 में सूर साम्राज्य के विघटन के बाद वह दिल्ली पर फिर से अधिकार करने में सफल हुआ। लेकिन वह विजय के फल का आनन्द उठाने के लिए अधिक समय जीवित नहीं रहा। वह दिल्ली में अपने क़िले के पुस्तकालय की इमारत की पहली मंज़िल से गिर जाने के कारण मर गया। उसकी प्रिय बेगम ने क़िले के निकट ही उसकी याद में बहुत सुन्दर मक़बरा बनवाया। यह इमारत उत्तर-भारत के स्थापत्य में नयी शैली का सूत्रपात है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता संगमरमर का बना गुम्बद है।

दिल्ली में हुमायूँ का मक़बरा

शेरशाह और सूर साम्राज्य (1540-55)

शेरशाह 67 वर्ष की वृद्धावस्था में दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसके प्रारंभिक जीवन पर विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उसका वास्तविक नाम फ़रीद था और उसका पिता जौनपुर में एक छोटा ज़मींदार था। फ़रीद ने पिता की जागीर की देखभाल करते हुए काफ़ी प्रशासनिक अनुभव प्राप्त किया। इब्राहीम लोदी की मृत्यु और अफ़ग़ान मामलों में हलचल मच जाने पर वह एक शक्तिशाली अफ़ग़ान सरदार के रूप में उभरा। 'शेरखाँ' की उपाधि उसे उसके संरक्षक ने एक शेर मारने पर दी थी। जल्दी ही शेरखाँ बिहार के शासक का दाहिना हाथ बन गया। वह वास्तव में बिहार का बेताज बादशाह था। यह सब बाबर की मृत्यु से पहले घटित हुआ था। इस प्रकार शेरखाँ ने अचानक ही महत्व प्राप्त कर लिया था।

शासक के रूप में शेरशाह ने मुहम्मद बिन तुग़लक़ के समय के बाद स्थापित सशक्ततम साम्राज्य पर राज किया। उसका राज्य सिन्धु नदी से कश्मीर सहित बंगाल तक फैला हुआ था। पश्चिम में उसने मालवा और लगभग सारा राजस्थान जीता। उस समय मालवा कमज़ोर और बिखरा हुआ था अत. विरोध कर पाने की स्थिति में नहीं था। लेकिन राजस्थान में स्थिति भिन्न थी। मालदेव ने, जो

1532 में गद्दी पर बैठा था, सारे पश्चिम और उत्तर राजस्थान को अपने अधिकार में कर लिया था। शेरशाह और हुमायूँ के बीच संघर्ष के समय उसने अपनी सीमाओं का और भी विस्तार कर लिया था जैसलमेर के भट्टियों की मदद से उसने अजमेर को भी जीत लिया। इन विजयों के दौर में मेवाड़ सहित इस क्षेत्र के शासकों से उसका संघर्ष हुआ। उसका अन्तिम कार्य बीकानेर की विजय था। लड़ाई में बीकानेर का शासक वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारा गया। उसके लड़के कल्याण दास और भीम शेरशाह की शरण में पहुँचे। कई अन्य लोग भी शेरशाह के दरबार में पहुँचे। इनमें मालदेव के सम्बन्धी मेड़ता के बीरम देव भी थे, जिन्हें उसने जागीर से बेदखल कर दिया था।

इस प्रकार वही स्थिति उत्पन्न हो गई, जो बाबर और राणा साँगा के समक्ष थी। मालदेव द्वारा राजस्थान में एक केन्द्रीय शासन की स्थापना के प्रयत्न को दिल्ली और आगरा के सुल्तान एक खतरा मानते, ऐसा अवश्यम्भावी था। ऐसा विश्वास था कि मालदेव के पास 50,000 सिपाही थे लेकिन, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मालदेव की नज़र दिल्ली या आगरा पर थी। पूर्व संघर्षों की भाँति इस बार भी दोनों पक्षों के बीच संघर्ष का कारण सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र पूर्वी राजस्थान पर आधिपत्य था।

1544 में अजमेर और जोधपुर के बीच सेमल नामक स्थान पर राजपूत और अफ़ग़ान फ़ौजों के बीच संघर्ष हुआ। राजस्थान में आगे बढ़ते हुए शेरशाह ने बहुत ही सावधानी से काम लिया। वह प्रत्येक पड़ाव पर आकस्मिक आक्रमणों से बचने के लिए खाई खोद लेता था। यह स्पष्ट है कि राणा साँगा और बाबर के मध्य हुई भयंकर परिणामों वाली लड़ाई के बाद राजपूतों ने भी बहुत-सी सैनिक पद्धतियों को सीख लिया था। उन्होंने दृढ़ता से सुरक्षित शेरशाह के पड़ावों पर आक्रमण करना मंजूर नहीं किया। एक महीना इन्तज़ार करने के बाद मालदेव अचानक ही जोधपुर की ओर लौट गया। तत्कालीन लेखकों के अनुसार ऐसा शेरशाह की सैनिक चतुरता से ही हुआ था। उसने उस क्षेत्र के राजपूत सेनापतियों को कुछ पत्र लिखे थे ताकि मालदेव के मन में उनकी स्वामिभक्ति के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाए। चाल काम आई। मालदेव को अपनी ग़लती जब पता चली तब तक बहुत देर हो चुकी थी। कुछ राजपूत सरदारों ने पीछे लौटने से इन्कार कर दिया। उन्होंने 10,000 सैनिकों की छोटी-सी सेना लेकर शेरशाह की सेना के केन्द्रीय भाग पर आक्रमण कर दिया और उसमें भगदड़ मचा दी। लेकिन शेरशाह शान्त रहा। जल्दी ही बेहतर अफ़ग़ान तोपख़ाने ने राजपूतों के आक्रमण को रोक दिया। राजपूत घिर गए लेकिन आखिरी दम तक लड़ते रहे। उनके साथ बहुत-से अफ़ग़ान सैनिक भी मारे गये।

सेमल की लड़ाई ने राजस्थान के भाग्य की कुंजी घुमा दी। इसके बाद शेरशाह ने अजमेर और जोधपुर पर घेरा डाल दिया और उन्हें जीत कर मालदेव को राजस्थान की ओर खदेड़ दिया। फिर वह मेवाड़ की ओर घूमा। राणा मुक़ाबला करने की स्थिति में नहीं था। उसने चित्तौड़ के क़िले की चाबियाँ शेरशाह के पास भिजवा दीं। शेरशाह ने माउंट आबू पर अपनी चौकी स्थापित कर दी।

इस प्रकार दस महीने की छोटी-सी अवधि में ही शेरशाह ने लगभग सारे राजस्थान को जीत लिया। उसका अन्तिम अभियान कालिंजर के क़िले के विरुद्ध था। यह क़िला बहुत मजबूत था और बुन्देलखण्ड का द्वार था। घेरे के दौरान एक तोप फट गई, जिससे शेरशाह गम्भीर रूप से घायल हो गया। वह क़िले पर फ़तह का समाचार सुनने के बाद मौत की नींद सो गया।

शेरशाह के बाद उसका दूसरा पुत्र इस्लामशाह गद्दी पर बैठा और उसने 1553 तक राज किया। इस्लामशाह एक योग्य शासक और सेनापति था, लेकिन उसकी अधिकांश शक्ति अपने भाईयों और उसके साथ कई अफ़ग़ान सरदारों के विद्रोहों को कुचलने में ख़र्च हो गई। इसके और हमेशा से बने हुए मुग़लों के फिर से आक्रमण करने के ख़तरे के कारण इस्लामशाह अपने साम्राज्य का विस्तार नहीं कर सका। युवावस्था में ही उसकी मृत्यु हो जाने के कारण उसके उत्तराधिकारियों में गृह-युद्ध छिड़ गया। इससे हुमायूँ को भारत के साम्राज्य को पुन: प्राप्त करने का अवसर मिल गया, जिसकी वह प्रतीक्षा कर रहा था। 1555 की दो ज़बरदस्त लड़ाईयों में उसने अफ़ग़ानों को पराजित कर दिया और दिल्ली तथा आगरा को फिर से जीत लिया।

सूर साम्राज्य को अनेक प्रकार से दिल्ली सल्तनत की निरन्तरता और परिणाम समझा जाना चाहिए, जबकि

बाबर और हुमायूँ का आगमन एक अन्तराल है। शेरशाह के मुख्य योगदानों में से एक यह है कि उसने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में क़ानून और व्यवस्था को फिर से स्थापित किया। वह चोरों, डाकुओं और उन जमींदारों से सख़्ती से पेश आया, जो भू-राजस्व देने से या सरकार के आदेश मानने से इन्कार करते थे। शेरशाह का इतिहासकार अब्बासख़ाँ सरवानी कहता है कि ज़मींदार इतना डर गये थे कि कोई उसके ख़िलाफ़ विद्रोह का झंडा उठाना नहीं चाहता था, और न किसी की यह हिम्मत पड़ती थी कि अपनी जागीर से गुज़रने वाले राहगीरों को परेशान करे।

शेरशाह ने व्यापार की उन्नति और आवागमन के साधनों के सुधार की ओर बहुत ध्यान दिया। शेरशाह ने पुरानी शाही सड़क, जिसे ग्रांड ट्रंक रोड कहा जाता है, जो सिंधु नदी से बंगाल के सोनार गाँव तक है फिर से खोला। उसने आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक की सड़क का निर्माण करवाया और उसे गुजरात के बन्दरगाहों से जुड़ी सड़कों से मिलाया। उसने लाहौर से मुल्तान तक तीसरी सड़क का निर्माण करवाया। मुल्तान उस समय पश्चिम और मध्य एशिया की ओर जाने वाले कारवानों का प्रारंभिक बिन्दु था। यात्रियों की सुविधा के लिए शेरशाह ने इन सड़कों पर प्रत्येक दो कोस (लगभग आठ किलोमीटर) पर सरायों का निर्माण करवाया। सराय में यात्रियों के रहने-खाने तथा सामान सुरक्षित रखने की व्यवस्था होती थी। इन सरायों में हिन्दुओं और मुसलमानों के रहने के लिए अलग-अलग व्यवस्था होती थी। हिन्दू यात्रियों को भोजन और बिस्तर देने के लिए और उनके घोड़ों को दाना देने के लिए ब्राह्मणों की नियुक्ति होती थी। अब्बासख़ाँ कहता है किइन सरायों में यह नियम था कि वहाँ जो भी आता था उसे सरकार की ओर से उसके पद के अनुसार भोजन और उसके जानवरों को दाना-पानी मिलता था। इन सरायों के आसपास गाँव बसाने का प्रयत्न किया गया और कुछ ज़मीन सरायों का खर्च पूरा करने के लिए अलग कर दी गई। प्रत्येक सराय में एक शहना (सुरक्षा अधिकारी) के अधीन कुछ चौकीदार होते थे।

कहा जाता है कि शेरशाह ने कुल 1700 सरायों का निर्माण करवाया। इनमें से कुछ अब भी खड़ी हैं, जिससे पता चलता है कि वे कितनी मज़बूत बनायी गई थीं। उसकी सड़कों और सरायों को 'साम्राज्य की धमनियाँ' कहा जाता है। उनसे देश में व्यापार की उन्नति में सहायता मिली। बहुत-सी सरायों के आसपास क़स्बे बन गये, जहाँ किसान अपनी उपज बेचने के लिए आते थे। सरायों को डाक-चौकियों के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता था। डाक-चौकियों की व्यवस्था के विषय में एक पूर्वअध्याय में चर्चा की जा चुकी है। इनके माध्यम से शेरशाह को विशाल साम्राज्य की घटनाओं की जानकारी मिलती रहती थी।

शेरशाह ने अपने गवर्नरों और आमिलों को इस बात का आदेश दिया कि वे लोगों को यात्रियों और व्यापारियों से अच्छा व्यवहार करने और उन्हें किसी भी तरह की हानि न पहुँचाने के लिए विवश करें। अगर किसी व्यापारी की मृत्यु हो जाती थी, तो उसके सामान को लावारिस मान कर ज़ब्त नहीं किया जा सकता था। शेरशाह ने उन्हें शेख़ निज़ामी का सूत्र दिया था कि "यदि तुम्हारे देश में किसी व्यापारी की मृत्यु होती है, तो उसकी सम्पत्ति को हाथ लगाना विश्वासघात होगा।" किसी व्यापारी को यदि मार्ग में कोई नुक़सान होता था, तो शेरशाह गाँव के मुखिया (मुक़द्दम) या ज़मींदार को उत्तरदायी ठहराता था। व्यापारियों के सामान चोरी हो जाने पर मुक़द्दम या ज़मींदार को चोरों या लुटेरों के अड्डों का पता बताना पड़ता था, उसमें असफल रहने पर स्वयं वह सज़ा भुगतनी पड़ती थी जो चोरों या लुटेरों को मिल सकती थी। मार्गों पर हत्या की वारदात हो जाने पर भी यही क़ानून लागू होता था। अपराधी के स्थान पर निरपराध को उत्तरदायी ठहराना बर्बर क़ानून अवश्य था, लेकिन लगता है कि इसका काफ़ी प्रभाव पड़ा। अब्बास सरवानी की चित्रमय भाषा में "एक जर्जर बूढ़ी औरत भी अपने सिर पर ज़ेवरात की टोकरी रख कर यात्रा पर जा सकती थी, और शेरशाह की सज़ा के डर के कारण कोई चोर या लुटेरा उसके नज़दीक नहीं जा सकता था।"

शेरशाह के मुद्रा सुधारों से भी व्यापार और शिल्पों की उन्नति में सहायता मिली। उसने खोट मिले मिश्रित धातुओं के सिक्कों के स्थान पर सोने, चाँदी और ताँबे के बढ़िया मानक सिक्के ढलवाये। उसका चाँदी का रुपया इतना प्रामाणिक था कि वह शताब्दियों बाद तक मानक

सिक्के के रूप में प्रचलित रहा। मानक बाटों और मापों को सम्पूर्ण साम्राज्य में लागू करने का उसका प्रयत्न भी व्यापार में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

शेरशाह ने सल्तनतकाल से चली आ रही प्रशासकीय इकाईयों में कोई परिवर्तन नहीं किया। परगना के अन्तर्गत कुछ गाँव होते थे। परगना एक शिकदार के अधीन होता था। शिकदार का काम क़ानून और व्यवस्था तथा सामान्य प्रशासन का कार्य देखना था एवं मुंसिफ़ या आमिल भी उसके अधीन होता था, जो भू-राजस्व इकट्ठा करता था। लेखा फ़ारसी तथा स्थानीय भाषाओं दोनों में रखा जाता था। परगना के ऊपर शिक अथवा सरकार होता था, जिसकी देखभाल शिकदार-ए-शिकदारान और मुंसिफ़-ए-मुंसिफ़ान करते थे। ऐसा लगता है कि अधिकारियों के पद-नाम ही नये थे, अन्यथा पूर्व कालों में भी परगना और सरकार दोनों प्रशासन की इकाइयाँ थे।

कई सरकारों को मिलाकर प्रान्त का निर्माण होता था, परन्तु शेरशाह के समय के प्रान्तीय प्रशासन की पद्धति की कोई विशेष जानकारी नहीं है। ऐसा लगता है कि प्रान्तीय गवर्नर कई क्षेत्रों में बहुत शक्तिशाली थे। बंगाल जैसे क्षेत्रों में वास्तविक अधिकार प्रजातीय-सरदारों (क़बीले के सरदारों) के पास ही होते थे और प्रान्तीय गवर्नर का उन पर ढीला-ढाला अधिकार ही होता था।

वस्तुतः शेरशाह ने सल्तनतकाल से चली आ रही केन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था को ही बनाये रखा। परन्तु, इस विषय में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। शेरशाह वज़ीरों के हाथ में अधिकार देने में विश्वास नहीं रखता था। वह सुबह से देर रात तक राज्य के कार्यों में व्यस्त रहता था और कड़ा परिश्रम करता था। वह प्रजा की हालत जानने के लिए अक्सर देश का भ्रमण करता था। लेकिन कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही परिश्रमी क्यों न हो, भारत जैसे बृहद देश के कामों को अकेला नहीं संभाल सकता था। शेरशाह द्वारा प्रशासन की अति केन्द्रीकृत पद्धति अपना कर अधिकांश अधिकार अपने हाथ में रखने की प्रवृत्ति की कमज़ोरियाँ उसकी मृत्यु के बाद ही उभर कर आईं।

शेरशाह ने भू-राजस्व प्रणाली, सेना और न्याय पर बहुत ध्यान दिया। अपने पिता की जागीर का काम अनेक वर्षों तक संभालने और फिर बिहार के शासन की देखभाल करने के कारण शेरशाह भू-राजस्व प्रणाली के प्रत्येक स्तर के कार्य से भली-भाँति परिचित था। कुछ योग्य प्रशासकों की मदद से उसने सारी प्रणाली को ठीक किया। उपज की मात्रा का अनुमान नहीं लगाया जाता था, न ही उपज को खेतों या खलिहानों में हिस्सों में बाँटा जाता था। दरों की एक प्रणाली (जिसे राय कहा जाता था) निकाली गई, जिसके अन्तर्गत अलग-अलग क़िस्मों पर राज्य के भाग की दर अलग-अलग होती थी। उसके बाद अलग-अलग क्षेत्रों में बाज़ार-भावों के अनुसार उस भाग की क़ीमत तय की जाती थी। राज्य का भाग एक-तिहाई होता था। भूमि को भी उत्तम, मध्यम और निम्न कोटियों में बाँटा जाता था। उनकी औसत उपज का हिसाब लगा कर उसका एक तिहाई भाग राजस्व के रूप में लिया जाता था। यद्यपि वह राज्य कर का भुगतान नक़दी में चाहता था परन्तु यह किसानों पर निर्भर करता था कि वे कर नक़द दें या अनाज के रूप में।

इस प्रकार बोआई करने के बाद किसान को यह पता चल जाता था कि उसे कितना कर देना है। बोआई का क्षेत्रफल, फ़सल की क़िस्म और किसान द्वारा देय कर एक पट्टे पर लिख लिया जाता था और किसान को उसकी सूचना दे दी जाती थी। किसी को किसान से उससे अधिक लेने का अधिकार नहीं था। नाप-जोख करने वाले दलों के सदस्यों का पारिश्रमिक भी निर्धारित होता था। अकाल जैसी प्राकृतिक विपदाओं का मुक़ाबला करने के लिए प्रति बीघा ढाई सेर अनाज अतिरिक्त कर के रूप में लिया जाता था।

शेरशाह किसानों के कल्याण का बहुत ख्याल रखता था। वह कहा करता था कि "किसान निर्दोष है, वे अधिकारियों के आगे झुक जाते हैं, और अगर मैं उन पर जुल्म करूँ तो वे अपने गाँव छोड़ कर चले जायेंगे, देश बर्बाद और वीरान हो जायेगा और दोबारा समृद्ध होने के लिए उसे बहुत लम्बा वक़्त लगेगा।" उस काल में खेती योग्य बहुत भूमि उपलब्ध थी और ज़ुल्म होने पर किसानों द्वारा गाँव छोड़ कर चले जाना एक बहुत बड़ा खतरा था और इस स्थिति के कारण ही शासकों द्वारा किसानों का शोषण करने पर एक अकुंश रहता था।

शेरशाह ने अपने विशाल साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक मज़बूत सेना तैयार की। उसने जातीय मुखियाओं के

नेतृत्व में राज्य की सेवा में निश्चित मात्रा में सैनिक उपलब्ध कराने की पद्धति को समाप्त कर दिया और चरित्र-पुष्टि के आधार पर सैनिकों की सीधी भर्ती शुरू कर दी। हर सैनिक का खाता (चेहरा) दर्ज होता था, उसके घोड़े पर शाही निशान लगा दिया जाता था ताकि घटिया नस्ल के घोड़े से उसे बदला न जा सके। सम्भवत: घोड़ों को दाग़ने की परम्परा शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी से अपनायी जिसने सैनिक-सुधारों के अन्तर्गत इस विधि को शुरू किया था। शेरशाह की अपनी सेना में 1,50,000 पैदल सिपाही, 25,000 घुड़सवार जो धनुषों से लैस होते थे, 5,000 हाथी और एक तोपखाना था। उसने साम्राज्य के विभिन्न भागों में छावनियाँ बनवायीं और प्रत्येक में एक मज़बूत टुकड़ी को तैनात किया।

शेरशाह न्याय पर बहुत बल देता था। वह कहा करता था कि "न्याय सबसे बढ़िया धार्मिक कार्य है, और इसे काफ़िरों और मुसलमानों दोनों के राजा समान रूप से स्वीकार करते हैं।" वह ज़ुल्म करने वालों को कभी क्षमा नहीं करता था चाहे वे बड़े सरदार या अपनी जाति के लोग या निकट सम्बन्धी ही क्यों न हों। क़ानूनी व्यवस्था के लिए विभिन्न स्थानों पर क़ाज़ियों की नियुक्ति की जाती थी, लेकिन पहले की भाँति, गाँव पंचायतें और ज़मींदार भी स्थानीय स्तर पर दीवानी और फ़ौजदारी मुक़दमों की सुनवायी करते थे।

न्याय प्रदान करने के लिए शेरशाह के पुत्र और उत्तराधिकारी इस्लामशाह ने एक और बड़ा क़दम उठाया। इस्लामशाह ने क़ानून को लिखित रूप देकर इस्लामी क़ानून की व्याख्याओं के लिए कुछ विशेष व्यक्तियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। इस्लामशाह ने सरदारों के अधिकारों और विशेषाधिकारों को भी कम करने का प्रयास किया, और उसने सैनिकों को नक़द वेतन देने की परम्परा भी प्रारम्भ की। लेकिन उसकी मृत्यु के साथ ही उसकी अधिकांश व्यवस्थाएँ भी समाप्त हो गईं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शेरशाह का व्यक्तित्व असाधारण था। उस ने पाँच साल के शासन की छोटी-सी अवधि में प्रशासन की सुदृढ़ प्रणाली स्थापित की। वह महान भवन-निर्माता भी था। सेसराम स्थित शेरशाह का मक़बरा, जो उसने अपने जीवन-काल में निर्मित करवाया था, स्थापत्य-कला का एक शानदार नमूना माना जाता है। इसे पूर्वकालीन स्थापत्य शैली और बाद में विकसित स्थापत्य शैली के प्रारंभिक बिन्दु का मिश्रण माना जाता है।

शेरशाह ने दिल्ली के निकट यमुना के किनारे पर एक नया शहर भी बनवाया। इसमें से अब केवल पुराना क़िला और उसके अन्दर बनी एक सुन्दर मस्जिद ही शेष है।

शेरशाह विद्वानों को संरक्षण भी देता था। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' जैसी हिन्दी की कुछ श्रेष्ठ रचनाएँ उसी के शासनकाल में लिखी गईं।

शेरशाह में धार्मिक मदान्धता नहीं थी। उसकी सामाजिक और आर्थिक नीतियाँ इसका प्रमाण हैं। शेरशाह और उसका पुत्र इस्लामशाह में से कोई भी उलमाओं पर निर्भर नहीं रहता था, यद्यपि वे उनका बहुत आदर करते थे। कभी-कभी राजनीतिक कार्यों को न्यायसंगत ठहराने के लिए धार्मिक नारे दिये जाते थे। शपथ पर विश्वास करके मालवा के रायसेन के क़िले से बाहर आने पर पूरनमल और उनके साथियों का धोखे से वध, इसका एक उदाहरण है। उलमाओं ने यह स्पष्टीकरण दिया कि काफ़िरों के साथ विश्वास बनाये रखना ज़रूरी नहीं है, और कहा कि पूरनमल ने मुसलमान स्त्रियों और पुरुषों पर ज़ुल्म किया था। लेकिन शेरशाह ने कोई नयी उदार नीति नहीं शुरू की। हिन्दुओं से जज़िया लिया जाता रहा और उसके सरदारों में लगभग सभी अफ़ग़ान थे।

इस प्रकार सूरों के अधीन राज्य रक्त और जाति पर आधारित अफ़ग़ान संस्था ही रहा। अकबर के उदय के बाद ही इसमें मूलभूत परिवर्तन हुए।

प्रश्न-अभ्यास

1. तैमूर की मृत्यु और बाबर के काबुल पर आधिपत्य क़ायम करने के बीच के काल में मध्य एशिया में हुई राजनीतिक गतिविधियों का वर्णन कीजिए।
2. पानीपत की लड़ाई (1526) के महत्व का विवेचन कीजिए।
3. हुमायूँ और शेरशाह के बीच संघर्ष का वर्णन कीजिए और हुमायूँ की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. शेरशाह के प्रशासनिक सुधारों का वर्णन कीजिए। उसने वाणिज्य और व्यापार को बढ़ावा देने के लिए क्या क़दम उठाए ?

मुग़ल-साम्राज्य का स्थिरीकरण

अकबर का युग

हुमायूँ जब बीकानेर से लौट रहा था तो अमरकोट के राणा ने साहस करके उसे सहारा और सहायता दी। अमरकोट में ही 1542 में मुग़लों में महानतम शासक अकबर का जन्म हुआ। जब हुमायूँ ईरान की ओर भागा तो उसके बच्चे अकबर को उसके चाचा कामरान ने पकड़ लिया। उसने बच्चे का भली-भाँति पालन-पोषण किया। क़न्धार पर हुमायूँ का फिर से अधिकार हो जाने पर अकबर फिर अपने माता-पिता से मिला। हुमायूँ की मृत्यु के समय अकबर पंजाब में कलानौर में था, और अफ़ग़ान द्रोहियों से निपटने में व्यस्थ था। 1556 में कलानौर में ही अकबर की ताजपोशी हुई। उस समय वह तेरह वर्ष और चार महीने का था।

अकबर को कठिन परिस्थितियाँ विरासत में मिलीं। आगरा के पार अफ़ग़ान अभी भी सबल थे और हेमू के नेतृत्व में अन्तिम लड़ाई की तैयारी कर रहे थे। काबुल पर आक्रमण करके घेरा डाला जा चुका था। पराजित अफ़ग़ान सरदार सिकन्दर सूर शिवालिक की पहाड़ियों में घूम रहा था। लेकिन अकबर के उस्ताद और हुमायूँ के स्वामिभक्त और योग्य अधिकारी बैरमखाँ ने परिस्थिति का कुशलता से सामना किया। वह खान-ए-खानाँ की उपाधि धारण करके राज्य का वकील बन गया और उसने मुग़ल सेनाओं का पुनर्गठन किया। हेमू की ओर से ख़तरे को सबसे गम्भीर समझा गया। उस समय चुनार से लेकर बंगाल की सीमा तक का प्रदेश शेरशाह के एक भतीजे आदिलशाह के शासन में था। हेमू ने अपना जीवन इस्लामशाह के राज्यकाल में बाज़ारों के अधीक्षक के रूप में शुरू किया था और आदिलशाह के काल में उसने यकायक उन्नति की थी। उसने बाईस लड़ाईयों में से एक भी नहीं हारी थी। आदिलशाह ने उसे विक्रमजीत की उपाधि प्रदान करके वज़ीर नियुक्त कर लिया था। उसने उसे मुग़लों को खदेड़ने का उत्तरदायित्व सौंप दिया। हेमू ने आगरा पर अधिकार कर लिया और 50,000 घुड़सवार, 500 हाथी और विशाल तोपख़ाना लेकर दिल्ली की ओर चढ़ दौड़ा।

एक संघर्षपूर्ण लड़ाई में हेमू ने मुग़लों को पराजित कर दिया और दिल्ली पर अधिकार कर लिया। लेकिन परिस्थिति का सामना करने के लिए बैरमखाँ ने साहस-पूर्ण क़दम उठाये। उसके इस साहसिक क़दम से मुग़ल सेना में नयी शक्ति का संचार हुआ और उसने हेमू को अपनी स्थिति मज़बूत करने का अवसर दिए बिना दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। हेमू के नेतृत्व में अफ़ग़ान फ़ौज और मुग़लों के बीच पानीपत के मैदान में एक बार फिर लड़ाई

हुई (5 नवम्बर 1556)। मुग़लों की एक टुकड़ी ने हेमू के तोपख़ाने पर पहले अधिकार कर लिया लेकिन पलड़ा हेमू का ही भारी था। लेकिन तभी एक तीर हेमू की गर्दन में लगा और वह बेहोश हो गया। नेतृत्वहीन अफ़ग़ान सेना पराजित हो गई। हेमू को पकड़ कर मार डाला गया। इस प्रकार अकबर को साम्राज्य पुनः लड़ कर लेना पड़ा।

प्रारम्भिक दौर—सरदारों के साथ संघर्ष (1556-67)

बैरमख़ाँ लगभग चार वर्ष तक साम्राज्य का सरग़ना रहा। इस दौरान उसने सरदारों को क़ाबू में रखा। काबुल पर ख़तरा टल गया था और साम्राज्य की सीमा का विस्तार काबुल से पूर्व में स्थित जौनपुर तक और पश्चिम में अजमेर तक हो गया था। ग्वालियर पर भी अधिकार कर लिया गया था और रणथम्भोर और मालवा को जीतने का भी भरसक प्रयास किया गया।

इधर अकबर भी परिपक्व हो रहा था। बैरमख़ाँ ने बहुत से प्रभावशाली व्यक्तियों को नाराज़ कर दिया था। उन्होंने शिकायत की कि बैरमख़ाँ शिया है और वह अपने समर्थकों और शियाओं को उच्च पदों पर नियुक्त कर रहा है तथा पुराने सरदारों की अवहेलना कर रहा है। ये दोषारोपण अपने आप में बहुत गम्भीर नहीं थे लेकिन बैरमख़ाँ बहुत उद्धत हो गया था और इस बात को भूल रहा था कि अकबर बड़ा हो रहा था। छोटी-छोटी बातों पर दोनों में मतभेद हो गया और अकबर को यह अनुभव हुआ कि लम्बे समय तक राज्य कार्य किसी दूसरे के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता।

अकबर ने बहुत होशियारी से काम लिया। वह शिकार के बहाने आगरा से निकला और दिल्ली पहुँच गया। दिल्ली से उसने बैरमख़ाँ को अपदस्थ करते हुए एक फ़रमान जारी किया और सब सरदारों को व्यक्तिगत रूप से अपने सामने हाज़िर होने का आदेश दिया। बैरमख़ाँ ने जब यह महसूस किया कि अकबर सारे अधिकार अपने हाथ में लेना चाहता है, वह इसके लिये तैयार था। लेकिन उसके विरोधी उसे नष्ट करने पर तुले हुए थे। उन्होंने उसे इतना ज़लील किया कि वह विद्रोह करने पर उतारू हो गया। इस विद्रोह के कारण साम्राज्य में छः महीने तक अव्यवस्था रही। अन्ततः बैरमख़ाँ समर्पण करने पर विवश हो गया। अकबर ने विनम्रता से उसका स्वागत किया और उसके सामने दो विकल्प रखे कि या तो वह उसके दरबार में कार्य करता रहे या मक्का चला जाये। बैरमख़ाँ ने मक्का चले जाना बेहतर समझा लेकिन रास्ते में अहमदाबाद के निकट पाटन में एक अफ़ग़ान ने व्यक्तिगत दुश्मनी के कारण उसकी हत्या कर दी। बैरमख़ाँ की पत्नी और छोटे बच्चे को अकबर के पास लाया गया। अकबर ने बैरम की विधवा के साथ जो उसकी रिश्ते में चचेरी बहन लगती थी, विवाह कर लिया और बच्चे को बेटे की तरह पाला। यह बच्चा बाद में अब्दुर रहीम ख़ान-ए-ख़ानाँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और साम्राज्य के महत्वपूर्ण पद और सैनिक पद भी उसके पास रहे। बैरमख़ाँ के साथ अकबर के चरित्र की कुछ विलक्षणताएँ स्पष्ट होती हैं। एक बार रास्ता निर्धारित कर लेने पर वह झुकता नहीं था लेकिन किसी प्रतिद्वन्दी के समर्पण कर देने पर वह उसके प्रति बहुत अधिक दयालु भी हो उठता था।

बैरमख़ाँ के विद्रोह के दौरान सरदारों में बहुत से व्यक्ति और दल राजनीतिक रूप से सक्रिय हो गये थे। इनमें अकबर की धाय माँ महम अनगा और उसके सम्बन्धी भी थे। यद्यपि महम अनगा ने शीघ्र ही सन्यास ले लिया परन्तु उसका पुत्र आधमख़ाँ एक महत्वाकांक्षी नौजवान था। उसे मालवा के विरुद्ध एक अभियान का सेनापति बनाकर भेजा गया था। लेकिन जब उसे अपदस्थ कर दिया गया तो उसने वज़ीर के पद की माँग की और जब उसकी माँग स्वीकार नहीं की गई तो उसने कार्यवाहक वज़ीर को छुरा घौंप दिया। इससे अकबर बहुत क्रोधित हुआ और आधमख़ाँ को क़िले की दीवार से फिंकवा देने का आदेश दे दिया। इस प्रकार आधमख़ाँ 1561 में मर गया। परन्तु अकबर को सम्पूर्ण अधिकार स्थापित करने में बहुत वर्ष लगे। उज़बेकों ने सरदारों में एक अपना शक्तिशाली दल बना लिया था। उनके पास पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और मालवा में महत्वपूर्ण पद थे। यद्यपि उन्होंने उन क्षेत्रों में शक्तिशाली अफ़ग़ान दलों को दबाये रखकर साम्राज्य की बहुत सेवा की परन्तु वे बहुत उद्धत हो गये थे और तरुण शासक की हुकमउदूली करने लगे थे। 1561 और 1567 के बीच उन्होंने कई बार विद्रोह

किये जिससे विवश होकर अकबर को उनके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। प्रत्येक बार अकबर ने उन्हें क्षमा कर दिया लेकिन जब 1565 में उन्होंने फिर विद्रोह किया तो अकबर इतना उत्तेजित हुआ कि उसने निर्णय किया कि जब तक वह उन्हें मिटा नहीं देगा तब तक जौनपुर को राजधानी बनाये रखेगा। इसी बीच मिर्ज़ाओं के विद्रोह ने अकबर को उलझा लिया। मिर्ज़ा अकबर के सम्बन्धी थे और तैमूरवंशी थे। इन्होंने आधुनिक उत्तर प्रदेश के पश्चिम में पड़ने वाले क्षेत्रों में गड़बड़ मचाई। अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम ने काबुल पर अधिकार करके पंजाब की ओर कूच किया और लाहौर पर घेरा डाल दिया। लेकिन उज़बेक विद्रोहियों ने अकबर को औपचारिक रूप से अपना शासक स्वीकार कर लिया।

हेमूं के दिल्ली पर अधिकार करने के बाद अकबर के सामने यह सबसे गम्भीर संकट था। परन्तु अकबर की कुशलता और भाग्य ने उसे विजय दिलायी। वह जौनपुर से लाहौर की ओर बढ़ा जिससे मिर्ज़ा हकीम पीछे हटने पर विवश हो गया। इस बीच मिर्ज़ाओं के विद्रोह को कुचल दिया गया और वे मालवा और गुजरात की ओर भाग गये। अकबर लाहौर से जौनपुर लौटा। वर्षा ऋतु में इलाहाबाद के निकट यमुना पार करके उसने उज़बेक सरदारों के नेतृत्व में विद्रोह करने वालों को आश्चर्यचकित कर दिया और उन्हें पूरी तरह पराजित किया (1567)। उज़बेक नेता लड़ाई में मारे गये और इस प्रकार यह लम्बा विद्रोह समाप्त हुआ। उन सरदारों सहित जो स्वतन्त्रता का सपना देख रहे थे, सभी विद्रोही सरदार पस्त पड़ गये। अब अकबर अपने साम्राज्य के विस्तार की ओर ध्यान देने के लिये मुक्त था।

साम्राज्य का प्रारम्भिक विस्तार (1567-76)

बैरमख़ाँ के संरक्षण में साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार हुआ था। अजमेर के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण विजय थी : मालवा और गढ़-कटंगा। उस समय मालवा पर एक युवा राजकुमार बाज़बहादुर का शासन था। वह संगीत और काव्य में प्रवीण था। बाज़बहादुर और सुन्दरी रूपमती की प्रेम की गाथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। सुन्दर होने के साथ-साथ रूपमती संगीत और काव्य में भी सिद्धहस्त थी। बाज़बहादुर के समय में माँडू संगीत का केन्द्र था। लेकिन बाज़ बहादुर ने सेना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। मालवा के विरुद्ध अभियान का सेनापति अकबर की धाय माँ महम अनगा का पुत्र आधमख़ाँ था। बाज़ बहादुर बुरी तरह पराजित हुआ (1561) और मुग़लों के हाथ रूपमती सहित बहुत क़ीमती सामान हाथ लगा। लेकिन रूपमती ने आधमख़ाँ के हरम में जाने की बजाय आत्महत्या करना उचित समझा। आधमख़ाँ और उसके उत्तराधिकारियों के अविवेक पूर्ण ज़ुल्मों के कारण मुग़लों के विरुद्ध वहाँ प्रतिक्रिया हुई, जिससे बाजबहादुर को पुनः राज्य प्राप्त करने का अवसर मिला।

बैरमख़ाँ के विद्रोह से निपटने के पश्चात् अकबर ने मालवा के विरुद्ध एक और अभियान छेड़ा। बाज़बहादुर को वहाँ से भागना पड़ा। उसने कुछ समय के लिए मेवाड़ के राणा के पास शरण ली। एक के बाद दूसरे इलाक़े में भटकने के बाद बाज़बहादुर अकबर के दरबार में पहुँचा और उसे मनसबदार बना दिया गया। कालांतर में वह दो हज़ारी के मनसब (पद) तक बढ़ा। परम्परा के अनुसार रूपमती की समाधि के निकट उज्जैन में उसकी भी समाधि बनाई गई थी। इस प्रकार मालवा का विस्तृत क्षेत्र मुग़लों के शासन में आ गया।

इसी समय के लगभग मुग़ल सेनाओं ने गढ़-कटंगा पर विजय प्राप्त की। गढ़-कटंगा के राज्य में नर्मदा घाटी और आधुनिक मध्य प्रदेश के उत्तरी इलाक़े सम्मिलित थे। इस राज्य की स्थापना पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमन दास ने की थी।

अमन दास ने रायसेन को जीतने में गुजरात के बहादुरशाह की सहायता की थी और उसे उससे 'संग्राम शाह' की उपाधि प्राप्त हुई थी।

गढ़-कटंगा में कुछ गोंड और राजपूत रियासतें भी थीं। यह गौडों द्वारा स्थापित शक्तिशाली राज्य था। कहा जाता है कि राजा के सेनापतित्व में 20,000 पैदल सिपाही, एक बड़ी संख्या घुड़सवारों की और 1,000 हाथी थे। लेकिन इन संख्याओं की विश्वसनीयता का कोई प्रमाण नहीं है। संग्रामशाह ने अपने एक पुत्र की शादी महोबा के चंदेल शासक की राजकुमारी से करके अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली थी। यह राजकुमारी, जो दुर्गावती के नाम से प्रसिद्ध है, शीघ्र ही विधवा हो गई, लेकिन उसने अपने अव्यस्क पुत्र को गद्दी पर बिठलाया और बड़े साहस

और कुशलता से राज्य किया। वह एक कुशल बंदूक़ची और तीर-अन्दाज़ थी। वह शिकार की शौक़ीन थी। एक तत्कालीन लेखक के अनुसार उसे जब भी आस-पास किसी बाघ के दिखाई देने की सूचना मिलती थी, वह उसका शिकार किए बिना जल भी ग्रहण नहीं करती थी। उसने आसपास के राज्यों से कई लड़ाईयाँ सफलतापूर्वक लड़ीं। बाज़बहादुर से भी उसका युद्ध हुआ। सीमा प्रान्तों के ये संघर्ष मालवा पर मुगलों का अधिकार हो जाने के बाद भी होते रहे। इसी बीच दुर्गावती के सौन्दर्य तथा वहाँ अतुल धन राशि होने की कथाएं इलाहाबाद के मुग़ल गवर्नर आसफ़ख़ाँ तक पहुँचीं। आसफ़ख़ाँ 10,000 सिपाहियों को लेकर बुन्देलखण्ड की ओर से बढ़ा। गढ़ के कुछ अर्द्ध-स्वतन्त्र शासकों ने गोंड का जुआ कंधों से उतार फ़ेंकने का यह अच्छा अवसर देखा। अतः रानी के पास बहुत कम फ़ौज रह गई। ज़ख्मी होने पर भी, वह वीरतापूर्वक लड़ती रही। फिर यह देखकर कि पराजय अवश्यंभावी है और उसे बन्दी बनाया जा सकता है, उसने छुरा मार कर आत्महत्या कर ली। आसफ़ख़ाँ ने तब आधुनिक जबलपुर के पास स्थित उसकी राजधानी चौरागढ़ पर हल्ला बोल दिया। अबुल-फ़ज़ल कहता है कि "इतने हीरे-जवाहरात, सोना, चाँदी और अन्य वस्तुएं हाथ लगीं कि उनके अंश का भी हिसाब लगा पाना मुश्किल है। उस भारी लूट में से आसफ़ख़ाँ ने केवल 200 हाथी दरबार में भेज दिए और शेष अपने पास रख लिया।" रानी की एक छोटी बहन कमलदेवी भी दरबार में भेज दी गई।

जब अकबर ने उज़्बेक सरदारों के विद्रोह का सामना किया, तो उसने आसफ़ख़ाँ को अनधिकृत रूप से अपने पास रखे लूट के माल को लौटाने को विवश किया। अकबर ने गढ़-कटंगा विक्रमशाह के छोटे पुत्र चन्द्रशाह को लौटा दिया, लेकिन मालवा में पड़ने वाले दस क़िलों को अपने पास रख लिया।

अगले दस वर्षों में अकबर ने राजस्थान का अधिकांश भाग अपने साम्राज्य में शामिल किया तथा गुजरात और बंगाल को जीता। राजपूत रियासतों के विरुद्ध अभियान में एक महत्वपूर्ण क़दम चितौड़ का घेरा था। यह दृढ़ क़िला, जिसके इतिहास में अनेक घेरे उस पर पड़ चुके थे, मध्य राजस्थान का प्रवेश-द्वार समझा जाता था। यह आगरा से गुजरात जाने का सबसे छोटा मार्ग था। इससे भी अधिक इसे राजपूती संघर्ष का प्रतीक माना जाता था। अकबर ने यह अनुभव किया कि बिना चित्तौड़ जीते, अन्य राजपूत रियासतें उसका प्रभुत्व स्वीकार नहीं करेंगी। छः महीने के घेरे के बाद चित्तौड़ की पराजय हुई। सामन्तों की सलाह से प्रसिद्ध योद्धाओं जयमल और पट्टा को क़िले का भार सौंपा गया था। राजा उदयसिंह जंगलों में छिप गया। आस-पास के इलाक़ों के बहुत-से किसानों ने क़िले में शरण ले ली थी। उन्होंने भी क़िले की सुरक्षा में काफ़ी योगदान दिया। जब मुग़लों ने क़िले में प्रवेश किया, तो इन किसानों और अनेक योद्धाओं का क़त्ल कर दिया गया। यह पहला और अन्तिम अवसर था जब कि अकबर ने ऐसा क़त्लेआम करवाया। राजपूत योद्धाओं ने मरने से पूर्व यथा-सम्भव मुक़ाबला किया। जयमल और पट्टा की वीरता को देखते हुए अकबर ने आगरा के क़िले के मुख्य द्वार के बाहर हाथी पर सवार इन वीरों की प्रतिमाएँ स्थापित करवाने का आदेश दिया।

चित्तौड़ के बाद राजस्थान के सबसे शक्तिशाली क़िले रणथम्भौर का पतन हुआ। जोधपुर पहले ही जीता जा चुका था। इन विषयों के परिणामस्वरूप बीकानेर और जैसलमेर सहित अनेक राजपूत रियासतों ने अकबर के आगे समर्पण कर दिया। केवल मेवाड़ ही संघर्ष करता रहा।

बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् से गुजरात की स्थिति बहुत ख़राब थी। अपनी उपजाऊ भूमि, उन्नत शिल्प और बाहरी दुनिया के साथ आयात-निर्यात व्यापार का केन्द्र होने के कारण गुजरात महत्वपूर्ण बन चुका था। अकबर ने यह कह कर उस पर अपना अधिकार जमाया कि हुमायूँ उस पर कुछ समय तक राज्य कर चुका था। एक और कारण दिल्ली के निकट मिर्ज़ाओं का विद्रोह में असफल होकर गुजरात में शरण लेना था। अकबर इस बात के लिए तैयार नहीं था कि गुजरात जैसा समृद्ध प्रदेश मुक़ाबले की शक्ति बन जाये। 1572 में अकबर अजमेर के रास्ते से अहमदाबाद की ओर बढ़ा। अहमदा-बाद ने बिना लड़े समर्पण कर दिया। अकबर ने फिर मिर्ज़ाओं की ओर ध्यान दिया, जिन्होंने भड़ौच, बड़ौदा और सूरत पर अधिकार किया हुआ था। खम्बात में अकबर ने पहली बार समुद्र के दर्शन किए और नाव में सैर की। पुर्तगाली व्यापारियों के एक दल ने पहली बार अकबर से

आकर भेंट की। इस समय पुर्तगालियों का भारतीय समुद्रों पर पूर्ण अधिकार था और उनकी आकांक्षा भारत में साम्राज्य स्थापित करने की थी। अकबर की गुजरात-विजय से उनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया।

जब अकबर की सेनाओं ने सूरत पर घेरा डाला हुआ था, तभी अकबर ने राजा मानसिंह और आम्बेर के भगवानदास सहित 200 सैनिकों की छोटी-सी टुकड़ी लेकर माही नदी को पार किया और मिर्ज़ाओं पर आक्रमण कर दिया। कुछ समय के लिए अकबर का जीवन खतरे में पड़ गया, लेकिन उसके आक्रमण की प्रचण्डता से मिर्ज़ाओं के पैर उखड़ गये। परन्तु, जैसे ही अकबर गुजरात से लौटा, वहाँ विद्रोह फूट पड़ा। यह सुनकर अकबर लौट पड़ा। उसने ऊँटों, घोड़ों और गाड़ियों में यात्रा करते हुए नौ दिन में सारा राजस्थान पार किया और ग्यारहवें दिन अहमदाबाद पहुँच गया। यह यात्रा सामान्यतः छः सप्ताहों में पूर्ण हो सकती थी। केवल 3,000 सिपाही ही अकबर के साथ पहुँच पाये। इसी छोटी सी सेना की सहायता से उसने 30 000 सैनिकों की सेना को परास्त किया।

इसके पश्चात् अकबर ने अपना ध्यान बंगाल की ओर लगाया। बंगाल के अफ़ग़ानों ने उड़ीसा को रौंद डाला था और उसके शासक को भी मार डाला था। लेकिन मुग़लों को नाराज़ होने का मौक़ा न देने के लिए अफ़ग़ान शासक ने औपचारिक रूप से स्वयं को सुल्तान घोषित नहीं किया था, और अकबर के नाम का खुत्बा पढ़ता रहा था। अफ़ग़ानों की आन्तरिक लड़ाई और नये शासक दाऊदख़ाँ द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा से अकबर को वह अवसर मिल गया, जिसकी उसे तलाश थी। अकबर अपने साथ एक मज़बूत नौका-बेड़ा लेकर आगे बढ़ा। ऐसा विश्वास किया जाता था कि अफ़ग़ान सुल्तान के पास बहुत बड़ी सेना है, जिसमें 40,000 सुसज्जित घुड़सवार, 1,50,000 पैदल सैनिक, कई हज़ार बन्दूकें और हाथी तथा युद्धक-नावों का विशाल बेड़ा था। यदि अकबर सावधानी से काम न लेता और अफ़ग़ानों के पास बेहतर नेता होता, तो हो सकता है हुमायूँ और शेरशाह की कहानी की ही पुनरावृत्ति होती। अकबर ने पहले पटना पर अधिकार किया और इस प्रकार बिहार में मुग़लों के लिए संचार के साधनों को सुरक्षित कर लिया। उसके बाद उसने एक अनुभवी अधिकारी खान-ए-खानाँ मुनीमखाँ को अभियान का नेता बनाया और स्वयं आगरा लौट गया। मुग़ल सेनाओं ने बंगाल पर आक्रमण किया और काफ़ी संघर्ष के बाद दाऊदखाँ को शान्ति की सन्धि के लिए विवश कर दिया। उसने शीघ्र ही दुबारा विद्रोह किया। यद्यपि बिहार और बंगाल में मुग़लों की स्थिति अभी कमज़ोर थी, तथापि उनकी सेनाएँ अधिक संगठित और बेहतर नेतृत्व वाली थीं। 1576 में बिहार में एक तगड़ी लड़ाई में दाऊदखाँ पराजित हुआ और उसे उसी समय मार डाला गया।

इस प्रकार उत्तर भारत से अन्तिम अफ़ग़ान शासन का पतन हुआ। इसी के साथ अकबर के साम्राज्य विस्तार का पहला दौर भी समाप्त हुआ।

प्रशासन

गुजरात विजय के बाद के दशक में अकबर को साम्राज्य के प्रशासनिक मामलों की ओर ध्यान देने का समय मिला। शेरशाह द्वारा स्थापित पद्धति में इस्लाम शाह की मृत्यु के बाद गड़बड़ हो गई थी। इसलिए अकबर को नये सिरे से कार्य करना था।

अकबर के सामने सबसे बड़ी समस्या भू-राजस्व के प्रशासन की थी। शेरशाह ने ऐसी पद्धति का प्रचलन किया था जिसमें औसत क़ीमतें कृषि-भूमि की नाप करके तय की जाती थीं और यह फ़सल की उत्पाद-औसत पर निर्धारित होती थीं। अकबर ने शेरशाह की पद्धति को ही अपनाया। लेकिन कुछ समय बाद यह अनुभव किया गया कि बाज़ार-भावों को निर्धारित करने में काफ़ी समय लग जाता है, जिससे किसानों को परेशानी होती है और फिर क़ीमतों का निर्धारण शाही दरबार के आस-पास की क़ीमतों पर आधारित होता था जो अक्सर ग्रामीण क्षेत्रों की क़ीमतों से अधिक होती थीं। इससे किसानों को अधिक अंश कर के रूप में देना पड़ता था।

अतः अकबर ने वार्षिक अनुमान की पद्धति को फिर से लागू किया। **क़ानूनगो** जो वंशगत भूमिधर होते थे, तथा अन्य स्थानीय अफ़सरों, जो स्थानीय परिस्थितियों से परिचित होते थे, को वास्तविक उत्पादन, खेती की स्थिति, स्थानीय क़ीमतों, आदि की सूचना उपलब्ध कराने का आदेश दिया जाता था। लेकिन हर क्षेत्र के **क़ानूनगो** बेईमान थे और वे वास्तविक उत्पादन को अक्सर छिपा

जाते थे। इसलिए वार्षिक अनुमान की पद्धति से भी किसानों और राज्य की परेशानियाँ कम नहीं हुईं। गुजरात से लौटने के पश्चात् (1573) अकबर ने भू-राजस्व पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया। समस्त उत्तर भारत में **करोड़ी** पद के अधिकारियों की नियुक्ति हुई। एक करोड़ दाम (रु० 2,50,000) कर के रूप में एकत्र करना उनका उत्तरदायित्व था। वे क़ानूनगो द्वारा बताये गये आँकड़ों की भी जाँच करते थे। वास्तविक उत्पादन, स्थानीय क़ीमतें, उत्पादकता, आदि पर उनकी सूचना के आधार पर, अकबर ने 1580 में **दह-साला** नाम की नयी प्रणाली लागू की। इस प्रणाली के अन्तर्गत अलग-अलग फ़सलों के पिछले दस (दह) वर्ष के उत्पादन और इसी अवधि में उनकी क़ीमतों का औसत निकाला जाता था। इस औसत उपज का एक तिहाई राजस्व होता था। लेकिन राज्य की माँग नगद भुगतान की होती थी। उपज से नक़दी में यह परिवर्तन दस वर्षों की क़ीमतों के औसत पर आधारित होता था। इस प्रकार बीघा में कुल उत्पादन मनों में दिया जाता था और क़ीमतों के औसत के आधार पर कर प्रति बीघा रुपयों में परिवर्तित कर दिया जाता था।

बाद में इस प्रणाली में और सुधार किया गया। इसके लिए न केवल स्थानीय क़ीमतों को आधार बनाया गया बल्कि एक ही तरह के कृषि-उत्पादन वाले परगनों को विभिन्न कर हलक़ों में विभाजित किया गया। इस प्रकार किसान को भू-राजस्व स्थानीय क़ीमत और स्थानीय उत्पादन के अनुसार देना होता था।

इस प्रणाली के कई लाभ थे। जैसे ही किसान द्वारा बोये गये खेत की लोहे के दल्लों से जुड़े बाँसों द्वारा नाप लिया जाता था, किसान और राज्य दोनों को यह पता चल जाता था कि कर की राशि कितनी होगी। यदि सूखा या बाढ़ आदि के कारण फ़सल ख़राब हो जाती थी, तो किसान को राजस्व में छूट मिलती थी। माप और उस पर आधारित कर-निर्धारण की प्रणाली को ज़ाब्ती-प्रणाली कहा जाता था। अकबर ने इस प्रणाली को लाहौर से इलाहाबाद और मालवा तथा गुजरात के क्षेत्रों में लागू किया। दह-साला-प्रणाली **ज़ाब्ती-प्रणाली** का विकास थी।

अकबर के शासनकाल में कर-निर्धारण की अन्य पद्धतियाँ भी अपनायी गईं। सबसे पुरानी और सामान्यतः प्रचलित प्रणाली **बटाई** अथवा **गल्ला बख़्शी** कहलाती थी। इस प्रणाली में ग़ल्ले को किसानों और राज्य में निश्चित अनुपात में बाँट लिया जाता था। उत्पादन को साफ़ करने के पश्चात् या उस समय जब काटने के पश्चात् उसके गठ्ठर बाँध दिए जाते थे अथवा कटाई से पूर्व कभी भी विभाजित कर दिया जाता था। यह प्रणाली काफ़ी सीधी और आसान थी, लेकिन इसके लिए काफ़ी बड़ी संख्या में ईमानदार कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती थी, जिन्हें अनाज के पकते समय और कटाई के समय खेतों में उपस्थित रहना पड़ता था।

कुछ परिस्थितियों में किसानों को **ज़ब्ती** या **बटाई** प्रणाली चुनने की छूट होती थी। उदाहरण के लिए जब खेती नष्ट हो जाती थी, तो किसानों को इस प्रकार की छूट दी जाती थी। बंटाई प्रणाली के अन्तर्गत किसानों को उपज या नगदी में कर-भुगतान की छूट थी, यद्यपि राज्य नगदी में कर लेना बेहतर समझता था। कपास, नील, तेल-बीज, ईख जैसी उपज पर तो नगद ही कर लिया जाता था। इसीलिए इन्हें नगदी-खेती कहा जाता था।

अकबर के शासनकाल में एक तीसरी प्रणाली **नसक** भी काफ़ी प्रचलित थी, लेकिन इसके विषय में निश्चित जानकारी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रणाली किसानों द्वारा पिछले वर्षों में किए गए भुगतान के आधार पर कच्चे अनुमान पर आधारित थी। इस विषय में कतिपय आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि यह कर-निर्धारण के स्थान पर कृषि-कर का लेखा-जोखा करने की प्रणाली थी। अन्य विद्वानों का मत यह है कि यह प्रणाली खेती के निरीक्षण और पिछले अनुभवों पर आधारित अनुमित कर-निर्धारण की प्रणाली थी, जो गाँव को सामूहिक रूप से भुगतान करना होता था। कर-निर्धारण की इस कच्ची प्रणाली को **कंकूत** भी कहा जाता था। कर-निर्धारण की कई अन्य प्रणालियाँ भी अलग-अलग क्षेत्रों में प्रचलित रहीं।

भू-राजस्व निर्धारित करते समय बोआई की निस्तरता का भी ध्यान रखा जाता था। जिस ज़मीन पर हर साल बोआई होती थी, उसे **पोलज** कहा जाता था। जब उस पर बोआई नहीं होती थी, तो उसे परती कहा जाता था। **परती** ज़मीन की बोआई होने पर कर की पूरी दर (पोलज) देनी पड़ती थी। जब ज़मीन दो-तीन साल तक बिन बोई रहती थी, तो उसे **चचार** कहा जाता था,

और उससे अधिक समय तक बिन बोई रहने पर वह **बंजर** कहलाती थी। इस ज़मीन पर कर रियायती दरों पर लगाया जाता था, या उस पर पाँचवें या आठवें साल पोलज दर लगाई जाती थी। इस प्रकार राज्य खाली पड़ी ज़मीन पर खेती करने को प्रोत्साहित करता था। ज़मीन को उपज के आधार पर वर्गीकृत भी किया जाता था, लेकिन यह कर-निर्धारण की पद्धति आदि पर भी निर्भर करता था।

अकबर खेती के विस्तार और आधार में बहुत रुचि लेता था। वह आमिलों को किसानों से पितावत व्यवहार करने को कहता था। आवश्यकता पड़ने पर वह किसानों को बीज, औज़ारों, पशुओं आदि के लिए **तक़ावी** ऋण भी देता था। इन ऋणों को आसान किश्तों में वापस लिया जाता था। यह किसानों को अधिक से अधिक ज़मीन पर जुताई करने और घटिया फ़सलों के स्थान पर बढ़िया फ़सलों को उगाने के लिए प्रोत्साहन देने हेतु किया जाता था। इसके लिए उस क्षेत्र के ज़मींदारों को भी सहायता करने के लिए कहा जाता था। ज़मींदारों को पैदावार का कुछ अंश स्वयं लेने का वंशगत अधिकार प्राप्त था। किसानों को भी जुताई-बुआई का अधिकार वंशगत था, और वे जब तक कर देते रहते थे, उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता था।

दह-साला प्रणाली में दस सालों के लिए एक ही दर के कर निर्धारित नहीं किये जाते थे। यह स्थायी भी नहीं होती थी। परन्तु, फिर भी अकबर की प्रणाली कुछ परिवर्तनों के साथ सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक मुग़ल-साम्राज्य की नीति रही। ज़ाब्ती-प्रणाली का श्रेय राजा टोडरमल को जाता है, और इसे राजा टोडरमल का बन्दोबस्त भी कहा जाता है। टोडरमल एक योग्य राजस्व अधिकारी था, जो पहले शेरशाह के अधीन कार्य करता था। लेकिन वह अकबर के शासनकाल के योग्य राजस्व-अधिकारियों में से एक था।

अकबर बिना सुदृढ़ सेना के न तो साम्राज्य का विस्तार कर सकता था, और न ही उस पर अपना अधिकार बनाये रख सकता था। इसके लिए अकबर को अपने सैनिक-अधिकारियों और सिपाहियों को सुगठित करना था। अकबर ने इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति मनसबदारी प्रणाली से की। इस प्रणाली में प्रत्येक सरदार और दूसरे अफ़सरों को एक पद (मनसब) दिया गया। निम्नतम पद 10 सिपाहियों के ऊपर था और सरदारों के लिए उच्चतम पद 5,000 सिपाहियों पर था। अकबर के शासनकाल के अन्त में इसको 7,000 सिपाहियों तक बढ़ा दिया गया था। रक्त से सम्बद्ध राजकुमारों को बड़े मनसब दिए जाते थे। इन पदों को दो वर्गों—**ज़ात** और **सवार** में विभाजित किया गया। ज़ात का अर्थ है व्यक्तिगत। इससे व्यक्ति का पद-स्थान तथा वेतन निर्धारित होता था। सवार का अर्थ घुड़-सवारों की संख्या, जो मनसबदार अपने अधीन रखता था। जिस व्यक्ति को अपने ज़ात-पद के अनुपात में सवार रखने का अधिकार होता था, वह प्रथम श्रेणी में आता था, यदि सवारों की संख्या आधी या आधी से अधिक होती थी, तो वह दूसरी श्रेणी में आता था, और उससे नीचे तीसरी श्रेणी होती थी। इस प्रकार प्रत्येक पद (मनसब) में तीन श्रेणियाँ होती थीं। जो अपने पास बड़ी संख्या में सवार रखते थे, उन्हें ज़ात वेतन के ऊपर दो रुपये प्रति सवार का अतिरिक्त वेतन मिलता था परन्तु कोई भी अपने ज़ात-पद से अधिक सवार नहीं रख सकता था। हालाँकि इस व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे, पर जब तक साम्राज्य रहा मूल संरचना यही रही।

अपने व्यक्तिगत वेतन में से ही मनसबदार को हाथी, ऊँट, खच्चर और गाड़ियाँ रखनी पड़ती थीं। ये सेना के यातायात के लिए आवश्यक थे। मुग़ल मनसबदारों को बहुत अच्छा वेतन मिलता था। सम्भवतः उनके वेतन उस समय संसार में सबसे अधिक थे। जिस मनसबदार के पास 100 ज़ात का मनसब होता था, उसे 500 रुपये वेतन मिलता था। 1,000 ज़ात का मनसब होने पर वेतन की राशि 4,400 रुपये होती थी, जबकि 5,000 ज़ात का मनसब होने पर यह राशि बढ़कर 30,000 रुपये हो जाती थी। उस काल में कोई आयकर नहीं होता था। उस समय रुपये की क्रय-शक्ति 1966 के अनुपात में 60 गुणा थी। यद्यपि मनसबदारों को अपने वेतन का आधा अंश पशु इत्यादि रखने में और अपनी जागीर की व्यवस्था पर व्यय करना पड़ता था, फिर भी वे शानोशौकत का जीवन व्यतीत करते थे।

इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि भर्ती किए जाने वाले सवार अनुभवी और कुशल हों। इस कार्य के लिए प्रत्येक सवार का खाता (चेहरा) रखा जाता था और घोड़ों पर शाही निशान लगाया जाता था। इसे

दाग़ना कहा जाता था। प्रत्येक मनसबदार को समय-समय पर अपने सैनिकों को शहनशाह द्वारा नियुक्त समिति के सामने निरीक्षण के लिए लाना पड़ता था। घोड़ों का निरीक्षण बहुत ध्यान से किया जाता था और केवल अरबी और इराक़ी नस्ल के घोड़े ही रखे जाते थे। प्रत्येक 10 घुड़सवारों के पीछे मनसबदार को 20 घोड़े रखने पड़ते थे। इसका कारण यह था कि कूच के समय घोड़ों को आराम दिया जाता था और युद्ध के समय नयी कुमुक की आवश्यकता होती थी। एक घोड़े वाला आधा सवार समझा जाता था। जब तक 10 : 20 नियम का पालन किया जाता रहा, मुग़ल घुड़सेना सशक्त रही।

इस बात की भी व्यवस्था थी कि मनसबदारों के दलों में सवार मिश्रित अर्थात् मुग़ल, पठान, हिन्दुस्तानी और राजपूत सभी जातियों के हों। इस प्रकार से अकबर ने जाति और विशिष्टतागत भावना को कमज़ोर करने का प्रयत्न किया। मुग़ल और राजपूत सरदारों को ही इस बात की अनुमति थी कि वे अपनी टुकड़ियों में केवल मुग़ल और राजपूत सवार रखें, किन्तु धीरे-धीरे मिश्रित सवारों की पद्धति सामान्य रूप से अपना ली गई।

घुड़ सवारों के अतिरिक्त सेना में तीरअन्दाज़, बन्दूक़ची, ख़न्दक़ खोदने वाले भी भर्ती किए जाते थे। इनके वेतन अलग-अलग थे। एक सवार का औसत वेतन बीस रुपये प्रति मास था। ईरानी और तुर्की सवारों को कुछ अधिक वेतन मिलता था। पैदल सैनिक को तीन रुपये प्रति माह मिलते थे। सिपाहियों के वेतन को मनसबदार के व्यक्तिगत वेतन में जोड़ दिया जाता था। मनसबदार को जागीर के रूप में वेतन दिया जाता था। कभी-कभी मनसबदारों को वेतन नक़द भी दिया जाता था। अकबर जागीर-प्रथा को पसन्द नहीं करता था, किन्तु वह इसे समाप्त नहीं कर सका क्योंकि इसकी जड़ें बहुत गहरी थीं। क्योंकि जागीर वंशगत अधिकार नहीं होती थी और उससे उस क्षेत्र में विद्यमान अधिकारों में कोई परिवर्तन नहीं होता था, इसलिए जागीर देने का केवल यही अर्थ था कि राज्य को देय भू-राजस्व जागीरदार को दिया जाता था।

अकबर के पास घुड़सवारों की एक बड़ी सेना थी, जो उसके अंग रक्षक का कार्य करती थी। उसके पास बहुत बड़ा अस्तबल था। उसके पास एक टुकड़ी कुलीन घुड़सवारों की भी थी। यह टुकड़ी उन सैनिकों की थी, जो सरदारों से रक्त से सम्बन्धित थे किन्तु जिनके पास इतनी सुविधाएँ नहीं थीं कि अपनी टुकड़ी का निर्माण कर सकें, या इसमें वे लोग थे जिन्होंने अकबर को प्रभावित किया था। उन्हें आठ से दस घोड़े रखने का अधिकार था और उन्हें लगभग 800 रुपये प्रति मास वेतन भी मिलता था। वे केवल शहनशाह के प्रति उत्तरदायी थे और उनकी हाज़िरी भी अलग होती थी। इन सैनिकों की तुलना मध्ययुगीन यूरोप के 'नाइट्स' से की जा सकती है। अकबर को घोड़ों और हाथियों का बहुत शौक था। उसके पास एक वृहद तोपखाना भी था। तोपों में उसकी विशेष रुचि थी। उसने खोली जा सकने वाली तोपों का निर्माण करवाया, जिन्हें हाथी या ऊँट ढो सकते थे। उसके पास घेरे के समय क़िले की दीवारें तोड़ने वाली भारी तोपें भी थीं। इसमें से कुछ तो इतनी भारी थीं कि उन्हें खींचने के लिए 100 या 200 बैल और कई हाथी इस्तेमाल करने पड़ते थे। अकबर जब भी राजधानी से बाहर जाता था, एक मज़बूत तोपखाना उसके साथ चलता था।

इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि अकबर की योजना नौ-सेना का संगठन करने की भी थी। मज़बूत नौ-सेना का अभाव मुग़ल साम्राज्य की हमेशा कमज़ोरी रहा। यदि अकबर को समय मिला होता, तो सम्भवत: वह इस ओर भी ध्यान देता। उसने युद्ध के लिए नावों का एक बेड़ा अवश्य गठित किया था, जिसका प्रयोग उसने पूर्व की ओर किए गए अपने अभियानों में किया। इनमें से कुछ नावें 30 मीटर लम्बी थीं और 350 टन तक बोझ ढो सकती थीं।

प्रशासन का गठन

स्थानीय-प्रशासन में अकबर ने कोई परिवर्तन नहीं किया। परगना और सरकार की स्थिति पहले जैसी रही। सरकार के मुख्य अधिकारी **फ़ौजदार** और **अमालगुज़ार** होते थे। फ़ौजदार का काम न्याय और व्यवस्था बनाए रखना होता था और अमालगुज़ार भू-राजस्व के निर्धारण और कर वसूल करने का कार्य करता था। साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों को **जागीर, खालिसा** और **इनाम** में विभाजित किया गया था। खालिसा क्षेत्रों की आय सीधी शाही ख़ज़ाने में जाती थी। इनाम क्षेत्र पर जो होता था वह

विद्वानों और पीरों आदि को दिया जाता था। जागीर सरदारों, शाही परिवार के सदस्यों और बेगमों को दी जाती थी। अमालगुज़ार का यह उत्तरदायित्व होता था कि प्रत्येक प्रकार की ज़मीन की देखभाल करे ताकि कर-निर्धारण और वसूलने के नियमों का पालन समान रूप से हो सके। केवल स्वायत्ता-प्राप्त राजाओं को यह छूट थी कि वे अपने क्षेत्र में पारंपरिक राजस्व-प्रणाली का पालन करते रहें। अकबर उन्हें भी शाही प्रणाली अपनाने के लिए उत्साहित करता था।

अकबर ने केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रशासन के गठन की ओर बहुत ध्यान दिया। उसके केन्द्रीय शासन का ढाँचा दिल्ली सल्तनत के केन्द्रीय शासन के ढाँचे पर आधारित था, किन्तु विभिन्न विभागों के कार्यों का सावधानी से पुनर्गठन किया गया और कार्य करने के लिए बहुत स्पष्ट नियम बनाये गये। इस प्रकार अकबर ने शासन-प्रणाली को नया रूप प्रदान करके उसमें नयी जान फूँक दी।

मध्य एशियाई और तैमूरी परम्परा में वज़ीर सर्वाधिक शक्तिशाली होता था और उसके अधीन विभिन्न विभागों के सर्वोच्च अधिकारी काम करते थे। वह प्रशासन और शासक के बीच प्रमुख सम्पर्क होता था। धीरे-धीरे सैनिक-विभाग एक अलग विभाग बन गया। न्याय-विभाग हमेशा से ही अलग होता था। इस प्रकार व्यवहार में एक सर्वशक्तिशाली वज़ीर रखने की परम्परा समाप्त हो गई थी। परन्तु वकील होने के नाते बैरमख़ाँ ने सर्वशक्तिशाली वज़ीर के अधिकारों का ही उपभोग किया था।

अकबर ने केन्द्रीय प्रशासन के ढाँचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। उसने विभिन्न विभागों को अलग-अलग अधिकार दिए ताकि एक दूसरे से उनका सन्तुलन बना रहे और एक-दूसरे पर नज़र भी रहे। वकील का पद समाप्त नहीं किया गया, लेकिन उसके सब अधिकार समाप्त कर दिए गए और वह केवल सजावट का पद रह गया। यह पद समय-समय पर बड़े सरदारों को दिया जाता था, किन्तु इस पद पर काम करने वाले व्यक्ति का प्रशासन के मामलों में कोई दखल नहीं होता था। राजस्व-विभाग का प्रमुख वज़ीर ही होता था और अक्सर वह बड़े सरदारों में से ही कोई होता था। कई सरदारों के पास वज़ीर से भी ऊँचे मनसब होते थे। अतः अकबर के काल में वज़ीर शासक का मुख्य सलाहकार नहीं होता था, किन्तु वह राजस्व के मामलों का विशेषज्ञ होता था। इस बात पर बल देने के लिए ही अकबर 'वज़ीर' के स्थान पर दीवान या दीवान-ए-आला नामों का प्रयोग करता था। कभी-कभी एक साथ कई व्यक्तियों को दीवान का कार्य संयुक्त रूप से करने को कहा जाता था। दीवान समस्त आय और व्यय के प्रति उत्तरदायी होता था और खालिसा, जागीर और इनाम ज़मीनों का केन्द्रीय अधिकारी होता था।

सैनिक-विभाग का मुखिया **मीर बख्शी** कहलाता था। सरदारों का प्रमुख मीर बख्शी होता था, न कि दीवान इसलिए प्रमुख सरदारों को ही यह पद दिया जाता था। मनसब के पदों की नियुक्ति और पदोन्नति आदि की सिफ़ारिश शहनशाह के पास मीर बख्शी के माध्यम से ही जाती थी। सिफ़ारिश मन्ज़ूर हो जाने पर पुष्टि के लिए तथा पद पर नियुक्त व्यक्ति को जागीर प्रदान करने के लिए दीवान के पास नाम भेजा जाता था। पदोन्नति के लिए भी यही पद्धति अपनायी जाती थी।

साम्राज्य की गुप्तचर संस्थाओं का प्रमुख भी बख्शी होता था। साम्राज्य के प्रत्येक भाग में गुप्तचर अधिकारी (बारिद) और संदेश लेखक (वाक़या-नवीस) नियुक्त किए जाते थे। उनकी सूचनाएँ मीर बख्शी के माध्यम से दरबार में पहुँचाई जाती थीं।

इससे यह स्पष्ट है कि दीवान और मीर बख्शी समान पदों पर थे और एक-दूसरे के पूरक थे और एक दूसरे के काम पर नज़र रखते थे।

तीसरा महत्वपूर्ण अधिकारी **मीर सामाँ** होता था। वह शाही परिवार के कामों को देखता था, जिसमें हरम के लिए आवश्यक भोजन-सामग्री और अन्य वस्तुओं की आपूर्ति भी सम्मिलित थी। इनमें से बहुत-सी वस्तुओं का उत्पादन शाही कारखानों में होता था। सम्राट के अत्यन्त विश्वसनीय सरदारों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। दरबार की मर्यादा का पालन कराने और शाही अंगरक्षकों का निरीक्षण भी इसी अधिकारी का उत्तरदायित्व था।

चौथा महात्वपूर्ण विभाग न्याय-विभाग था, जिसका प्रमुख अधिकारी प्रधान क़ाज़ी होता था। इस पद को कभी-कभी मुख्य सदर के पद के साथ मिला दिया जाता था। सदर सब कल्याण संस्थाओं और धार्मिक संस्थाओं की

देखभाल करता था। इस पद के साथ बहुत से अधिकार जुड़े होते थे, और इसे पूरा संरक्षण मिलता था। यह विभाग अकबर के प्रधान क़ाज़ी अब्दुलनबी के भ्रष्टाचार और रिश्वतख़ोरी के कारण बदनाम हो गया।

विभिन्न व्यक्तियों को प्रदत्त अनुदानों का सावधानी से अध्ययन करने के बाद अकबर ने जागीर और खालिसा ज़मीन से इनाम की ज़मीन को अलग कर दिया तथा इनाम-ज़मीन के वितरण और प्रशासन के लिए उसने साम्राज्य को छः विभिन्न हलक़ों में विभाजित कर दिया। इनाम की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। पहली यह कि अकबर ने जानबूझ कर यह नीति अपनायी कि इनाम बिना किसी धार्मिक भेदभाव के दिया जाए। अनेक हिन्दू मठों को दिए गए अनुदानों की सनदें अभी भी सुरक्षित हैं। दूसरी विशेषता यह थी कि अकबर ने यह नीति अपनाई कि इनाम में आधी भूमि ऐसी हो जो खाली पड़ी हो, लेकिन कृषि-योग्य हो। इस प्रकार इनाम पाने वालों को खेती के विस्तार के लिए प्रोत्साहित किया गया।

प्रजा से मिलने तथा दीवानों से भेंट करने के लिए अकबर ने अपनी समय-सारिणी बड़ी सावधानी से बनायी। उसका दिन महल के झरोखे पर उपस्थित होकर दर्शन देने से होता था। शहनशाह के दर्शनों के लिए बड़ी संख्या में लोग उपस्थित होते थे, और आवश्यकतानुसार अपनी फ़रियाद कर सकते थे। इन फ़रियादों पर तुरन्त या बाद में दीवन-ए-आम में कार्यवाही होती थी, जो दोपहर तक चलता था। उसके पश्चात् शहनशाह भोजन और आराम के लिए **इनाम घर** में चले जाते थे।

मन्त्रियों के लिए अलग समय निर्धारित होता था। गोपनीय मन्त्रणा के लिए दीवानों को अकबर के गुसलखाने के निकट स्थित एक कक्ष में बुलाया जाता था। धीरे-धीरे गोपनीय मन्त्रणा-कक्ष गुसलखाने के नाम से मशहूर हो गया।

1580 में अकबर ने सम्पूर्ण साम्राज्य को बारह सूबों में विभाजित कर दिया। ये थे—बंगाल, बिहार, इलाहाबाद, अवध, आगरा, दिल्ली, लाहौर, मुल्तान, काबुल, अजमेर, मालवा और गुजरात। प्रत्येक सूबे में एक सूबेदार, एक दीवान, एक बख्शी, एक सदर, एक क़ाज़ी और एक वाक़या-नवीस की नियुक्ति की गई। इस प्रकार नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त पर आधारित सुगठित प्रशासन सूबों में भी लागू किया गया।

राजपूतों के साथ सम्बन्ध

राजपूतों के साथ अकबर के सम्बन्धों को देश के शक्तिशाली राजाओं और जागीरदारों के प्रति मुग़ल-नीति के वृहद पृष्ठभूमि में देखना होगा। जब हुमायूँ हिन्दुस्तान लौटा, तो उसने जानबूझ कर इन तत्वों को अपनी ओर मिलाने की नीति अपनायी। अबुल फ़ज़ल कहता है कि "ज़मींदारों को शान्त करने के लिए उसने उनसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए।" उदाहरण के लिए जब हिन्दुस्तान के "बड़े ज़मींदारों में से एक जमालखाँ मेवाती ने हुमायूँ को समर्पण किया तो हुमायूँ ने उसकी बेटी से स्वयं विवाह किया और छोटी बहन का विवाह बैरमख़ाँ से किया।" बाद में अकबर ने इस नीति को आगे बढ़ाया।

आमेर का शासक भारमल अकबर के राज्य निरीक्षण के एकदम बाद आगरा के दरबार में उपस्थित हुआ था। तरुण शासक पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ा था क्योंकि उस समय एक पागल हाथी के भय से लोग इधर-उधर भाग रहे थे, किन्तु भारमल के सैनिक दृढ़ता से वहाँ खड़े रहे। 1562 में जब अकबर अजमेर जा रहा था तो उसे पता लगा कि स्थानीय मुग़ल गवर्नर भारमल को परेशान कर रहा है। भारमल स्वयं अकबर से मिलने आया और अपनी छोटी बेटी मणि बाई का अकबर से विवाह करके अपनी स्वामीभक्ति को सिद्ध किया।

मुस्लिम शासकों और हिन्दू अधिपतियों की कन्याओं के मध्य विवाह असाधारण बात नहीं थी। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए इस प्रकार के अनेक विवाहों का उल्लेख पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। जोधपुर के शक्तिशाली राजा मालदेव ने अपनी एक लड़की बाई कनका का विवाह गुजरात के सुल्तान महमूद के साथ किया था और दूसरी लड़की लाल बाई का विवाह सूर शासक—सम्भवतः इस्लामशाह सूर—के साथ किया था। इनमें से अधिकांश विवाह सम्बन्धित परिवारों के मध्य स्थायी व्यक्तिगत सम्बन्धों को स्थापित करने में सफल नहीं हुए। विवाह के पश्चात् लड़कियों को अक्सर भुला दिया जाता था और वे वापस नहीं आती थीं। अकबर ने दूसरी नीति अपनायी। उसने अपनी हिन्दू पत्नियों को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दी और उनके पिताओं और सम्बन्धियों

को सरदारों में सम्माननीय पद प्रदान किए। भारमल को काफ़ी ऊँचा पद प्राप्त हुआ। उसका पुत्र भगवानदास पांचहज़ारी मनसब तक पहुँचा और उसका पोता मानसिंह सात हज़ारी तक। अकबर ने यह पद केवल एक और व्यक्ति को प्रदान किया था और वह था अकबर का धाय-भाई अज़ीज़ख़ाँ कूका। अकबर ने कछवाहा शासकों के साथ अपने विशेष सम्बन्धों पर अन्य कारणों से भी बल दिया। राजकुमार धनपाल जब बच्चा था तो उसे भारमल की पत्नियों के पास पलने के लिए भेज दिया गया था। 1572 में जब अकबर ने गुजरात पर चढ़ाई की तो आगरा भारमल के सुपुर्द छोड़ा गया, जहाँ शाही परिवार की सब स्त्रियाँ थीं। यह ऐसा सम्मान था जो या तो शासक के किसी सम्बन्धी को या अत्यन्त विश्वसनीय सरदार को ही दिया जाता था।

परन्तु अकबर ने वैवाहिक सम्बन्धों को शर्त के तौर पर नहीं रखा। रणथम्भौर के हाड़ाओं के साथ अकबर के वैवाहिक सम्बन्ध नहीं थे, फिर भी वे अकबर के कृपा-पात्र थे। राव सुर्जन हाड़ा को गढ़-कटंगा का शासन सौंपा गया था और उसका मनसब 2,000 सवारों का था। इसी प्रकार सिरोही और बाँसवाड़ा के शासकों के साथ भी जिन्होंने बाद में समर्पण किया था।

अकबर की राजपूतों के प्रति नीति उसकी विशाल सहनशीलता की नीति के साथ जुड़ गई। 1564 में उसने जज़िया हटा दिया जिसका प्रयोग कभी-कभी उलमा ग़ैर-मुसलमानों को नीचा दिखाने के लिए किया करते थे। उससे पहले अकबर ने तीर्थ यात्रा-कर भी समाप्त कर दिया था और युद्ध बन्दियों के ज़बर्दस्ती धर्म-परिवर्तन की प्रथा को भी खत्म कर दिया था। चित्तौड़-विजय के पश्चात् अधिकाँश बड़े राजपूत शासकों ने अकबर के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था और उसे वे व्यक्तिगत रूप से सम्मान देते थे। जैसलमेर और बीकानेर के शासकों ने भी अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। केवल मेवाड़ ही ऐसी रियासत थी जिसने मुग़ल प्रभुत्व को मानने से लगातार इन्कार किया।

यद्यपि चित्तौड़ और उसके आस-पास का इलाक़ा मुग़ल-साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया था तथापि उदयपुर और पहाड़ी इलाक़े जो मेवाड़ का अधिकाँश प्रदेश निर्मित करते थे राणा के शासन में रहे। 1572 में राणा प्रताप राणा उदयसिंह की गद्दी पर बैठा। अकबर ने राणा प्रताप को मुग़ल प्रभुत्व स्वीकार कर लेने और दरबार में हाज़िर होने के लिए उसके पास अनेक दूत भेजे। एक बार राणा मानसिंह भी अकबर के दूत बनकर राणा प्रताप के पास गया। राणा ने उनका हार्दिक स्वागत किया। यह कथा कि राणा प्रताप ने राणा मानसिंह का अपमान किया था ऐतिहासिक तथ्य नहीं है और यह राणा की चारित्रिक विशेषताओं से मेल भी नहीं खाती क्योंकि राणा साहसी था और अपने विरोधियों से भी शालीनता से पेश आता था। मानसिंह के पश्चात भगवानदास और फिर राजा टोडरमल राणा के पास गए। ऐसा प्रतीत होता है कि राणा ने एक बार समझौते का निर्णय कर लिया था। उसने अकबर द्वारा भेजी गयी पोशाक धारण की और अपने पुत्र अमरसिंह को भगवानदास के साथ अकबर के दरबार में भेंट देने और सेवाएँ अर्पित करने के लिए भेजा। परन्तु उनमें कोई अंतिम समझौता नहीं हो सका क्योंकि गर्वीला राणा अकबर की इस माँग को मानने के लिए तैयार नहीं था कि वह स्वयं भेंट के लिए उपस्थित हो। ऐसा भी प्रतीत होता है कि मुग़ल चित्तौड़ को अपने अधिकार में रखना चाहते थे और यह भी राणा को मंज़ूर नहीं था।

1576 के प्रारम्भ में अकबर अजमेर की ओर गया और पाँच हज़ार सिपाहियों की सेना के साथ मानसिंह को राणा के विरुद्ध अभियान के लिए भेजा। अकबर की इस योजना का पूर्वाभास करते हुए राणा ने चित्तौड़ तक के प्रदेश को नष्ट भ्रष्ट करवा दिया था ताकि मुग़ल सेनाओं को भोजन और चारा न मिल सके। उसने पहाड़ी दर्रों में नाके बन्दी भी कर ली थी। कुम्भालगढ़ के रास्ते में पड़ने वाली एक पतली भूपट्टी हल्दी घाटी में दोनों पक्षों के बीच भयंकर लड़ाई हुई। कुम्भालगढ़ उस समय राणा की राजधानी था। चुनी हुई राजपूत सेनाओं के साथ हाकिम ख़ाँ सूर के नेतृत्व में एक अफ़ग़ान फ़ौजी टुकड़ी राणा के साथ थी। अतः हल्दी घाटी की लड़ाई हिन्दु और मुसलमानों के बीच अथवा भारतीयों और विदेशियों के बीच का संघर्ष नहीं था। भीलों की एक छोटी-सी सेना भी राणा के साथ थी। भील राणा के मित्र थे। अनुमान किया जाता है कि राणा की सेना में 3,000 सैनिक थे।

राजपूतों और अफ़ग़ानों के आक्रमण ने मुग़ल सेना को तितर-बितर कर दिया। परन्तु अकबर के स्वयं वहाँ पहुँचने की अफ़वाहों को सुनकर मुग़ल सेना फिर एकत्र हो गई। नयी मुग़ल कुमुक के आने से राजपूतों का पलड़ा हल्का पड़ने लगा। यह देखकर राणा वहाँ से बचकर निकल गया। मुग़ल सेना इतनी थक चुकी थी कि उसने राणा का पीछा नहीं किया परन्तु कुछ समय पश्चात वह दर्रे से आगे बढ़ी और गोगुण्डा पर अधिकार कर लिया। गोगुण्डा सैनिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण स्थान था जिसे राणा ने मुग़ल सेना के आने से पहले ही ख़ाली कर दिया था।

यह आख़री अवसर था जबकि राणा और मुग़लों के बीच कड़ा संघर्ष हुआ। इसके बाद राणा ने छापामार युद्ध की नीति अपनाई। हल्दी घाटी की लड़ाई में पराजय से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की राणा की प्रतिज्ञा में कमी नहीं आई परन्तु वह जिस उद्देश्य के लिए लड़ रहा था वह पहले ही समाप्त हो चुका था क्योंकि अधिकांश राजपूत रियासतों ने मुग़ल प्रभुत्ता स्वीकार कर ली थी। राजपूत राजाओं को साम्राज्य की सेना में लेने और उनके साथ मुग़ल सरदारों के समकक्ष व्यवहार करने, प्रजा के प्रति विशाल धार्मिक सहिष्णुता तथा अपने भूतपूर्व विरोधियों के साथ शालीनता का व्यवहार करने की नीति से अकबर ने राजपूत शासकों के साथ अपने सम्बन्धों को दृढ़ किया था। इसीलिए मुग़लों के समक्ष झुकने से राणा के इन्कार का प्रभाव अन्य राजपूत रियासतों पर बहुत कम हुआ जिन्होंने इस बात का आभास पा लिया था कि वर्तमान परिस्थितियाँ छोटी-छोटी रियासतों के लिए सम्पूर्ण स्वतन्त्रता बनाये रखने का प्रयत्न अधिक समय तक सफल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अकबर ने राजपूत राणाओं को पर्याप्त सीमा तक आंतरिक स्वायत्तता प्रदान की। इस प्रकार अकबर के साम्राज्य स्थापित करने में राजपूत राजाओं को अपने स्वार्थों की हानि होने की कोई संभावना नहीं थी।

राणा प्रताप द्वारा अन्य राजपूत रियासतों की सहायता के बिना अकेले ही शक्तिशाली मुग़ल साम्राज्य का विरोध, राजपूती वीरता और सिद्धान्तों के लिए बलिदान देने की गौरव गाथा है। राणा प्रताप ने छापामार युद्ध की पद्धति के साथ भी सफल प्रयोग किया। कालान्तर में दक्षिणी सेनापति मलिक अम्बर और शिवाजी ने छापामार युद्ध पद्धति को विकसित किया।

राणा प्रताप और अकबर का संघर्ष विस्तार में बताने की आवश्यकता नहीं है। कुछ समय तक अकबर राणा प्रताप पर लगातार दबाव डालता रहा। मुग़लों ने मेवाड़ की मित्र और आश्रित रियासतों डुंगरपुर, बाँसवाड़ा, सिरोही, इत्यादि को रौंद डाला। अकबर ने इन रियासतों के साथ पृथक् संधियाँ कीं और इस प्रकार मेवाड़ को और भी अकेला कर दिया। राणा जंगल-जंगल और घाटी-घाटी घूमता रहा। कुम्भालगढ़ और उदयपुर दोनों पर मुग़लों का अधिकार हो गया। राणा को बहुत कठिनाईयाँ झेलनी पड़ीं, परन्तु भीलों की सहायता के कारण वह निरन्तर विरोध करता रहा। 1579 में बिहार और बंगाल में अकबर द्वारा किए गए कुछ सुधारों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ज़बरदस्त विद्रोह हो पाने के कारण राणा पर मुग़ल दबाव कम कर दिया गया। अव्यवस्था के इस दौर में अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम ने अवसर का लाभ उठाने के लिए पंजाब पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार अकबर को गम्भीर आंतरिक ख़तरे का सामना करना पड़ा। 1585 में उत्तर-पश्चिम की गम्भीर हो रही स्थिति का अध्ययन करने के लिए अकबर लाहौर गया। वह बारह वर्ष तक वहाँ रहा। 1585 के बाद राणा प्रताप के विरुद्ध कोई अभियान नहीं छेड़ा गया।

इस स्थिति का फ़ायदा उठाकर राणा प्रताप ने कुम्भालगढ़ और चित्तौड़ के आस-पास के अनेक इलाक़ों सहित बहुत-सा भाग पुन: जीत लिया परन्तु वह चित्तौड़ को पुन: प्राप्त नहीं कर सका। इस दौरान उसने आधुनिक डुंगरपुर के निकट चावँड़ में नई राजधानी स्थापित की। 1597 में 51 वर्ष की आयु में एक सख्त धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाते समय अन्दरुनी चोट लग जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

मेवाड़ के अतिरिक्त मारवाड़ के विरोध का सामना भी अकबर को करना पड़ा। मालदेव की मृत्यु (1562) के पश्चात् उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए विवाद हुआ। मालदेव की सर्वप्रिय रानी से उत्पन्न सबसे छोटा पुत्र चन्द्रसेन गद्दी पर बैठा। मुग़लों के दबाव के कारण उसे रियासत का कुछ भाग अपने बड़े भाइयों को जागीर

के रूप में देना पड़ा। किन्तु चन्द्रसेन को यह व्यवस्था पसन्द नहीं आई और कुछ समय पश्चात् ही उसने विद्रोह कर दिया। अब अकबर ने मारवाड़ को सीधे मुग़ल प्रशासन में ले लिया। इसका एक कारण यह था कि अकबर गुजरात के लिए जोधपुर से होकर जाने वाले रसद-मार्ग को सुरक्षित रखना चाहता था। विजय के पश्चात् अकबर ने जोधपुर में रायसिंह बीकानेरी को नियुक्त कर दिया। चन्द्रसेन ने वीरतापूर्वक मुक़ाबला किया और गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। लेकिन जल्दी ही उसे मेवाड़ में शरण लेनी पड़ी। वहाँ भी मुग़लों ने उसका पीछा नहीं छोड़ा और वह इधर-उधर छिपता रहा। 1581 में उसकी मृत्यु हो गयी। दो वर्ष पश्चात् अकबर ने चन्द्रसेन के बड़े भाई उदयसिंह को जोधपुर भेज दिया। अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए उदयसिंह ने अपनी लड़की जगत गोसाईं या जोधाबाई (जिस नाम से उसे जाना जाता है) का विवाह अकबर के बड़े लड़के सलीम के साथ कर दिया। जगत गोसाईं का डोला नहीं भेजा गया था, जैसा कि इस प्रकार के पहले विवाहों में होता रहा था, बल्कि वर राजा के घर बारात लेकर गया था और विवाह में अनेक हिन्दू रीतियाँ की गईं। यह कार्य अकबर के लाहौर-प्रवास के समय हुआ था।

बीकानेर और बूँदी के शासकों के साथ भी अकबर के नज़दीकी व्यक्तिगत सम्बन्ध थे। इन शासकों ने अनेक अभियानों में वीरतापूर्वक भाग लिया था। 1593 में जब बीकानेर के रायसिंह का दामाद पालकी से गिरने के कारण मर गया तो अकबर स्वयं मातमपुर्सी के लिए उसके घर गया और उसकी लड़की को सती होने से रोका क्योंकि उसके बच्चे बहुत छोटे थे।

अकबर की राजपूत नीति मुग़ल शासन और राजपूतों दोनों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। इस मित्रता ने मुग़ल साम्राज्य की सेवा के लिए भारत के श्रेष्ठतम वीरों की सेवायें उपलब्ध करायीं। साम्राज्य को मज़बूत करने और उसका विस्तार करने में राजपूतों की दृढ़ स्वामी-भक्ति एक महत्त्वपूर्ण कारक सिद्ध हुई। इस मित्रता से राजस्थान में शान्ति बनी रही जिससे राजपूत अपनी रियासतों की सुरक्षा के प्रति निश्चित होकर दूर के इलाक़ों में साम्राज्य की सेवा में लीन रह सकते थे। शाही सेवाओं में सम्मिलित होने के कारण साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण पद राजपूत राजाओं के लिए खुले थे। उदाहरणतय: आमेर के भगवानदास को लाहौर का संयुक्त गवर्नर बनाया गया जबकि उसका पुत्र मानसिंह काबुल में नियुक्त हुआ। कालान्तर में मानसिंह बिहार और बंगाल का गवर्नर बना। अन्य राजपूत राजाओं को आगरा, अजमेर और गुजरात जैसे सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया गया। साम्राज्य के सरदार होने के नाते उन्हें वंशगत राज्यों के साथ-साथ जागीरें भी प्रदान की गयीं जिससे उनकी आय के स्रोतों में वृद्धि हुई।

अकबर की राजपूत नीति का अनुसरण उसके उत्तराधिकारियों जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी किया। जहाँगीर एक राजपूत राजकुमारी का पुत्र था और उसने स्वयं भी एक कछवाहा राजकुमारी और एक जोधपुर की राजकुमारी से विवाह किया। जैसलमेर और बीकानेर की राजकुमारियों के साथ भी उसका विवाह हुआ। जहाँगीर ने इन रियासतों के शासकों को उच्चतम सम्मान दिया।

जहाँगीर की मुख्य उपलब्धि लम्बे समय से चले आ रहे मेवाड़ के झगड़े को समाप्त करना थी। अमरसिंह राणा प्रताप की गद्दी पर बैठ चुका था। अकबर ने अमरसिंह से अपनी शर्तें मनवाने के लिए उसके विरुद्ध अभियान भेजे थे। जहाँगीर को भी दो बार उस पर आक्रमण करने भेजा गया था किन्तु उसे बहुत कम सफलता मिली थी। 1605 में गद्दी पर बैठने के पश्चात् जहाँगीर ने इस विषय में उत्साहपूर्वक कार्य किया। लगातार तीन आक्रमण किये गये किन्तु राणा के साहस को तोड़ा नहीं जा सका। 1613 में जहाँगीर स्वयं अभियान का नेतृत्व करने के लिए अजमेर पहुँचा। राजकुमार खुर्रम (बाद में शाहजहाँ) को एक बड़ी सेना देकर मेवाड़ के पहाड़ी इलाक़ों पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। मुग़ल सेना के भारी दबाव, इलाक़े की वीरानी और खेती के विनाश ने अन्ततः अपना प्रभाव डाला। बहुत से सरदार मुग़लों के पक्ष में हो गए और अनेक दूसरे सरदारों ने समझौते के लिए राणा पर दबाव डाला। राणा के पुत्र करणसिंह जिसे जहाँगीर के दरबार में भेजा गया था, का शानदार स्वागत हुआ। जहाँगीर ने अपनी गद्दी से उठकर उसे अपनी बाँहों में भर लिया और उसे अनेक उपहार दिए। राणा के मान को रखने के लिए जहाँगीर ने उसके स्वयं उपस्थित

होने पर बल नहीं दिया और न ही उसे शाही सेवा में आने को बाध्य किया गया। युवराज करण को पाँचहज़ारी का पद दिया गया। यह पद पहले जोधपुर, बीकानेर और आमेर के राजाओं को दिया गया था। करण सिंह को 1500 सवारों की टुकड़ी के साथ मुग़ल सम्राट की सेवा में रहने को कहा गया। चित्तौड़ सहित मेवाड़ का सारा प्रदेश राणा को लौटा दिया गया। परन्तु चित्तौड़ के सैनिक महत्व को देखते हुए यह समझौता हुआ कि इसकी मरम्मत नहीं करायी जाएगी।

इस प्रकार अकबर द्वारा प्रारम्भ कार्य जहाँगीर ने पूरा किया और राजपूतों के साथ मित्रता को और मज़बूत किया।

विद्रोह तथा मुग़ल-साम्राज्य का और अधिक विस्तार

अकबर द्वारा प्रशासन व्यवस्था में नयी प्रणाली लागू करने का अर्थ था प्रशासन मशीनरी में सुधार लाना, सरदारों पर अधिक नियन्त्रण और सामान्य जनता के अधिक हितों की रक्षा था इसलिए यह बहुत से सरदारों को पसन्द नहीं आई। क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की भावनाएँ अभी भी बहुत से लोगों में विद्यमान थीं। गुजरात, बंगाल और बिहार जैसे स्थानों पर यह और भी अधिक थी, जहाँ स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की लम्बी परम्परा थी। राजस्थान में राणा प्रताप का स्वाधीनता के लिए संघर्ष जारी था। इन परिस्थितियों में अकबर को विद्रोहों की एक श्रृंखला का सामना करना पड़ा। पुराने राजवंश के उत्तराधिकारियों द्वारा राज्य को पुन: हस्तगत करने के प्रयत्नों के कारण गुजरात में दो वर्ष तक अशान्ति रही। सबसे गम्भीर विद्रोह बंगाल और बिहार में हुआ, जो जौनपुर तक फैल गया। इसका प्रमुख कारण जागीरदारों के घोड़ों को दाग़ने की प्रणाली थी और उनके आमदनी का कड़ाई से हिसाब रखना था। इस नाराज़गी को धार्मिक पण्डों ने और भी भड़का दिया क्योंकि वे अकबर के उदार विचारों से तथा उस ज़मीन को वापिस लेने की नीति से परेशान थे। जो उन्होंने कभी ग़ैर-क़ानूनी तरीक़ों से हथिया ली थी, और वे उस पर कर इत्यादि नहीं देते थे। अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम ने भी इस विद्रोह को इस उम्मीद में भड़काया कि वह उचित अवसर पर पंजाब पर आक्रमण कर सकेगा। मिर्ज़ा हकीम उस समय काबुल का शासक था। पूर्वी प्रदेशों के अफ़ग़ान भी विद्रोह में शामिल होने के लिए हमेशा से तैयार थे क्योंकि वे पठान शक्ति की पराजय से दुखी थे।

इन विद्रोहों ने साम्राज्य को दो वर्षों (1580-81) तक उलझाये रखा, और अकबर को बहुत कठिन और नाज़ुक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। स्थानीय अधिकारियों द्वारा स्थिति को ग़लत ढंग से सम्भालने के कारण बंगाल और लगभग सारा बिहार विद्रोहियों के हाथ में चला गया जिन्होंने मिर्ज़ा हकीम को अपना शासक घोषित कर दिया। उन्होंने किसी उलमा से एक फ़तवा भी ले लिया जिसमें ख़ुदा के बन्दों से अकबर के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए कहा गया था।

अकबर इससे घबराया नहीं। उसने टोडरमल के अधीन एक फ़ौज बिहार और बंगाल भेज दी और दूसरी राजा मानसिंह के अधीन मिर्ज़ा हकीम के सम्भावित आक्रमण को रोकने के लिए पश्चिम की ओर रवाना कर दी। टोडरमल साहस और चतुराई से आगे बढ़ा और मिर्ज़ा हकीम के आक्रमण से पहले ही उसने स्थिति पर क़ाबू पा लिया। मिर्ज़ा हकीम 15,000 घुड़सवार लेकर लाहौर की तरफ़ बढ़ा किन्तु राजा मानसिंह और भगवानदास द्वारा की गई कड़ी सुरक्षा के कारण वह नगर पर अधिकार नहीं कर सका। मिर्ज़ा हकीम की इस उम्मीद पर भी पानी फिर गया कि पंजाब के बहुत से सरदार उसके साथ विद्रोह में शामिल हो जायेंगे। इसी बीच 50,000 अनुशासित घुड़सवारों की सेना लेकर अकबर लाहौर पहुँच गया, जिससे मिर्ज़ा हकीम के सामने जल्दी से लौटने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं बचा।

अकबर ने इस सफलता को यहीं तक सीमित नहीं रखा। वह काबुल की ओर बढ़ा (1581)। यह पहला अवसर था जबकि किसी भारतीय शासक ने इस ऐतिहासिक नगर में क़दम रखा। क्योंकि मिर्ज़ा हकीम ने अकबर की प्रभुत्ता स्वीकार करने या उसके सामने उपस्थित होकर स्वामीभक्ति प्रदर्शित करने से इन्कार कर दिया और भारतीय सरदार और सैनिक लौटने के लिए उतावले हो रहे थे, अकबर ने काबुल का शासन अपनी बहन को सौंप दिया और भारत लौट आया। एक महिला के हाथ में शासनभार सौंपना अकबर की उदारता और खुले दिल

से सोचने का प्रतीक है। विरोधियों पर विजय अकबर की व्यक्तिगत विजय ही नहीं थी, बल्कि इससे यह भी प्रदर्शित हुआ कि एक नई प्रणाली ने अपनी जड़ें जमाना शुरू कर दिया है। अकबर अब साम्राज्य के और विस्तार के लिए सोच सकता था। वह दक्षिण की ओर बढ़ा जिसमें उसकी रुचि काफ़ी समय से थी। लेकिन इससे पहले की वह कुछ कर पाता उत्तर-पश्चिम की ओर उसका ध्यान फिर बँट गया। मुग़लों का परम्परागत शत्रु अब्दुल्ला खाँ उज़बेक मध्य एशिया में शक्ति एकत्र कर रहा था। 1584 में उसने बदख़्शां पर आक्रमण कर दिया जिस पर तैमूरों का शासन था। लगता था कि उसके बाद काबुल की बारी है। मिर्ज़ा हकीम और बदख़्शां से खदेड़े गए तैमूरी राजकुमारों ने अकबर से सहायता की प्रार्थना की लेकिन इससे पहले कि वह कुछ कर सके मिर्ज़ा हकीम अधिक शराब पीने के कारण काबुल को अव्यवस्थित छोड़ कर मर गया।

अब अकबर ने मानसिंह को काबुल पर आक्रमण करने का आदेश दिया और स्वयं वह सिन्धु नदी की ओर बढ़ा। उज़बेकों के सभी रास्ते बंद करने के ख्याल से उसने काश्मीर (1586) में और बलूचिस्तान की ओर भी सेना भेजी। लद्दाख़ और बाल्तिस्तान (जिसे तिब्बत खुर्द और तिब्बत बुजुर्ग कहा जाता है) सहित सारा काश्मीर मुग़लों के अधीन हो गया। बाल्तिस्तान के शासक की लड़की का विवाह भी सलीम के साथ हो गया। खैबर दर्रे को मुक्त कराने के लिए भी आक्रमण किया गया जिस पर विद्रोही क़बीलियों ने अधिकार कर रखा था। इनके विरुद्ध एक आक्रमण में अकबर का प्रिय राजा बीरबल मारा गया। परन्तु धीरे-धीरे अफ़ग़ान विद्रोही समर्पण करने को विवश हो गए।

अकबर के दो प्रमुख योगदान उत्तर-पश्चिम को सुदृढ़ करना और साम्राज्य की तर्कपूर्ण सीमा रेखा का निर्माण थे। उड़ीसा पर उस समय अफ़ग़ान सरदारों का राज्य था। उसे बंगाल के तत्कालीन गवर्नर राजा मानसिंह ने जीता। मानसिंह ने कूच बिहार और ढाका सहित पूर्वी बंगाल के बहुत से हिस्से जीते। अकबर के धाय पुत्र मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका ने पश्चिम में काठियावाड़ को विजित किया। ख़ान-ए-ख़ानां मुनीमखाँ को राजकुमार मुराद के साथ दक्षिण की ओर भेजा गया। दक्षिण की घटनाओं का वर्णन एक अलग अध्याय में किया जाएगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि शताब्दी के अन्त तक मुग़ल साम्राज्य अहमदनगर तक फैल गया था जिससे मुग़लों का मराठों से पहली बार सीधा सम्पर्क हुआ।

इस प्रकार शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में पिरोया जा चुका था और मुग़लों ने दक्षिण में अपना अभियान शुरू कर दिया था। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात इस विशाल साम्राज्य में पनपी और वह थी सांस्कृतिक और भावात्मक एकता।

एकता की ओर

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में देश के विभिन्न भागों में अनेक शासकों ने ग़ैर-साम्प्रदायिक और धार्मिक संस्कृत साहित्य का फ़ारसी में अनुवाद करा के, स्थानीय भाषाओं के साहित्य को संरक्षण देकर, धार्मिक सहिष्णुता की अधिक उदार नीति अपना कर और दरबार तथा सेना में हिन्दुओं को महत्वपूर्ण पद देकर हिन्दुओं और मुसलमानों में पारस्परिक समझ पैदा करने की कोशिश की। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार चैतन्य, कबीर और नानक जैसे सन्तों ने देश के विभिन्न भागों में इस्लाम और हिन्दु धर्म के बीच अनिवार्य एकता पर बल दिया और धार्मिक पुस्तकों के शाब्दिक अर्थों की बजाय प्रेम तथा भक्ति पर आधारित धर्म पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जिसमें उदार भावनाएँ और विचार पनप सकते थे तथा जिसमें धार्मिक अनुदारता को अच्छा नहीं समझा जाता था। इसी वातावरण में अकबर का जन्म और पालन पोषण हुआ।

गद्दी पर बैठने के बाद अकबर का पहला काम जज़िया को समाप्त करना था। इस्लामी राज्यों में ग़ैर-मुसलमानों को जज़िया देना पड़ता था। हालाँकि यह कर भारी नहीं था फिर भी इसे नापसंद किया जाता था क्योंकि इससे प्रजा में भेद किया जाता था। इसके साथ ही अकबर ने प्रयाग और बनारस जैसे तीर्थ स्थानों पर स्नान करने का कर भी समाप्त कर दिया। उसने युद्ध बन्दियों के ज़बरदस्ती धर्म परिवर्तन की प्रथा को समाप्त कर दिया। इन कार्यों ने एक ऐसे साम्राज्य की आधारशिला रखी जो बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के सभी नागरिकों के समान अधिकारों पर आधारित था।

अनेक हिन्दुओं को सामन्त बना लेने से साम्राज्य के उदार सिद्धान्त और भी दृढ़ हो गए। इनमें से अधिकाँश राजपूत राजा थे जिनमें से बहुत से अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्धों से बन्ध गये और अकबर ने जिनके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किये। और भी बहुत से लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार मनसब दिये गये। इस दूसरे वर्ग में योग्यतम और प्रसिद्धतम व्यक्ति टोडरमल और बीरबल थे। टोडरमल राजस्व के मामलों का विशेषज्ञ था जिसने उन्नति करके दीवान का पद प्राप्त किया था। बीरबल अकबर का विशेष कृपापात्र था।

अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति अकबर का दृष्टिकोण इस विचार से जुड़ा हुआ था कि अपनी प्रजा के प्रति शासक का क्या व्यवहार होना चाहिए। यह दृष्टिकोण प्रभुत्ता सम्बन्धी तैमूरी, इरानी और भारतीय विचारों का एकीकरण थे। अकबर के जीवनीकार अबुलफ़ज़ल ने इनकी बहुत साफ़ तरह से व्याख्या की है। उसके अनुसार एक सच्चे शासक का पद बहुत महत्वपूर्ण है। यह एक ऐसा पद है जो दैवी कर्त्तव्य (फ़र्ज़-ए-इलाही) पर निर्भर है। अतः ईश्वर और एक सच्चे शासक के बीच और कोई नहीं है। एक सच्चे शासक की पहचान प्रजा के प्रति बिना किसी वर्ग और जाति के भेद भाव के उसके पितावत् व्यवहार, छोटे और बड़े की इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए विशाल हृदय, तथा ईश्वर जिसे वास्तविक राजा माना गया है, की प्रार्थना और भक्ति तथा उसमें रोज़-ब-रोज़ बढ़ते विश्वास से होती है। शासक का यह कर्त्तव्य भी है कि वह एक पद अथवा व्यवसाय के लोगों के दूसरे वर्ग और व्यवसाय के लोगों के कार्यों में हस्तक्षेप को रोक कर समाज में सन्तुलन बनाये रखे। इन सबको मिलाकर ही **सुलह-कुल** अथवा सबके लिए शांति की नीति बनी।

अकबर प्रारम्भ से ही धर्म और दर्शन में गहरी रुचि रखता था। शुरू में अकबर परम्परावादी मुसलमान था। वह राज्य के प्रमुख क़ाज़ी अब्दुलनबी खाँ का बहुत आदर करता था। अब्दुलनबी उस समय सदर-उस्-सदूर था और अकबर ने एक अवसर पर उसकी जूतियाँ भी उठाई थीं। लेकिन जब अकबर व्यस्क हुआ तो देश भर में फैलाए जा रहे रहस्यवाद ने उसे प्रभावित करना शुरु किया। कहा जाता है कि वह पूरी-पूरी रात अल्लाह का नाम लेता हुआ उसके विचारों में खोया रहता था और अपनी सफलताओं के लिए उसका शुक्रिया अदा करने के लिए वह कई बार सुबह-सुबह आगरा में अपने महल के सामने एक पुरानी इमारत के एक सपाट पत्थर पर बैठ कर प्रार्थना और ध्यान में खो जाता था। धीरे-धीरे वह धर्म के परम्परावादी रूप से विमुख हो गया। जज़िया और तीर्थयात्रा कर उसने पहले ही हटा दिया था। इसका संकेत हम कर चुके हैं। उसने अपने दरबार में उदार विचारों वाले विद्वानों को एकत्र किया। इनमें से सर्वाधिक उल्लेखनीय अबुलफ़ज़ल और उसका भाई फ़ैज़ी और उनके पिता हैं। महदवी विचारों के साथ सहानुभूति रखने के कारण मुल्लाओं ने इन्हें बहुत परेशान किया था। एक अन्य उल्लेखनीय व्यक्ति महेशदास नामक ब्राह्मण है जिसे राजा बीरबल की पदवी दी गयी थी और जो हमेशा अकबर के साथ रहता था।

1575 में अकबर ने अपनी नई राजधानी फ़तहपुर सीकरी में इबादतख़ाना अर्थात् प्रार्थना भवन बनवाया। उसने यहाँ विशेष धर्म गुरुओं, रहस्यवादियों और अपने दरबार के प्रसिद्ध विद्वानों को आमन्त्रित किया। अकबर ने उनके साथ धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा की। उसने बार-बार कहा "ओ बुद्धिमान मुल्लाओ! मेरा एकमात्र लक्ष्य सत्य की पहचान, वास्तविक धर्म के सिद्धांतों की खोज और उनको प्रकाश में लाना है।" यह चर्चा पहले केवल मुसलमानों तक सीमित रही परन्तु यह नियमित नहीं थी। मुल्लाओं ने आपस में झगड़ा किया। एक दूसरे पर चिल्लाये और यहाँ तक कि अकबर की उपस्थिति में ही एक दूसरे को गाली दी। मुल्लाओं के व्यवहार, उनके अहंकार और दम्भ ने अकबर को खीज से भर दिया। परिणामतः वह मुल्लाओं से और भी दूर हो गया।

तब अकबर ने इबादतख़ाना सब धर्मों—इसाई, ज़राथुष्ट्रवादी, हिन्दु, जैन, और यहाँ तक कि नास्तिकों के लिए भी खोल दिया। इससे चर्चाएँ और अधिक विषयों पर शुरू हुईं और यहाँ तक कि उन विषयों पर भी चर्चाएं हुईं जिन पर सब मुसलमान एकमत थे जैसे कि क़ुरान अन्तिम दैवी पुस्तक है और मुहम्मद इसका पैग़म्बर है, पुनर्जन्म, ईश्वर की प्रकृति, आदि। इससे धर्म गुरु भयभीत हो गये और अकबर द्वारा इस्लाम त्यागने की इच्छा की अफवाहें फैलाने लगे। एक आधुनिक लेखक का विचार है कि "अकबर के धैर्य और खुले विचारों की अलग धर्मों के लोगों ने अलग-अलग व्याख्याएँ

कीं। इबादतख़ाने से उसे श्रेय के स्थान पर बदनामी ही अधिक मिली।"

इसी समय मुख्य सदर अब्दुलनबी के खिलाफ़ तहक़ीक़ात हुई जो कल्याण कार्यों हेतु भूमि **"मदद-ए-मआश"** को बाँटने में बहुत भ्रष्टाचारी और तानाशाह निकला। उसने भ्रष्टाचार और अनाचार से बहुत सम्पत्ति अर्जित कर ली थी। वह धर्मान्ध था और इसलिए उसने शियाओं और मथुरा के एक ब्राह्मण को उसके विश्वासों के कारण फाँसी की सज़ा दे दी थी। सबसे पहले अब्दुलनबी के अधिकार छीन लिए गये और मदद-ए-मआश को बाँटने के लिए प्रत्येक सूबे में एक-एक सदर की नियुक्ति की गई। जल्दी ही उसे बर्ख़ास्त कर दिया गया और उसे हज के लिए मक्का जाने का आदेश दिया गया। लगभग इसी समय 1579-80 में पूर्व में विद्रोह हुआ। क़ाज़ियों ने अकबर को धर्म-विरोधी कहते हुए अनेक फ़तवे दिये। अकबर ने विद्रोह को कुचल दिया और क़ाज़ियों को कड़ी सजायें दीं।

मुल्लाओं से निपटने के लिए अपनी स्थिति और मजबूत करने के ख़याल से **महज़र** की उद्घोषणा की जिसमें कहा गया कि यदि अकबर ने क़ुरान (मुजताहित) की व्याख्या में समर्थ विद्वानों में परस्पर मतभेद हो तो अकबर "सर्वाधिक न्यायशील और विवेकी" होने के नाते और ख़ुदा की नज़रों में इसका दर्जा मुजताहिदों से ऊँचा होने के कारण उनमें से किसी भी व्याख्या को स्वीकार कर सकता है जो "देश के लाभ में और बहुसंख्या के हित में" हो। उसमें यह भी कहा गया कि अकबर यदि "क़ुरान का अनुसरण करते हुए और देश के लाभ में" कोई नया हुकम जारी करे तो उसे सबको स्वीकार करना होगा।

इस घोषणा, जिस पर प्रमुख उल्माओं के हस्ताक्षर थे, की व्याख्या गलत ढंग से "अमोघत्व का आदेश" (Doctrine of Infallibility) के रूप में की जाती है। अकबर ने क़ुरान की व्याख्या में समर्थ व्यक्तियों में परस्पर मतभेद की स्थिति में ही किसी एक विचार को सही बतलाने का अधिकार अपने हाथ में लिया था। अकबर ने तब भी विशाल सहनशीलता की बात कही जबकि देश के विभिन्न भागों और यहाँ तक कि उसके साम्राज्य में भी शियाओं, सुन्नियों और महादवियों में बहुत ख़ून-ख़राबा हो रहा था। इस बात में सन्देह नहीं है कि भारत में स्थिति को सामान्य बनाने में महज़र का अपेक्षित प्रभाव हुआ। लेकिन देश के विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों को एक स्थान पर बिठाने में अकबर को बहुत कम सफलता मिली। इबादतख़ाने की चर्चाओं से विभिन्न धर्मों के लोगों में बेहतर समझ पैदा होने के स्थान पर और अधिक कड़वाहट पैदा हो गयी क्योंकि प्रत्येक धर्म के प्रतिनिधियों ने दूसरे धर्मों को नीचा बताकर अपने-अपने धर्म को अन्यों से बेहतर सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इसलिए 1582 में अकबर ने इबादतख़ाने की चर्चाएँ बन्द कर दीं। लेकिन उसने सत्य की तलाश जारी रखी। उसका घोर आलोचक बदायूनी कहता है कि "लोग रात और दिन खोजबीन करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते।" अकबर ने हिन्दु धर्म के सिद्धान्तों को जानने के लिए पुरुषोतम और देवी को आमन्त्रित किया और ज़राथुष्ट्र धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए मेहरजी राणा को बुलवाया। ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को और अधिक समझने के लिए उसने कुछ पुर्तगाली पादरियों से भी भेंट की। उसने गोआ में अपने दूत भेजे और पुर्तगालियों से दो विद्वान धर्म प्रचारकों को अपने दरबार में भेजने की प्रार्थना की। पुर्तगालियों ने अकाबीवा और को मान्सरत भेजा, जिन्होंने लगभग तीन वर्ष अकबर के दरबार में व्यतीत किये। उन्होंने इसका मूल्यवान विवरण छोड़ा है। परन्तु अकबर को ईसाई बनाने की उनकी आशा का कोई आधार नहीं था। अकबर जैनियों के सम्पर्क में भी आया और उनके कहने पर काठियावाढ़ के प्रमुख जैन सन्त हीरविजय सूरी ने उसके दरबार में दो वर्ष बिताए।

अलग-अलग धर्मों के नेताओं के सम्पर्क, उनकी रचनाओं के अध्ययन, सूफ़ी सन्तों और योगियों के साथ हुई भेंटों ने धीरे-धीरे अकबर को यह विश्वास दिला दिया कि साम्प्रदाय और जातिगत भेद होते हुए भी सब धर्मों में कई अच्छी बातें हैं जो वाद-विवाद की गरमी में छिपी रह जाती हैं। उसने यह अनुभव किया कि यदि विभिन्न धर्मों की अच्छी बातों पर बल दिया जाए, तो सामंजस्य और मित्रता का वातावरण बन सकता है, जो देश के हित में होगा। उसने यह भी अनुभव किया कि नामों और स्वरूपों की अनेकता के बावजूद ईश्वर केवल एक है। बदायूनी कहता है कि शहनशाह पर सब प्रभावों के परिणामस्वरूप

धीरे-धीरे अकबर के दिल में पत्थर की लकीर की तरह यह विश्वास जम गया कि सभी धर्मों में कुछ अच्छे लोग हैं। अगर हर जगह कुछ वास्तविक ज्ञान मिल सकता है, तो सत्य एक ही धर्म में क्यों सीमित रहे।

बदायूनी इस बात पर बल देता है कि इसी के परिणामस्वरूप अकबर धीरे-धीरे इस्लाम से दूर हो गया और उसने हिन्दुत्व, ईसाईयत, पारसी धर्म आदि विद्यमान धर्मों को मिला कर एक नये धर्म की स्थापना की। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि बदायूनी ने इस बात में अतिशयोक्ति का प्रयोग किया है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अकबर ने नया धर्म चलाया या चलाने का उसका विचार था। अबुलफ़ज़ल और बदायूनी ने इस तथाकथित नये धर्म के लिए **तौहीद-ए-इलाही** शब्द का प्रयोग किया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'दैवी एकेश्वरवाद'। 'दीन' अर्थात् धर्म शब्द का प्रयोग पहली बार 80 साल बाद किया गया। 80 साल तक नहीं किया गया था। तौहीद-ए-इलाही वास्तव में एक ऐसा मार्ग था जो सूफ़ियों से मेल खाता था। जो व्यक्ति इच्छुक थे और जिन्हें अकबर मन्जूर करता था वह इसके सदस्य बन सकते थे। इस मार्ग में आने के लिए इतवार का दिन निश्चित था। इस मार्ग में दीक्षित होने वाला व्यक्ति शहनशाह के क़दमों पर अपना सिर रखता था और शहनशाह उसे उठाकर मन्त्र देता था जिसे सूफ़ी भाषा में (शस्त) कहा जाता था। आगन्तुक को ध्यान लगाकर इस मन्त्र की पुनरावृत्ति करनी पड़ती थी। इस सूत्र में अकबर का प्रिय उद्घोष 'अल्लाह-उ-अकबर' अर्थात् ईश्वर महान है, सम्मिलित था। दीक्षित होने वालों को जहाँ तक सम्भव हो मांस से दूर रहना पड़ता था और कम से कम अपने जन्म के महीने में तो ऐसा करना ही होता था और अपने जन्म दिन पर भोज तथा दान इत्यादि देना पड़ता था। दीक्षा के अतिरिक्त इसमें कोई रीतियाँ, आडम्बर या पूजा स्थल, कोई पुजारी वर्ग, कोई पवित्र पुस्तकें या आदेश नहीं थे। बदायूनी का कहना है कि इसके सदस्यों की भक्ति के चार स्तर थे अर्थात् सम्पत्ति, जीवन सम्मान और धर्म का बलिदान। ये स्तर भी सूफ़ी मार्ग के स्तरों के समान थे। धर्म त्याग का अर्थ वस्तुतः धर्म के संकीर्ण सिद्धांतों पर बाह्य आडम्बरों के प्रति मोह का त्याग था और यह भी सूफ़ी सिद्धान्तों के समान्तर था। अकबर ने अपने शिष्य बनाने के लिए न तो बल का इस्तेमाल किया और न ही पैसे का। वास्तव में बड़े हिन्दू सामन्तों सहित बहुत से अग्रणीय सरदारों ने इसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। उनमें से केवल बीरबल ही इसका सदस्य था।

इस मार्ग में दीक्षित होने वालों की संख्या बहुत कम थी और उनमें भी बहुत से अकबर के अपने कृपापात्र थे। अतः इस मार्ग द्वारा कोई महत्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका अदा करने की उम्मीद नहीं थी। वस्तुतः जब अकबर ने यह मार्ग चलाया तो वह अपनी आंतरिक स्थिति को सुदृढ़ कर चुका था और इस प्रकार का यथार्थवादी प्रदर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। तब अकबर का उद्देश्य क्या था? इस विषय में इतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं। बदायूनी ने इसका कारण अयोग्य चापलूसों और अधार्मिकों द्वारा अकबर का दिमाग़ ख़राब करना माना है। उसका विचार है कि उन्होंने अकबर को यह कहा कि वह युग का '**इन्सान-ए-कामिल**' अथवा 'परिपूर्ण मनुष्य' है। उनके कहने पर ही अकबर ने 'पाबोस' की परम्परा, अर्थात् शहनशाह के सामने क़दम बोसी, शुरू करवाई। यह रीति पहले सिर्फ़ ख़ुदा की इबादत के लिए अपनाई जाती थी। इस तरह के बहुत से उदाहरण हैं जबकि शासकों ने अपने आप में सांसारिक और आध्यात्मिक शक्तियों को मिलाया। अबुलफ़ज़ल कहता है कि यह लोगों के लिए स्वाभाविक है कि वह अपने शासक से आध्यात्मिक मार्गदर्शन की आशा करें और अकबर लोगों को आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त कराने और एक दूसरे के विरोधीसम्प्रदायों में सामन्जस्य स्थापित करने में पूरी तरह समर्थ था।

अकबर का लक्ष्य जो भी रहा हो **तौहीद-ए-इलाही** उसके साथ ही खत्म हो गया। दीक्षित होने वालों को शस्त देने की प्रथा कुछ समय तक जहाँगीर ने भी अपनाई, लेकिन जल्दी ही इसे समाप्त कर दिया गया। फिर भी राजा को जादुई शक्तियों का मालिक मानने की प्रवृत्ति बनी रही और लोग राजा के स्पर्श या पानी से भरे बर्तन पर साँस छोड़ने से रोग मुक्त होने की कल्पनाएँ करते रहे। यहाँ तक कि औरंगज़ेब जैसा कठोर शासक भी इस विश्वास को तोड़ नहीं सका।

अकबर ने दूसरे तरीक़ों से विभिन्न धर्मों में सुलह-कुल अर्थात् शान्ति और सामन्जस्य के सिद्धान्त पर बल दिया।

उसने एक अनुवाद विभाग भी स्थापित किया जहाँ संस्कृत, अरबी, ग्रीक, इत्यादि भाषाओं की रचनाओं का फ़ारसी में अनुवाद होता था। **'सिंहासन बत्तीसी' 'अथर्व वेद'** और **'बाइबल'** का अनुवाद सबसे पहले किया गया। उसके बाद **'महाभारत' 'गीता'** और **'रामायण'** का अनुवाद हुआ। **'पंचतन्त्र'** जैसी अनेक रचनाओं तथा भूगोल, गणित और दर्शन पर भी अनेक रचनाओं का अनुवाद किया गया। **'क़ुरान'** का भी सम्भवतः पहली बार अनुवाद हुआ।

अकबर ने अनेक सामाजिक और शैक्षिक सुधार किये। उसने सती प्रथा बन्द कर दी। विधवा केवल अपनी इच्छा से ही सती हो सकती थी। छोटी आयु की विधवाएँ जिन्होंने विधवा होने तक पति के साथ सहवास नहीं किया होता था, बिल्कुल भी सती नहीं हो सकती थीं। विधवा-विवाह को भी क़ानूनी मान्यता दी गयी। अकबर एक से अधिक पत्नी रखने के हक़ में नहीं था बशर्ते पहली पत्नी निःसंतान न हो। विवाह की आयु भी बढ़ाकर लड़कियों के लिए चौदह वर्ष और लड़कों के लिए सोलह वर्ष कर दी गयी थी। मदिरा की बिक्री को सीमित किया गया। लेकिन इनमें से प्रत्येक क़दम सफल नहीं रहा। जैसा कि हम जानते हैं कि सामाजिक विधान की सफलता बहुत कुछ जनता के सहयोग पर निर्भर करती है। अकबर का युग अन्धविश्वासों का युग था और ऐसा लगता है कि उसके सामाजिक सुधारों को सीमित सफलता ही मिल सकी।

अकबर ने शैक्षिक पाठ्यक्रम में भी काफी संशोधन किया। उसने नैतिक-शिक्षा, गणित तथा धर्म-निरपेक्ष विषयों जैसे कृषि, ज्यामिति, खगोल शास्त्र, प्रशासन के सिद्धान्त, तर्क-शास्त्र, इतिहास, आदि पर अधिक बल दिया। उसने कलाकारों, कवियों, चित्रकारों और संगीतकारों को भी संरक्षण दिया। उसका दरबार प्रसिद्ध व्यक्तियों अर्थात् नवरत्नों की उपस्थिति के कारण प्रसिद्ध हो गया।

इस प्रकार अकबर के शासनकाल में राज्य अनिवार्य रूप से धर्मनिरपेक्ष, सामाजिक विषयों में उदार और चेतना तथा सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन देने वाला बन गया।

प्रश्न-अभ्यास

1. अकबर ने अपने शासनकाल के आरंभिक सालों में जिन समस्याओं का सामना किया, उनका विवेचन कीजिए। उन समस्याओं को हल करने के लिए उसने क्या क़दम उठाए ?
2. अकबर के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य की भू-राजस्व व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. मनसबदारी व्यवस्था से क्या अभिप्रेत है ? इसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. अकबर के शासनकाल में उच्च अधिकारी वर्ग का संगठन दिल्ली के सुल्तानों के काल के मुक़ाबले में किस तरह भिन्न था ?
5. अकबर के शासनकाल में केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों का संगठन क्या था ? स्थानीय, प्रांतीय और केन्द्रीय स्तरों पर सरकार के कौन से मुख्य अधिकारी थे ?
6. राजपूत राज्यों के प्रति अकबर की नीति की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं ? यह नीति किस हद तक सफल हुई ? विवेचन कीजिए।
7. उत्तरी भारत के राजनीतिक एकीकरण में अकबर के योगदान का विवेचन कीजिए।
8. अकबर के धार्मिक विचारों के विकास का वर्णन कीजिए। 'सुलहकुल' की परिकल्पना क्या थी ? इसके महत्व को विस्तारपूर्वक बताइए।

दक्कन और दक्षिण भारत (1656 तक)

हम पहले एक अध्याय में बता चुके हैं कि बहमनी साम्राज्य के विघटन के बाद अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा नामक तीन शक्तिशाली रियासतें उभरीं और उन्होंने मिलकर 1565 में तालिकोट के निकट बन्नीहट्टी की लड़ाई में विजयनगर को बुरी तरह पराजित किया। विजय के पश्चात् इन रियासतों ने पुराने तौर-तरीक़े अपना लिए। अहमदनगर और बीजापुर दोनों ने उपजाऊ शोलापुर पर अपना-अपना दावा किया। युद्ध और विवाह सम्बन्ध दोनों में से कोई भी इस समस्या को सुलझाने में सहायक नहीं हुआ। दोनों रियासतों की महत्वाकांक्षा बीदार को हस्तगत करने की थी। अहमदनगर अपने उत्तर में स्थित बरार को भी हथियाना चाहता था। वस्तुतः बहमनी सुल्तानों के वंशज निज़ामशाहियों ने दक्कन में प्रधानता नहीं तो कम से कम बेहतर स्थिति का दावा आरम्भ किया। उनके इस दावे का विरोध न केवल बीजापुर ने किया बल्कि गुजरात के सुल्तानों ने भी किया जिनकी नज़र बरार के साथ-साथ समृद्ध कोंकण प्रदेश पर भी थी। गुजरात के सुल्तानों ने अहमदनगर के विरुद्ध बरार को सक्रिय सहायता दी और दक्कन में शक्ति-सन्तुलन को बनाये रखने के लिए अहमदनगर से युद्ध भी किया। बीजापुर और गोलकुण्डा में भी नालदुर्ग के लिए संघर्ष हुआ।

1572 में मुग़लों द्वारा गुजरात विजय से एक नयी परिस्थिति उत्पन्न हो गई। गुजरात विजय दक्कन विजय की पूर्व-पीठिका हो सकती थी। लेकिन अकबर कहीं और व्यस्त था, और इस मौक़े पर दक्कन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। अहमदनगर ने इस मौक़े का लाभ उठाकर बरार हथिया लिया। वास्तव में अहमदनगर और बीजापुर ने एक समझौता कर लिया जिसके अन्तर्गत बीजापुर को विजयनगर के इलाक़ों पर दक्षिण में अपने राज्य का विस्तार करने की छूट मिल गई और अहमदनगर ने बरार को रौंद डाला। गोलकुण्डा भी विजयनगर साम्राज्य के क्षेत्र में अपनी सीमाओं का विस्तार करना चाहता था। इस प्रकार सभी दक्कनी रियासतें विस्तारवादी थीं।

इस स्थिति में एक और महत्त्वपूर्ण बात दक्कन में मराठों का बढ़ता महत्व थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, बहमनी शासकों ने हमेशा मराठा सेनाओं को सहायक सेना के रूप में रखा था। इसे बारगीर (या सामान्यतः बारगी) कहा जाता था। स्थानीय स्तर पर राजस्व कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था। मोरे, निम्बालकर, घाटगे जैसे कुछ पुराने मराठा वंशों ने बहमनी सुल्तानों की सेना में रहकर मन्सब और जागीरें भी प्राप्त की थीं। इनमें से अधिकांश शक्तिशाली ज़मींदार थे। जिन्हें दक्कन में

देशमुख कहा जाता था। परन्तु उनमें न तो कोई राजपूतों की भाँति स्वतन्त्र शासक था और न उनमें से किसी के पास बड़ा राज्य था। दूसरे वे अनेक वंशों के नेता भी नहीं थे, जिनकी सहायता पर वे निभर कर सकते। अतः अधिकांश मराठा सरदार सैनिक साहसिक थे, जो परिस्थिति के अनुसार अपनी स्वामीभक्ति बदल सकते थे। फिर भी मराठा दक्कन के ज़मींदारों की रीढ़ थे और उनकी स्थिति उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों के राजपूतों के समान थी। सोलहवीं शताब्दी के मध्य में दक्कनी राज्यों ने मराठों को अपनी ओर मिलाने की निश्चित नीति अपनायी। दक्कन की तीनों बड़ी रियासतों ने मराठा सरदारों को नौकरी और बड़े पद दिये। बीजापुर का इब्राहीम आदिलशाह जो 1555 में गद्दी पर बैठा था, इस नीति को अपनाने वालों में अग्रणी था। कहा जाता है कि उसके पास 30000 मराठों की सहायक (बारगी) सेना थी, और वह राजस्व के मामलों में मराठों को हर स्तर पर छूट दिया करता था। इस नीति के अन्तर्गत पुराने वंशों पर तो कृपा बनी ही रही, कई नये वंश भी बीजापुर रियासत में महत्वपूर्ण हो गये, जैसे भोंसले, जिनका वंशगत नाम घोरपड़े था, डफ्ले (अथवा चह्वान) आदि। राजनयिक वार्ताओं में मराठी ब्राह्मणों का उपयोग भी नियमित रूप से किया जाता था। उदाहरण के लिए अहमदनगर के शासक ने कणकोजी नरसी नामक ब्राह्मण को पेशवा की उपाधि दी। अहमदनगर और गोलकुण्डा में भी मराठों की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

अतः यह स्पष्ट है कि ज़मींदार वर्ग और लड़ाकू जातियों के साथ मित्रता की नीति अकबर-कालीन मुग़ल साम्राज्य से बहुत पहले दक्कन की रियासतों ने अपना ली थी।

दक्कन में मुग़लों का बढ़ाव

उत्तर भारत में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेने के पश्चात् दक्कन की ओर क़दम बढ़ाना मुग़लों के लिए स्वाभाविक था। यद्यपि विंध्याचल उत्तर और दक्षिण की सीमा-रेखा था, परन्तु यह अलंघ्य-अवरोध नहीं था। यात्री, व्यापारी, तीर्थ यात्री और घुमक्कड़ साधु सदा से इसे पार कर आते-जाते रहे थे तथा दक्षिण और उत्तर में जहां हर एक के अपने विशेष सांस्कृतिक स्वरूप थे, उन्हें एक रूप में बाँधते रहे थे। तुग़लकों द्वारा दक्कन-विजय तथा उत्तर और दक्षिण के मध्य आवागमन के साधन सुगम हो जाने के कारण दोनों क्षेत्रों में व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध दृढ़तर हो गए थे। दिल्ली सल्तनत के पतन के पश्चात् बहुत से सूफ़ी सन्त और नौकरी की तलाश में कई अन्य व्यक्ति बहमनी सुल्तानों के दरबार में पहुंचे थे। राजनीतिक दृष्टि से भी उत्तर और दक्षिण अलग नहीं थे। जैसा कि हम देख चुके हैं पश्चिम के गुजरात और मालवा तथा पूर्व में उड़ीसा राज्य दक्कन की राजनीति में निरन्तर लिप्त रहे थे। अतः यह स्वाभाविक था कि सातवें और आठवें दशक के प्रारम्भ में मालवा और गुजरात को जीतने के पश्चात् मुग़ल भी दक्कन की राजनीति में रुचि दिखाते। 1576 में एक मुग़ल सेना ने ख़ानदेश पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक को समर्पण के लिए विवश कर दिया। किन्तु अकबर को अधिक महत्वपूर्ण कारणों से अपना ध्यान कहीं और लगाना पड़ा। 1586 से 1598 तक बारह वर्षों तक अकबर उत्तर-पश्चिम की स्थिति का अध्ययन करने के लए लाहौर में रहा। इसी बीच दक्कन की परिस्थितियां बिगड़ती चली गईं।

दक्कन राजनीति का जलता कुण्ड था। विभिन्न दक्कनी रियासतों के बीच लड़ाई एक आम बात थी। एक शासक की मृत्यु विभिन्न दलों के सामन्तों के बीच संघर्ष का कारण बन जाती थी। प्रत्येक दल शासक निर्माता की भूमिका निभाना चाहता था। इन परिस्थितियों में दक्कनियों और नवागन्तुकों (अफ़ाकी अथवा ग़रीब) के बीच संघर्ष खुले रूप से होता था। दक्कनियों में भी हब्शी (अबीसीनियायी अथवा अफ्रीकी) और अफ़ग़ान दो वर्ग बन गये। इन वर्गों और दलों का दक्कन की जनता के साथ सांस्कृतिक स्तर पर कोई सम्पर्क नहीं था। दक्कन की सैन्य और राजनीतिक प्रणाली में मराठों का विलयन, जो बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था, और आगे नहीं बढ़ा। अतः शासकों और सरदारों के प्रति जनता की बहुत कम स्वामिभक्ति थी।

दलगत संघर्षों और मतभेदों के कारण परिस्थिति और भी बिगड़ गई। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ईरान में नये राजवंश सफ़विद के अन्तर्गत शियामत राजधर्म बन गया था। शिया सम्प्रदाय का बहुत समय से दमन किया जाता रहा था और अब उत्साह की पहली लहर में इस सम्प्रदाय के

लोगों को अपने पूर्व-विरोधियों को सताने का मौक़ा मिला। परिणामतः बहुत से महत्वपूर्ण परिवारों ने वहाँ से भाग कर अकबर के दरबार में शरण ली जो शियाओं और सुन्नियों में कोई विभेद नहीं करता था। कुछ दक्कनी रियासतों ने भी शियामत को राजधर्म के रूप में स्वीकार किया। गोलकुण्डा इनमें से प्रमुख था। बीजापुर और अहमदनगर में भी शिया शक्तिशाली थे किन्तु उनका पलड़ा कभी-कभी ही भारी होता था। इससे दलगत संघर्ष और बढ़ गया।

दक्कन में महदवी सिद्धान्तों का भी काफ़ी प्रसार हुआ। मुसलमानों का विश्वास था कि प्रत्येक युग में पैग़म्बर के परिवार से एक व्यक्ति प्रकट होगा और धर्म को दृढ़ करेगा तथा न्याय को विजय दिलायेगा। ऐसा व्यक्ति महदी कहलाता था। हालाँकि संसार के विभिन्न भागों में अलग-अलग कालों में महदी प्रकट हो चुके थे, किन्तु सोलहवीं शताब्दी के अन्त में इस्लाम को एक युग की सम्भावित समाप्ति ने इस्लामी दुनिया में अनेक आशाएँ उत्पन्न कर दी थीं। भारत में, पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में जौनपुर में उत्पन्न सैयद मुहम्मद ने महदी होने का दावा किया। सैयद मुहम्मद ने भारत और इस्लामी दुनिया का भ्रमण किया और काफ़ी उत्साह पैदा किया। दक्कन सहित उसने देश भर में अपने दायरे स्थापित किए। दक्कन उसके लिए बहुत उपजाऊ सिद्ध हुआ। परम्परावादी तत्व महदवी सम्प्रदाय के उतने ही तीव्र विरोधी थे, जितने कि शिया सम्प्रदाय के। हालाँकि दोनों के बीच कोई प्रेम-भाव समाप्त नहीं हुआ था। अकबर ने इसी संदर्भ में सुलह-कुल का सिद्धान्त प्रचारित किया। उसे इस बात का भय था कि दक्कन के सम्प्रदायगत संघर्षों का सीधा प्रभाव मुग़ल साम्राज्य पर पड़ेगा।

अकबर को पुर्तगालियों की बढ़ती शक्ति का भी ख़तरा था। पुर्तगाली मक्का जाने वाले हज यात्रियों के कामों में हस्तक्षेप करते थे। इसमें वे शाही परिवारों की स्त्रियों को भी नहीं छोड़ते थे। वे अपनी सीमाओं में धौंस से काम लेते थे, जो अकबर को पसन्द नहीं था। पुर्तगाली मुख्य भूमि पर निरन्तर अपना प्रभाव बढ़ाने के चक्कर में थे और यहाँ तक कि उन्होंने सूरत पर भी हाथ डाला, जिसे एक मुग़ल सेनापति ने समय पर पहुँचकर बचा लिया। अतः अकबर ने स्पष्ट रूप से यह अनुभव किया कि मुग़ल साम्राज्य के निरीक्षण में दक्कनी रियासतों की सम्मिलित शक्ति यदि पुर्तगालियों के ख़तरे को पूरी तरह समाप्त नहीं भी कर सकेगी, तो उसे कम अवश्य कर देगी।

इन्हीं कारकों के कारण अकबर दक्कनी मामलों में लिप्त होने को विवश हुआ।

बरार, अहमदनगर और ख़ानदेश विजय

अकबर ने पूरे देश पर अपने प्रभुत्व का दावा किया था। अतः वह चाहता था कि राजपूतों की भाँति दक्कनी रियासतें भी उसकी प्रभुत्ता को स्वीकार करें। उसने पहले भी कई दूत इस प्रयत्न में दक्कनी रियासतों को भेजे थे कि वे उसकी शक्ति को स्वीकार कर उससे मित्रता करें लेकिन उनका अपेक्षित परिणाम नहीं निकला। यह स्पष्ट था कि जब तक मुग़ल उन पर सैनिक दबाव न डालें, दक्कनी रियासतें मुग़ल प्रभुत्ता को स्वीकार करने वाली नहीं थीं।

1591 में अकबर ने राजनयिक आक्रमण किया। उसने प्रत्येक दक्कनी रियासत में दूत भेजे और उनसे मुग़ल प्रभुत्ता स्वीकार करने को कहा। जैसा कि आशा की जाती थी, किसी रियासत ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। केवल ख़ानदेश ही इसका अपवाद रहा क्योंकि वह मुग़ल साम्राज्य के एकदम निकट स्थित था और मुग़लों का सामना कर पाने की स्थिति में नहीं था। अहमदनगर के शासक बुरहान ने मुग़ल दूत के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, अन्य रियासतों ने केवल मित्रता के वायदे किए। ऐसा प्रतीत होता था कि अकबर दक्कन के मामले में कोई निश्चित क़दम उठाना चाहता है। 1595 में बुरहान की मृत्यु के बाद छिड़े निज़ामशाही सरदारों के आपसी संघर्ष ने अकबर को आवश्यक अवसर प्रदान कर दिया। वहाँ अलग-अलग दलों द्वारा समर्थित चार लोग उत्तराधिकारी का दावा कर रहे थे। सबसे मज़बूत दावा मृतक शासक के पुत्र बहादुर का था। बीजापुर का शासक इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय भी उसका समर्थन करना चाहता था। बुरहान की बहन चाँदबीबी इब्राहीम के चाचा और बीजापुर के भूतपूर्व शासक की विधवा थी। वह बहुत योग्य स्त्री थी और उसने आदिलशाह के व्यस्क होने तक दस साल तक रियासत पर शासन किया था। वह मातमपुर्सी के लिए अहमदनगर गई थी और वहाँ उसने अपने भतीजे के दावे का

ज़ोरदार समर्थन किया। इसी पृष्ठभूमि में विरोधी दल के सरदारों (दक्कनियों) ने मुग़लों को हस्तक्षेप के लिए आमंत्रित किया। इसके बाद जो संघर्ष हुआ, वह वास्तव में अहमदनगर पर प्रभुत्व के लिए मुग़लों और बीजापुर के मध्य संघर्ष था।

मुग़ल आक्रमण का नेतृत्व गुजरात के गवर्नर मुग़ल शाहज़ादे मुराद और अब्दुर्रहीम ख़ान-ए-ख़ानाँ ने किया। ख़ानदेश के शासक को सहयोग करने को कहा गया। अहमदनगर के सरदारों में आपस में फूट होने के कारण राजधानी तक मुग़लों को बहुत कम विरोध का सामना करना पड़ा। चाँदबीबी ने तरुण शासक बहादुर के साथ स्वयं को क़िले के अन्दर बंद कर लिया। चार महीनों के घेरे के बाद दोनों पक्षों में समझौता हुआ। इस बीच चाँदबीबी ने बहुत साहस का परिचय दिया था। समझौते के अनुसार बरार मुग़लों के प्रभुत्व में आ गया और शेष क्षेत्र पर बहादुर का दावा मान लिया गया। मुग़लों का प्रभुत्व भी स्वीकार कर लिया गया। यह समझौता 1596 में हुआ।

बरार के मुग़ल साम्राज्य में विलयन ने दक्कन रियासतों को सावधान कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि बरार के मिल जाने से दक्कन में मुग़लों के पैर जम जायेंगे और वे कभी भी अपने क़दम आगे बढ़ा सकेंगे। यह भय कारणहीन नहीं था। अतः वे अहमदनगर के पक्ष में हो गयीं और मुग़लों द्वारा बरार के विलयन में अवरोध उत्पन्न करने लगीं। शीघ्र ही एक बीजापुरी सेनापति के नेतृत्व में बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर की संयुक्त सेना ने काफ़ी बड़ी संख्या में बरार पर आक्रमण कर दिया। 1597 में हुई एक ज़बरदस्त लड़ाई में मुग़ल सेना ने अपने से तीन गुनी दक्कनी सेना को पराजित कर दिया। बीजापुर और गोलकुण्डा की सेनाएँ पीछे हट गईं और चाँदबीबी स्थिति का सामना करने के लिए अकेली रह गई। हालाँकि चाँदबीबी 1596 की संधि का पालन करना चाहती थी लेकिन वह मुग़लों को परेशान करने के लिए अपने सरदारों को आक्रमण करने से रोक नहीं सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि मुग़लों ने अहमदनगर के क़िले पर दोबारा घेरा डाल दिया। कहीं से भी सहायता न मिलने के कारण चाँदबीबी ने मुग़लों से समझौते की बातचीत शुरू की लेकिन विरोधी दलों ने उस पर द्रोह का आरोप लगाकर उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार दक्कन की राजनीति के एक सर्वाधिक रोमांचक व्यक्तित्व का अन्त हो गया। इसके बाद मुग़लों ने अहमदनगर पर आक्रमण करके उस पर विजय प्राप्त कर ली। तरुण शासक बहादुर को ग्वालियर के क़िले में भेज दिया गया। बालघाट को भी साम्राज्य में मिला लिया गया और अहमदनगर में मुग़ल छावनी डाल दी गई। यह घटना 1600 में घटी।

अहमदनगर की पराजय और बहादुर निज़ामशाह के पकड़े जाने से दक्कन में अकबर की समस्याएँ समाप्त नहीं हो गईं। वहाँ कोई ऐसा निज़ामशाही राजकुमार या सरदार शेष नहीं था जिसके पास पर्याप्त समर्थन हो और जो अकबर के साथ समझौते की बातचीत कर सके। साथ ही मुग़ल उस समय न तो अहमदनगर से आगे बढ़ना चाहते थे और न ही वे इस स्थिति में थे कि रियासत के शेष क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा करने का प्रयत्न करें। मुग़ल सरदारों की आपसी झड़पों से स्थिति और भी बिगड़ गई।

स्थिति का मौक़े पर अध्ययन करने के लिए अकबर पहले मालवा और फिर ख़ानदेश की ओर बढ़ा। वहाँ उसे पता लगा कि ख़ानदेश के नये शासक ने अपनी सीमा से होकर अहमदनगर जाते हुए शाहज़ादे दानियाल का उचित सम्मान नहीं किया था। अकबर ख़ानदेश में स्थित असीरगढ़ के क़िले पर भी अपना अधिकार करना चाहता था क्योंकि वह दक्कन का सुदृढ़तम क़िला माना जाता था। मज़बूत घेरे के बाद, जब रोग फैलने लगा तो ख़ानदेश का शासक बाहर आया और उसने समर्पण कर दिया (1601)। ख़ानदेश को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया गया।

असीरगढ़ पर आक्रमण करने के बाद अकबर शहज़ादा सलीम के विद्रोह से निपटने के लिए उत्तर की ओर लौट आया। यद्यपि ख़ानदेश, बरार, बालघाट और अहमदनगर के क़िले पर मुग़ल आधिपत्य कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी, फिर भी मुग़लों को अपनी स्थिति अभी मज़बूत करनी थी। अकबर इस बारे में पूरी तरह सजग था कि बीजापुर से किसी समझौते के बिना दक्कन की समस्याओं का कोई स्थायी हल नहीं निकल सकता। अतः उसने इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय के पास उसे आश्वस्त करने के लिए संदेश भेजा। आदिलशाह ने अकबर के सबसे छोटे पुत्र शहज़ादा दानियाल से अपनी बेटी के विवाह का प्रस्ताव किया। लेकिन शादी के कुछ समय बाद

ही शाहज़ादा दानियाल की अधिक मदिरापान के कारण मृत्यु हो गई (1602)। अतः दक्कन की परिस्थिति अस्पष्ट रही और अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर को उससे निपटना पड़ा।

मलिक अम्बर का उदय तथा स्थिति दृढ़ करने के मुग़ल प्रयत्नों की असफलता

अहमदनगर के पतन और मुग़लों द्वारा बहादुर निज़ाम शाह की गिरफ़्तारी के बाद इस बात की पूरा सम्भावना थी कि अहमदनगर रियासत के टुकड़े हो जाते और पड़ोसी रियासतें उन्हें हस्तगत कर लेतीं, किन्तु मलिक अम्बर के रूप में एक योग्य व्यक्ति के उदय की वजह से ऐसा नहीं हुआ। मलिक अम्बर एक अबीसीनियायी था और उसका जन्म इथियोपिया में हुआ था। उसके प्रारम्भिक जीवन की विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। ऐसा अनुमान है कि उसके निर्धन माता-पिता ने उसे बग़दाद के गुलाम-बाज़ार में बेच दिया था। बाद में उसे किसी व्यापारी ने खरीद लिया और उसे दक्कन ले आया, जहाँ की स्मृद्धि उस काल में बहुत लोगों को आकर्षित करती थी। मलिक अम्बर ने मुरतज़ा निज़ामशाह के प्रभावशाली सरदार चंगेज़खाँ के यहाँ काफ़ी तरक़्क़ी की थी। जब मुग़लों ने अहमदनगर पर आक्रमण किया, तो मलिक अम्बर अपना भाग्य आज़माने के लिए बीजापुर चला गया। लेकिन जल्दी ही वह वापस आ गया और चाँदबीबी के विरोधी हब्शी (अबीसीनियायी) दल में सम्मिलित हो गया। अहमदनगर के पतन के बाद मलिक अम्बर ने एक निज़ामशाही शाहज़ादे को ढूंढ़ निकाला और बीजापुर के शासक की मदद से उसे मुरतज़ा निज़ामशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठा दिया। वह स्वयं उसका पेश्वा बन गया। पेशवा का पद अहमदनगर की रियासत में पहले से प्रचलित था। मलिक अम्बर ने काफ़ी बड़ी मराठा सेना (बारगी) इकट्ठी कर ली। मराठे तेज़ गति वाले थे और दुश्मन की रसद काटने में काफ़ी होशियार थे। यह गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली दक्कन के मराठों के लिए परम्परागत थी, लेकिन मुग़ल इससे अपरिचित थे। मराठों की सहायता से मलिक अम्बर ने मुग़लों को बरार, अहमदनगर और बालाघाट में अपनी स्थिति सुदृढ़ करना कठिन कर दिया।

उस समय दक्कन में मुग़लों का सेनापति अब्दुर्रहीम ख़ान-ए-ख़ानां था, जो एक चालाक और होशियार राजनीतिज्ञ तथा योग्य सैनिक था। उसने 1601 में तेलगाना के नांदेर नामक स्थान पर मलिक अम्बर को बुरी तरह पराजित किया। किन्तु उसने मलिक अम्बर के साथ मित्रता के सम्बन्ध रखने का निर्णय किया क्योंकि वह समझता था कि शेष निज़ामशाही क्षेत्र में स्थायित्व रहना अच्छा है। दूसरी ओर मलिक अम्बर ने भी ख़ान-ए-ख़ानां के साथ मित्रता करना बेहतर समझा क्योंकि इससे उसे अपने आन्तरिक विरोधियों से निपटने का अवसर मिल सकता था। किन्तु अकबर की मृत्यु के बाद मुग़ल सरदारों के पारस्परिक मतभेद के कारण दक्कन में मुग़लों की स्थिति कमज़ोर हो जाने से मलिक अम्बर ने बरार, बालाघाट और अहमदनगर से मुग़लों को खदेड़ने के लिए ज़ोरदार आक्रमण किया। उसके इस प्रयत्न में बीजापुर के शासक इब्राहीम आदिलशाह ने सहायता की क्योंकि वह चाहता था कि अहमदनगर, बीजापुर और मुग़लों के बीच निज़ामशाही राज्य मध्यवर्ती-राज्य(Buffer state)बना रहे। उसने मलिक अम्बर को उसके परिवार में रहने, ख़ज़ाना इकट्ठा करने और भोजन सामग्री रखने के लिए तेलंगाना में क़ंधार का शक्तिशाली क़िला दिया। उसने उसकी मदद के लिए 10,000 घुड़सवार भी भेजे जिनका व्यय पूरा करने के लिए एक क्षेत्र भी सुरक्षित कर दिया गया। इस समझौते को मलिक अम्बर तथा बीजापुर के एक प्रमुख इथियोपियाई सरदार की बेटी के विवाह से और भी दृढ़ बनाया गया। यह विवाह 1609 में बड़ी धूम-धाम से हुआ। आदिलशाह ने वधू को बहुत दहेज दिया और 80,000 रुपये केवल आतिशबाज़ी में ख़र्च किए।

बीजापुर की सहायता से शक्ति बल बढ़ा कर और मराठों की सक्रिय सहायता से अम्बर ने शीघ्र ही ख़ान-ए-ख़ानां को बुरहानपुर तक खदेड़ दिया। अकबर द्वारा दक्कन के विजित प्रदेश इस प्रकार 1610 तक छिन गए यद्यपि जहाँगीर ने शहज़ादा परवेज़ को एक बड़ी सेना देकर दक्कन भेजा था पर वह मलिक अम्बर की चुनौती का सामना नहीं कर सका। यहाँ तक कि अहमदनगर भी छिन गया और शहज़ादा परवेज़ को अम्बर के साथ अपमानजनक समझौता करना पड़ा।

मलिक अम्बर उन्नति करता रहा। जब तक मराठे तथा अन्य दक्कनी तत्व उसकी सक्रिय सहायता करते रहे, मुग़ल अपना प्रभुत्व पुनःस्थापित नहीं कर पाये। लेकिन

धीरे-धीरे मलिक अम्बर उद्धत होकर गया और परिणामत: उसके मित्र उससे दूर हो गये। अब्दुर्रहीम खान-ए-खानां तब तक पुन: दक्कन का वायसराय नियुक्त हो चुका था। उसने इस स्थिति का लाभ उठाया और कई हब्शी सरदारों तथा जगदेव राय, बाबजी काटे, उदाजी राम जैसे कई मराठा सरदारों को अपनी ओर मिला लिया। जहाँगीर स्वयं मराठों के महत्व के प्रति पूरी तरह से सजग था। उसने अपनी जीवनी में लिखा है कि मराठे "सख़्त जान हैं और मुल्क में विरोध का केन्द्र हैं।" मराठा सरदारों की मदद से खान-ए-खानां ने 1616 में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा की संयुक्त सेना को पूरी तरह पराजित किया। मुग़लों ने निज़ामशाही की नयी राजधानी खिरकी पर अधिकार कर लिया और वहाँ से जाने से पहले प्रत्येक इमारत जला डाली। इस पराजय ने मुग़लों के विरुद्ध दक्कनी भाईचारे को हिला दिया। परन्तु मलिक अम्बर ने अपने प्रयत्नों में ढील नहीं आने दी। खान-ए-खानां की विजय को पूर्ण करने के लिए जहाँगीर ने अपने पुत्र शहज़ादा खुर्रम (बाद में शाहजहाँ) के सेनापतित्व में बहुत बड़ी सेना भेजी और स्वयं सहायता पहुँचाने के लिए मांडू आ गया (1618)। इस खतरे को देखते हुए अम्बर को समर्पण करना पड़ा। इस सन्दर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि संधि में जहाँगीर ने अम्बर द्वारा जीते गये प्रदेशों तक अपना दावा नहीं किया। कुछ विद्वान् इसका कारण जहाँगीर की सैनिक-कमज़ोरी मानते हैं किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यह जहाँगीर की नीति के कारण हुआ। स्पष्टत: जहाँगीर दक्कन में मुग़ल-उत्तरदायित्व को बढ़ाना या दक्कन के मामलों में बहुत गहराई से लिप्त होना नहीं चाहता था और फिर उसे आशा थी कि उसकी उदारता से दक्कनी रियासतों को नि:संशय होने का अवसर मिलेगा और वे मुग़लों के साथ मित्रतापूर्वक रह सकेंगी। अपनी नीति के अन्तर्गत ही जहाँगीर ने बीजापुर को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न किया। आदिलशाह को उसने एक उदार फ़रमान भेजा, जिसमें जहाँगीर ने उसे 'बेटा' कहकर सम्बोधित किया था।

इन पराजयों के बावजूद मलिक अम्बर मुग़लों के विरुद्ध दक्कनी-विरोध का नेतृत्व करता रहा और दक्कन में शान्ति स्थापित नहीं हो पायी। परन्तु दो वर्ष पश्चात् ही दक्कनी सेनाओं की मुग़लों के हाथों गम्भीर पराजय हुई। अम्बर को मुग़लों के सब क्षेत्र लौटाने पड़े और उसके पास का 14 कोस का क्षेत्र भी देना पड़ा। दक्कनी रियासतों को पचास लाख रुपये हरजाने के रूप में भी देने पड़े। इन विजयों का श्रेय शहज़ादा ख़ुर्रम को दिया गया।

पहली पराजय के तत्काल बाद इस दूसरी पराजय ने मुग़लों के ख़िलाफ़ दक्कनी रियासतों की एकता को तोड़ कर रख दिया। उनमें पुरानी शत्रुताएं फिर से उभर आईं। मलिक अम्बर ने शोलापुर को पुन: प्राप्त करने के लिए बीजापुर के विरुद्ध कई अभियान छेड़े। शोलापुर दोनों रियासतों के बीच संघर्ष का कारण था। अम्बर द्रुत गति से बीजापुर की राजधानी पहुँचा, इब्राहीम आदिलशाह द्वारा बनवायी नयी राजधानी नौरसपुर को जला डाला और आदिलशाह को क़िले में शरण लेने को विवश कर दिया। यह अम्बर की शक्ति की चरम-सीमा थी।

यद्यपि मलिक अम्बर में उल्लेखनीय सैनिक-कौशल, शक्ति और इच्छाशक्ति थी, किन्तु उसकी उपलब्धियां बहुत कम समय तक बनी रह सकीं क्योंकि मुग़लों के साथ वह मिलकर नहीं रह सका या वह ऐसा करना ही नहीं चाहता था। अम्बर के उदय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि इससे दक्कनी क्रियाकलापों में मराठों के महत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया। मलिक अम्बर के नेतृत्व में सफलता के बाद मराठों में इतना आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया कि कालान्तर में वे स्वतन्त्र भूमिका का निर्माण करने में समर्थ हुए।

मलिक अम्बर ने भू-राजस्व की टोडरमल की प्रणाली को लागू करके निज़ामशाही रियासत के प्रशासन में सुधार लाने का प्रयत्न किया। उसने भूमि को ठेके (इज़ारा) पर देने की पुरानी प्रथा को समाप्त कर दिया क्योंकि वह किसानों के विनाश का कारण बनती थी। इसके स्थान पर उसने ज़ब्ती-प्रणाली को लागू किया।

1622 के बाद जब जहाँगीर के विरुद्ध शहज़ादा शाहजहाँ के विद्रोह के कारण दक्कन में अव्यवस्था हुई, तो मलिक अम्बर ने मुग़लों के हाथों हारे हुए बहुत से क्षेत्र फिर से जीत लिए। इस प्रकार दक्कन में मुग़लों की स्थिति को सुदृढ़ करने के जहाँगीर के प्रयत्न विफल हो गये। किन्तु मुग़लों के साथ शत्रुता को फिर से प्रारम्भ

करने से अहमदनगर को हुए लाभ लम्बे समय तक बने रहे, यह संदेहास्पद है। इससे ऐसी स्थिति पैदा हो गयी कि शाहजहाँ को निर्णय करना पड़ा कि अहमदनगर के स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटाने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है। 1626 में अस्सी वर्ष की आयु में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी। किन्तु उसकी शत्रुता की परम्परा के कड़वे फल उसके उत्तराधिकारियों को चबाने पड़े।

अहमदनगर का विनाश तथा बीजापुर और गोलकुण्डा द्वारा मुग़ल-प्रभुत्व स्वीकार करना

शाहजहाँ 1627 में गद्दी पर बैठा। दक्कन के विरुद्ध दो अभियानों का नेतृत्व करने तथा पिता से विद्रोह के समय वहाँ काफ़ी समय व्यतीत करने के कारण शाहजहाँ को दक्कन और उसकी राजनीति का बहुत व्यक्तिगत ज्ञान था।

शहनशाह के रूप में शाहजहाँ का पहला काम निज़ामशाही शासक द्वारा छीने गए दक्कनी प्रदेशों को वापस लेना था। इस काम के लिए उसने पुराने और अनुभवी सरदार खान-ए-जहाँ लोदी को नियुक्त किया। किन्तु खान-ए-जहाँ अपने प्रयत्न में असफल हुआ और उसे वापस दरबार में बुला लिया गया। लेकिन उसने जल्दी ही विद्रोह कर दिया और निज़ामशाह से मिल गया। निज़ामशाह ने उसे बरार और बालघाट के शेष क्षेत्रों से मुग़लों को खदेड़ने को नियुक्त कर दिया। एक प्रमुख मुग़ल सरदार को इस प्रकार शरण देना एक ऐसी चुनौती थी, जिसे शाहजहाँ नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता था। यह स्पष्ट था कि मलिक अम्बर की मृत्यु के बाद भी बरार और बालघाट पर मुग़ल-प्रभुत्व को अस्वीकार करने की नीति निज़ामशाही शासक ने छोड़ी नहीं थी। अतः शाहजहाँ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि दक्कन में मुग़लों के लिए तब तक शान्ति सम्भव नहीं है, जब तक कि अहमदनगर का स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ है। यह निर्णय अकबर और जहाँगीर की नीति से एकदम अलग था। फिर भी, शाहजहाँ की रुचि दक्कन में अत्यावश्यक से अधिक विस्तार करने की नहीं थी। अतः उसने बीजापुर के शासक के पास यह प्रस्ताव भेजा कि यदि वह अहमदनगर के विरुद्ध आक्रमण में मुग़लों का सहयोग करे तो रियासत का एक-तिहाई उसे दे दिया जायेगा। शाहजहाँ की इस चतुर चाल का मन्तव्य अहमदनगर को राजनयिक और सैनिक स्तर पर अकेला करना था। उसने मुग़लों की सेना में सम्मिलित कराने के लिए मराठा सरदारों के पास भी टोह लेने के लिए व्यक्ति भेजे।

शाहजहाँ को अपने प्रयत्नों में प्रारम्भिक सफलता मिली। मलिक अम्बर ने अपने अभियानों के दौरान कुछ महत्वपूर्ण बीजापुरी सरदारों की हत्या कर दी थी। आदिलशाह भी मलिक अम्बर द्वारा नौरसपुर को जलाने और शोलापुर को छीन लेने के अपमान से जल रहा था। अतः उसने शाहजहाँ का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और निज़ामशाही सीमा पर मुग़लों की सहायता के लिए सेना तैनात कर दी। लगभग इसी समय एक महत्वपूर्ण मराठा सरदार लखजी जाधव पर मुग़लों के साथ षड़यन्त्र करने का आरोप लगाकर कपटता से मार डाला गया। जाधव जहाँगीर के समय मुग़लों के साथ मिल गया था, लेकिन बाद में निज़ामशाह की सेवा में चला गया था। जाधव की हत्या के परिणामस्वरूप उसका दामाद शाहजी भोंसले (शिवाजी का पिता) अपने सम्बन्धियों के साथ मुग़लों के साथ मिल गया। शाहजहाँ ने उसे पंचहज़ारी का मनसब दिया और उसे पूना क्षेत्र में जागीर दी। कई और महत्वपूर्ण मराठा सरदार भी शाहजहाँ के पक्ष में हो गये।

1629 में शाहजहाँ ने अहमदनगर के विरुद्ध विशाल सेनायें तैनात कर दीं। उनमें से एक को बालाघाट क्षेत्र में पश्चिम से आक्रमण करना था और दूसरी को तेलंगाना क्षेत्र में पूर्व से। उनकी गतिविधियों में सामंजस्य बनाये रखने के लिए शाहजहाँ स्वयं बुरहानपुर चला गया। भारी दबाव डालकर अहमदनगर रियासत का बड़ा हिस्सा मुग़ल अधिकार में ले लिया गया। रियासत की एक बाहरी चौकी परेण्डा पर घेरा डाल दिया गया। अब निज़ामशाह ने आदिलशाह के पास दयनीयता से भरी प्रार्थना भेजी और कहा कि रियासत का अधिकांश भाग पहले ही मुग़ल अधिकार में है, अगर परेण्डा का भी पतन हो गया तो उसका अर्थ होगा निज़ामशाही वंश का अन्त। साथ ही उसने चेतावनी भी दी कि अहमदनगर के बाद बीजापुर की बारी आयेगी। बीजापुर के दरबार में, मुग़लों की तेज़ गति को देखकर सरदारों का शक्तिशाली दल बेचैन था। वास्तव में सीमा पर स्थित बीजापुरी सेनाओं ने मात्र दर्शक की

हैसियत से सारा घटना-क्रम दिखाया। उन्होंने मुग़ल कार्यवाही में सक्रिय भाग नहीं लिया था। दूसरी ओर मुग़लों ने संधि के अनुसार अहमदनगर के जीते हुए क्षेत्रों का एक तिहाई आदिलशाह को देने से इनकार कर दिया था। परिणामत: आदिलशाह ने पासा पलटा और निज़ामशाह की सहायता करने का निर्णय कर लिया। निज़ामशाह ने उसे शोलापुर लौटा देने का वायदा किया था। राजनीतिक परिस्थितियों के इस परिवर्तन से विवश होकर मुग़लों ने परेण्डा का घेरा उठा लिया और पीछे हट गये। किन्तु तभी अहमदनगर की आन्तरिक स्थिति मुग़लों के हक़ में हो गयी। मलिक अम्बर के पुत्र फ़तहख़ाँ को निज़ामशाह ने कुछ समय पूर्व ही इस आशा से पेशवा नियुक्त किया था कि वह शाहजहाँ को शान्ति की संधि के लिए प्रेरित कर लेगा। लेकिन, फ़तहख़ाँ ने शाहजहाँ से समझौता कर लिया और उसके कहने पर उसने निज़ामशाह की हत्या कर दी और एक कठपुतली को गद्दी पर बिठा दिया। उसने मुग़ल बादशाह के नामसे ख़ुत्बा भी पढ़ा और सिक्का भी निकाला। इनाम के रूप में फ़तहख़ाँ को मुग़ल-सेवा में ले लिया गया और उसे पूना के निकट वह जागीर प्रदान कर दी गई जो पहले शाहजी को दी गई थी। इसके परिणामस्वरूप शाहजी ने मुग़लों का पक्ष छोड़ दिया। यह घटना 1632 में घटी।

फ़तहख़ाँ के समर्पण के बाद शाहजहाँ ने महाबतख़ाँ को दक्कन का वायसराय नियुक्त कर दिया और स्वयं आगरा लौट गया। बीजापुर और स्थानीय निज़ामशाही सरदारों के संयुक्त विरोध के कारण महाबतख़ाँ ने स्वयं को बहुत कठिन परिस्थितियों से घिरा पाया। परेण्डा बीजापुर को समर्पण कर दिया। बीजापुर ने दौलताबाद के क़िले पर ज़ोरदार दावा किया। इसके लिए बीजापुर ने फ़तहख़ाँ को भी क़िले के समर्पण के बदले पैसा देने का लालच दिया। और स्थानों पर भी मुग़लों ने अपनी स्थिति को बनाये रखना कठिन पाया।

अत: यह स्पष्ट है कि पराजित अहमदनगर को आपस में बाँटने के लिए मुग़लों और बीजापुर में वास्तव में संघर्ष था। आदिलशाह ने 1633 में दौलताबाद से समर्पण करवाने तथा वहाँ की सेना को रसद पहुँचाने के लिए रदौलाख़ाँ और मुरारी पंडित के नेतृत्व में एक विशाल सेना भेजी। शाहजी को भी मुग़लों को परेशान करने तथा उनकी रसद काटने के लिए बीजापुर की सेवा में ले लिया गया था। परन्तु बीजापुरी सेनाओं और शाहजी की सम्मिलित शक्ति सफल नहीं हो सकी। महाबतख़ाँ ने दौलताबाद के एकदम निकट पहुँच कर घेरा डाल दिया और वहाँ की सेना को समर्पण करने पर विवश कर दिया। निज़ामशाह को ग्वालियर की जेल में भेज दिया गया। इसी से निज़ामशाही वंश का अन्त हो गया। लेकिन इससे भी मुग़लों की समस्याओं का अन्त नहीं हुआ। मलिक अम्बर का अनुसरण करते हुए शाहजी ने एक निज़ामशाही शाहज़ादे को ढूँढ़ लिया और उसे शासक बना दिया। आदिलशाह ने सात से आठ हज़ार घुड़सवारों की सेना शाहजी की सहायता के लिए भेजी और अनेक निज़ामशाही सरदारों को अपने क़िले शाहजी को समर्पित करने के लिए प्रेरित किया। अनेक बिखरे हुए निज़ामशाही सिपाही शाहजी की सेना में आ गये और उसकी सेना बीस हज़ार घुड़सवारों तक पहुँच गयी। इस सेना की सहायता से उसने मुग़लों को काफ़ी परेशान किया और अहमदनगर रियासत के बहुत से भागों पर अधिकार कर लिया।

इसके बाद शाहजहाँ ने दक्कन की समस्या पर व्यक्तिगत ध्यान देने का निर्णय ले लिया। उसने यह समझ लिया कि समस्या का मूल कारण बीजापुर का रूख है। इसलिए उसने एक बड़ी सेना बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए रवाना की और साथ ही आदिलशाह के पास इस टोह के लिए भी दूत भेजे कि पुरानी संधि को लागू करके अहमदनगर रियासत को बीजापुर और मुग़लों में विभाजित कर लिया जाए।

लालच और छड़ी की इस नीति तथा शाहजहाँ के दक्कन की ओर कूच से बीजापुर की नीति में एक और परिवर्तन हुआ। मुरारी पंडित सहित मुग़ल विरोधी दल के नेताओं को अपदस्थ करके मार डाला गया और शाहजहाँ के साथ एक नयी संधि या अहदनामें पर हस्ताक्षर किये गए। इस संधि के अनुसार आदिलशाह ने मुग़लों की प्रभुता को स्वीकार कर लिया और बीस लाख रुपयों का हरजाना देना भी स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही उसने गोलकुण्डा के कार्यों में भी हस्तक्षेप न करना स्वीकार किया, जो मुग़लों की सुरक्षा में था। यह भी तय किया गया कि बीजापुर और गोलकुण्डा के बीच सभी भावी विवाद शाहजहाँ की मध्यस्थता से हल होंगे। आदिलशाह ने यह भी मंजूर किया कि शाहजी को क़ाबू में करने के लिए वह मुग़लों के साथ मिल कर काम करेगा, और

शाहजी द्वारा बीजापुर की सेवा में आना स्वीकार कर लेने पर उसे मुग़ल-सीमा से दूर दक्षिण में तैनात करेगा। इन सबके बदले में बीस लाख हून (लगभग अस्सी लाख रुपये) सालाना की आय वाला अहमदनगर रियासत का एक भाग बीजापुर को दे दिया गया। शाहजहाँ ने संधि की अटूटता का विश्वास दिलाने के लिए आदिलशाह के पास अपनी हथेली की छाप लगा कर प्रतिज्ञा करते हुए एक फ़रमान भी भेजा।

शाहजहाँ ने गोलकुण्डा के साथ भी एक संधि करके दक्कन के मामलों पर समझौते को अन्तिम रूप दिया। गोलकुण्डा के शासक ने ख़ुत्बे से ईरान के शाह का नाम निकाल कर शाहजहाँ का नाम सम्मिलित करना स्वीकार कर लिया। क़ुतुबशाह ने मुग़ल बादशाह के प्रति वफ़ादार रहने का वचन दिया। इसके बदले चार लाख हूनों का वह कर, जो पहले गोलकुण्डा बीजापुर को देता था, माफ़ कर दिया गया। सुरक्षा के बदले मुग़ल बादशाह को दो लाख हून सालाना देने की व्यवस्था रखी गयी।

बीजापुर और गोलकुण्डा से 1636 की ये संधियाँ राजनीतिज्ञोचित थीं। वस्तुतः इनके माध्यम से शाहजहाँ ने अकबर के अन्तिम लक्ष्यों को पूर्ण किया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक मुग़लों की प्रभुत्ता स्वीकार कर ली गयी थी। मुग़लों के साथ शान्ति-संधि ने दक्कनी रियासतों को दक्षिण की ओर अपने विस्तार का और अगले दो दशकों में उन्हें अपनी शक्ति और समृद्धि की चरम सीमा तक पहुँचने का अवसर प्रदान किया।

1636 की संधि के बाद के दशक में बीजापुर और गोलकुण्डा ने कृष्ण नदी से तंजोर और उससे भी आगे के समृद्ध और उपजाऊ क्षेत्र को रौंद डाला। इस क्षेत्र में कई छोटी-छोटी स्वतन्त्र हिन्दू रियासतें थीं जिनमें से बहुत नाममात्र को ही विजयनगर के भूतपूर्व राजा रयाल के प्रति वफ़ादार थीं, जैसे तंजोर, मदुराई और जिंजी के नायकों की रियासतें। इन रियासतों के विरुद्ध बीजापुर और गोलकुण्डा ने लगातार कई आक्रमण किए। शाहजहाँ की मध्यस्थता से उन्होंने यह समझौता कर लिया कि विजित प्रदेश और लूट को दो और एक के अनुपात से विभाजित कर लिया जायेगा। दो-तिहाई बीजापुर का भाग था और एक-तिहाई गोलकुण्डा का। इन दोनों के मध्य अनेक झगड़ों के बावजूद दक्षिण में विजयों का क्रम जारी रहा। इस प्रकार बहुत कम समय में ही इन दोनों रियासतों का क्षेत्रफल दुगुने से भी अधिक हो गया और ये अपनी शक्ति और समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गयीं। यदि ये शासक जीते हुए प्रदेशों में अपनी स्थिति मज़बूत बनाये रख सकते, तो दक्कन में एक लम्बा शान्ति-काल स्थापित हो सकता था। दुर्भाग्य से तेज़ी से हुए विस्तार के कारण इन दोनों रियासतों में बचा-खुचा आन्तरिक सामंजस्य भी समाप्त हो गया। बीजापुर में महत्वाकांक्षी सरदार शाहजी और उसके पुत्र शिवाजी ने तथा गोलकुण्डा में प्रमुख सरदार मीर जुमला ने अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र बनाने शुरू कर दिए। मुग़लों ने भी देखा कि दक्कन में शक्ति-सन्तुलन बिगड़ गया है। उन्होंने भी विस्तारवादी कार्यवाही के समय कृपापूर्वक तटस्थ बने रहने की क़ीमत माँगी। 1656 में मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु और दक्कन में औरंगज़ेब के मुग़ल वायसराय बन कर आ जाने से ये परिस्थितियाँ पूरी तरह से परिपक्व हो गयीं। इन परिस्थितियों का विवेचन एक अलग अध्याय में किया जायेगा।

दक्कनी रियासतों का सांस्कृतिक योगदान

दक्कनी रियासतों को अनेक सांस्कृतिक योगदानों का क्षेत्र माना जाता है। अली आदिलशाह (मृ० 1580) हिन्दू और मुसलमान सन्तों से चर्चाएँ करना पसन्द करता था उसे 'सूफ़ी' के रूप में जाना जाता था। उसने अपने दरबार में अकबर से कहीं पहले ईसाई धर्म-प्रचारकों को आमन्त्रित किया था। उसके पास बहुत समृद्ध पुस्तकालय था, जिसमें उसने संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य वामन पंडित को नियुक्त किया था। संस्कृत और मराठी को संरक्षण देने की परम्परा का पालन उसके उत्तराधिकारियों ने भी किया।

अली आदिलशाह का उत्तराधिकारी इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (1580-1627) केवल नौ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। वह निर्धनों का बहुत ख्याल रखता था और उसे "अबला बाबा" अर्थात् "निर्धनों का मित्र" कहा जाता था। संगीत में उसकी गहरी रुचि थी। उसने रागों पर आधारित गीतों की एक पुस्तक 'किताब-ए-नौरस' लिखी थी। उसने एक नये नगर का निर्माण करवाया, जिसका नाम नौरसपुर रखा गया और वहाँ बसने के लिए अनेक संगीतकारों को आमन्त्रित किया गया। अपने गीतों

में उसने बार-बार संगीत और ज्ञान की देवी सरस्वती की वन्दना की है। अपने विशाल दृष्टिकोण के कारण वह "जगत गुरु" कहलाता था। उसने हिन्दू सन्तों और मन्दिरों सहित सभी को संरक्षण दिया। उसने विटोभा की भक्ति के केन्द्र पण्धारपुर को भी अनुदान दिया। यह महाराष्ट्र में भक्ति-आन्दोलन का केन्द्र बना।

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय की उदार सहिष्णुता की नीति का पालन उसके उत्तराधिकारी करते रहे। अहमदनगर रियासत में मराठा-वंशों द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। क़ुतुबशाह ने भी हिन्दू और मुसलमान दोनों का सेना, प्रशासन और राजनीयिक सेवाओं में उपयोग किया। इब्राहीम क़ुतुबशाह (मृ० 1580) के शासनकाल में मुराहरी राव रियासत के पेशवा पद तक पहुँचा। पेशवा का पद मीर जुमला अथवा वज़ीर के पद से नीचे का पद था। वंश के प्रारंभ होने के समय से ही नायकवाड़ी तत्व, जो सैनिक और ज़मीदार थे, रियासत में प्रभावशाली थे। 1672 से 1687 तक, जब तक कि रियासत का मुग़ल साम्राज्य में विलयन नहीं हो गया, अहमदनगर के प्रशासनिक और सैनिक कार्यकलापों पर मदन्ना और अखन्ना नामक दो भाईयों का प्रभाव था।

गोलकुण्डा साहित्यकारों का बौद्धिक क्रीड़ा-स्थल था। अकबर का समकालीन सुल्तान मुहम्मद क़ुली क़ुतबशाह साहित्य और स्थापत्य-कला में बहुत रुचि रखता था। सुल्तान न केवल कलाओं और साहित्य का संरक्षक था बल्कि स्वयं भी अच्छा कवि था। वह दक्कनी उर्दू, फ़ारसी और तेलुगू में काव्य रचना करता था। उसने पीछे एक वृहद दीवान छोड़ा। वह पहला व्यक्ति था जिसने काव्य में धर्म-निरपेक्ष विषयों की बात उठाई। ख़ुदा और हज़रत की प्रशंसा के अतिरिक्त उसने प्रकृति, प्रेम और तत्कालीन सामाजिक जीवन पर भी लिखा। उर्दू के दक्कनी रूप का विकास इस काल की महत्वपूर्ण घटना है। मुहम्मद क़ुली क़ुतबशाह के उत्तराधिकारियों तथा अनेक कवियों ने उर्दू को साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाया। इन कवियों ने शैली, मुहावरे, कथ्य और शब्दों के लिए फ़ारसी के साथ-साथ हिन्दी और तेलुगू को आधार बनाया। बीजापुर में भी उर्दू को संरक्षण प्रदान किया गया। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के राजकवि नुसरअली ने कनकपुर के शासक राजकुमार मनोहर पर एक प्रेम काव्य की रचना की। अठारहवीं शताब्दी में उर्दू दक्कन से उत्तर में आयी।
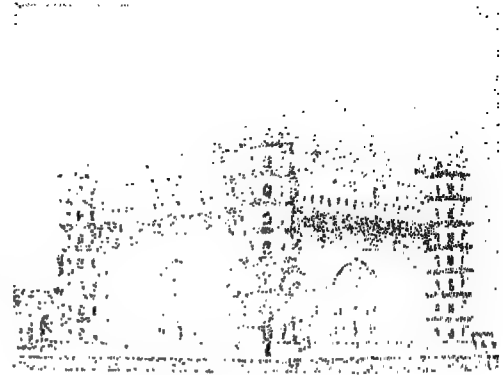
बीजापुर का गोल गुम्बज़

स्थापत्य के क्षेत्र में क़ुली क़ुतबशाह ने अनेक इमारतों का निर्माण करवाया। इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध इमारत चार मीनार है। यह इमारत क़ुली क़ुतबशाह द्वारा निर्मित नये नगर हैदराबाद के बीचों-बीच बनायी गई थी। इसका निर्माण 1591-92 में पूरा हुआ था। इस इमारत में चार दिशाओं में चार ऊँची-ऊँची महराबें हैं। इसकी मुख्य सुन्दरता 48 मीटर ऊँची चार मंज़िलों वाली चार मीनारें हैं। महराबों की दोहरी दीवारों पर महीन मीनाकारी की गई है। बीजापुर के शासकों ने स्थापत्य कला का स्तर निरन्तर ऊँचा रखा। उस काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध बीजापुरी इमारतें इब्राहीम रोज़ा और गोल गुम्बज़ है। इब्राहीम रोज़ा, इब्राहीम आदिलशाह का मक़बरा है और स्थापत्य कला का शानदार नमूना है। गोल गुम्बज़ का निर्माण 1660 में हुआ था। यह संसार का सबसे बड़ा गुम्बद है। इसके अनुपातों में संगति है। विशाल गुम्बद को सानुपातिक रखने के लिए उसके चार कोनों पर ऊँची शुडांकार मीनारें बनाई गई हैं। कहा जाता है कि मुख्य कक्ष के एक कोने में की गई फुसफुसाहट दूसरे कोने में साफ़-साफ़ सुनाई देती है।

अतः यह स्पष्ट है कि दक्कनी रियासतों ने साम्प्रदायिक सामंजस्य के स्तर को बनाये रखने में सफलता प्राप्त की और संगीत, साहित्य और स्थापत्य के क्षेत्रों में भी काफ़ी योगदान दिया।

प्रश्न-अभ्यास

1. विजयनगर साम्राज्य के पतन के बाद दक्कन की राजनीतिक परिस्थितियों की मख्य विशेष-ताओं का वर्णन कीजिए।
2. अकबर के शासनकाल में दक्कन में मुग़लों की सफलताओं का मूल्यांकन कीजिए।
3. दक्कन की राजनीतिक गतिविधियों में मलिक अम्बर की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. शाहजहाँ के शासनकाल में दक्कन में मुग़ल साम्राज्य के विस्तार का वर्णन कीजिए।
5. दक्कन राज्यों की सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

अध्याय 15

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का भारत

राजनीतिक तथा प्रशासनिक विकास

भारत में सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध कुल मिलाकर प्रगति तथा विकास का काल था। इस अवधि में मुग़ल साम्राज्य पर दो कुशल शासकों, जहाँगीर (1605-27) तथा शाहजहाँ (1628-58) ने राज्य किया। जैसा कि हम देख चुके हैं दक्षिण भारत में भी बीजापुर तथा गोलकुण्डा में यह युग आंतरिक शांति तथा सांस्कृतिक विकास का युग था। मुग़ल शासकों ने अकबर द्वारा विकसित प्रशासनिक व्यवस्था का और प्रसार किया। उन्होंने राजपूतों के साथ मैत्री बनाए रखी तथा अफ़ग़ानों और मराठों जैसे शक्तिशाली वर्गों की मित्रता हासिल कर साम्राज्य की राजनीतिक नींव को और मज़बूत किया। उन्होंने अपनी राजधानियों में सुन्दर भवनों का निर्माण किया जिनमें से कई संगमरमर के थे। इसके अलावा उन्होंने मुग़ल राजदरबार को देश का सांस्कृतिक केन्द्र बनाने की चेष्टा की। इन शासकों ने ईरानियों, तुर्कों तथा उज़बेकों जैसे पड़ोसी लोगों के साथ भारत के सम्बन्ध अच्छे बनाने में सक्रिय योगदान दिया। इससे भारत के विदेश व्यापार की संभावनाएँ बढ़ीं। उन्होंने विभिन्न यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों को जो छूट दी उससे भी भारत का विदेश व्यापार काफ़ी बढ़ा। लेकिन इसी अवधि में कुछ हानिकारक तत्व भी उभर कर सामने आये। शासक वर्ग के बीच की समृद्धि किसानों तथा श्रमिकों तक नहीं पहुँची। मुग़ल शासक वर्ग पश्चिम के विज्ञान तथा तकनीक के विकास से भी अनजान रहा। सिंहासन के उत्तराधिकार की समस्या को लेकर राजनीतिक अस्थिरता पैदा हुई जिससे राजनीतिक व्यवस्था के अलावा देश की आर्थिक तथा उसके सामाजिक विकास पर भी प्रभाव पड़ा।

अकबर का सबसे बड़ा पुत्र जहाँगीर बिना किसी बाधा के सम्राट् बन सका क्योंकि उसके अन्य छोटे भाई अकबर के ही जीवनकाल में अत्यधिक मद्यपान के कारण मर गए थे। लेकिन जहाँगीर के सम्राट् बनने के कुछ ही समय बाद उसके बड़े लड़के खुसरो ने विद्रोह कर दिया। उस काल में सिंहासन के लिए पिता तथा पुत्र के बीच संघर्ष होना बहुत अनोखी बात नहीं थी। जहाँगीर ने स्वयं अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया था और कुछ समय तक सारे साम्राज्य में अशान्ति फैल गई थी। खुसरो का विद्रोह अधिक दिनों तक नहीं चल सका। जहाँगीर ने लाहौर के निकट एक युद्ध में उसे पराजित किया और उसके शीघ्र बाद उसे बन्दी बना लिया।

बंगाल

बंगाल हम देख चुके हैं कि किस प्रकार जहाँगीर ने मेवाड़ के साथ चले आ रहे चार दशकों के संघर्ष को समाप्त किया। इसके अलावा उसने दक्कन में मलिक अम्बर को भी परास्त किया जो अकबर के प्रस्तावित समझौते को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उधर पूर्व में भी स्थिति अशांत थी। यद्यपि अकबर ने उस क्षेत्र में शक्तिशाली अफ़ग़ानों की रीढ़ तोड़ दी थी फिर भी पूर्वी बंगाल के कई हिस्सों में अफ़ग़ान सरदार अभी भी शक्तिशाली बने हुए थे। उन्हें जैसोर, कामरूप (पश्चिम असम), कछाड़ आदि प्रान्तों के हिन्दू राजाओं का समर्थन प्राप्त था। अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में अकबर ने बंगाल के प्रशासक राजा मानसिंह को वापस दरबार में बुला लिया था और इसका लाभ उठाकर अफ़ग़ान सरदार उस्मानख़ाँ तथा अन्य सरदारों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था। जहाँगीर ने कुछ समय बाद मानसिंह को वापस वहाँ भेजा, लेकिन स्थिति बिगड़ती ही गई। 1608 में जहाँगीर ने प्रसिद्ध सूफ़ी संत शेख़ सलीम चिश्ती के पोते इस्लामख़ाँ को बंगाल भेजा। इस्लामख़ाँ ने वहाँ बड़े उत्साह और दूरदर्शिता से काम लिया। उसने जैसोर के राजा तथा अन्य ज़मींदारों को अपने पक्ष में कर लिया और विद्रोहियों का मुक़ाबला करने के लिए ढाका को अपना अड्डा बनाया जो सामरिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था। उसने सबसे पहले सोनार गाँव के विजय की ओर ध्यान दिया जो मूसाख़ाँ तथा उसके साथियों, जिन्हें 'बारह भुइया' पुकारा जाता था, के नियंत्रण में था। तीन वर्ष के लम्बे अभियान के बाद सोनार गाँव पर मुग़लों का क़ब्ज़ा हो गया। इसके शीघ्र ही बाद मूसाख़ाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे वन्दी बनाकर मुग़ल राजदरबार में भेज दिया गया। इसके बाद उस्मानख़ाँ की बारी थी जिसे एक भीषण युद्ध में इस्लामख़ाँ ने पराजित किया। इसके साथ ही अफ़ग़ान विद्रोहियों की हिम्मत टूट गई और बाक़ियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। जैसोर तथा कामरूप के क्षेत्रों को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया गया और इसके साथ ही पूर्वी बंगाल पर मुग़लों की सत्ता अच्छी तरह क़ायम हो गई। इस क्षेत्र को पूरी तरह नियन्त्रण में रखने के लिए प्रान्तीय राजधानी राजमहल से ढाका ले जाई गई जिसका अब बहुत तेज़ी से विकास आरम्भ हुआ।

अकबर की तरह जहाँगीर भी इस बात को समझता था कि किसी भी क्षेत्र को अधिक समय तक बल प्रयोग से नहीं बल्कि वहाँ के लोगों का मन जीतकर उसे अधीन रखा जा सकता है। उसने पराजित अफ़ग़ान सरदारों तथा उनके समर्थकों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव किया। कुछ समय के बाद बंगाल के कई ज़मींदारों और राजकुमारों को रिहा कर दिया गया और उन्हें बंगाल वापस जाने की स्वीकृति दे दी गई। यहाँ तक कि मूसाख़ाँ को भी छोड़ दिया गया और उसकी जागीरें उसे वापस दे दी गईं। इस प्रकार एक लम्बी अवधि के बाद बंगाल में शान्ति तथा समृद्धि के युग का फिर प्रारम्भ हुआ। इस प्रक्रिया में सहायता देने के लिए कुछ अफ़ग़ान मुग़ल सरदार भी बनाए गए। जहाँगीर के शासनकाल में प्रमुख अफ़ग़ान सरदार ख़ान-ए-जहाँ लोदी था जिसने दक्कन में बड़ी बहादुरी दिखाई थी। 1622 तक जहाँगीर मलिक अम्बर को परास्त करने, बंगाल में शान्ति स्थापित करने तथा मेवाड़ के साथ चल रहे लंबे संघर्ष को समाप्त करने में सफल हो गया। जहाँगीर अभी भी जवान था (51)। लगता था कि उसके आगे शान्ति और समृद्धि का एक लंबा युग है। लेकिन दो कारणों से स्थिति बिल्कुल ही बदल गई। इनमें से पहला कारण क़ंधार पर फ़ारस की विजय थी जिससे मुग़ल प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचा। इसके अलावा जहाँगीर का स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा था और इसके परिणामस्वरूप उसके बेटों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष आरम्भ हो गया था और सरदार अपनी शक्ति बढ़ाने की ताक में लगे थे। इन कारणों से अब नूरजहाँ राजनीतिक क्षेत्र में उतर आई।

नूरजहाँ

नूरजहाँ की कहानी, शेर अफ़ग़ान नामक एक ईरानी के साथ उसका प्रथम विवाह और एक लड़ाई में उसकी मृत्यु, जहाँगीर के एक वरिष्ठ सम्बन्धी के साथ नूरजहाँ का आगरा में ठहरना और चार साल बाद (1611) जहाँगीर के साथ उसके विवाह की घटनाओं से हम अच्छी तरह परिचित हैं और उन्हें विस्तार में दोहराने की आवश्यकता नहीं। इतिहासकार इस बात पर विश्वास नहीं करते कि नूरजहाँ के पहले पति की मत्यु के लिए जहाँगीर उत्तरदायी था। मीना बाज़ार में जहाँगीर से नूरजहाँ की

अचानक मुलाक़ात और बाद में शादी, कोई विचित्र बात नहीं थी। नूरजहाँ का परिवार एक प्रतिष्ठित परिवार था और उसका पिता इतमाद्दुदौला जहाँगीर के शासनकाल के प्रथम वर्ष में ही दीवान बन गया था। उसके एक लड़के ने खुसरो के विद्रोह में भाग लिया था और इसलिए नूरजहाँ के पिता को भी उसके पद से हटा दिया गया था लेकिन शीघ्र ही उसे उसका पद वापस मिल गया। अपनी कार्यकुशलता तथा जहाँगीर के साथ अपनी पुत्री के विवाह के बाद इतमाद्दुदौला को प्रमुख दीवान बना दिया गया। इसके अलावा इस विवाह से परिवार के अन्य सदस्यों को भी लाभ पहुँचा और उनका मनसब बढ़ा दिया गया। इतमाद्दुदौला कुशल, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा सम्राट् के प्रति निष्ठावान था और दस वर्ष बाद अपनी मृत्यु तक राज्य के मामलों में उसकी काफ़ी चलती रही। नूरजहाँ का भाई आसफ़ख़ाँ भी एक योग्य तथा विद्वान व्यक्ति था। उसे ख़ान-ए-सामां नियुक्त किया गया (ख़ान-ए-सामां ऐसे सरदार होते थे जिन पर सम्राट् को अत्यधिक विश्वास रहता था।) एक वर्ष बाद आसफ़ख़ाँ ने अपनी पुत्री का विवाह ख़ुर्रम (शाहजहाँ) से किया। ख़ुसरो के विद्रोह और उसकी गिरफ़्तारी के बाद ख़ुर्रम अब अपने पिता का सबसे प्रिय पुत्र बन गया था।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि अपने पिता तथा भाई के साथ मिलकर और ख़ुर्रम की सहायता से नूरजहाँ ने अपना एक ऐसा छोटा सा दल बना लिया था जिसका जहाँगीर पर इतना नियंत्रण हो गया था कि उसके समर्थन के बिना कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता था। इसी कारण बाद में दो गुट हो गये थे। एक नूरजहाँ का था तथा दूसरा उसके विरोधियों का। यह भी कहा जाता है कि नूरजहाँ की महत्वाकांक्षाओं के कारण ही शाहजहाँ से उसका मतभेद हो गया और इसी कारण 1622 में शाहजहाँ अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह पर उतर आया। उसे यह अनुभव होने लगा था कि जहाँगीर पूरी तरह नूरजहाँ की मुट्ठी में है। कुछ अन्य इतिहासकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि जैसा कि जहाँगीर की आत्मकथा से स्पष्ट है, 1622 में अपने स्वास्थ्य के गिरने तक जहाँगीर स्वयं सभी राजनीतिक निर्णय लेता था। इस अवधि में नूरजहाँ की राजनीतिक भूमिका स्पष्ट नहीं। उसका प्रभाव अधिकतर शाही घराने पर था और उसने फ़ारसी परंपराओं पर आधारित नये फैशनों का प्रचलन किया। उसके प्रभाव के कारण ही राजदरबार में फ़ारसी कला तथा संस्कृति को प्रतिष्ठा मिली। नूरजहाँ जहाँगीर की बराबर की साथी थी और वह उसके साथ शिकार पर भी जाती थी। जहाँगीर स्वयं एक कुशल घुड़सवार तथा निशाने का पक्का था। इस कारण वह जहाँगीर को प्रभावित अवश्य कर सकती थी और कई लोग सम्राट् के साथ अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए उसकी सिफ़ारिश का अनुरोध करते थे। इसके बावजूद जहाँगीर, नूरजहाँ या उसके दल पर निर्भर नहीं था। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि ऐसे सरदार, जो इस विशेष दल के प्रिय नहीं थे, उनकी भी पदोन्नति हुई। शाहजहाँ भी अपने व्यक्तिगत गुण तथा उपलब्धियों के कारण आगे बढ़ा, न कि नूरजहाँ की सिफ़ारिश से। शाहजहाँ स्वयं भी महत्वाकाँक्षी था पर जहाँगीर को इस बात की खबर नहीं थी। जो भी हो, उन दिनों कोई भी शासक अपने पुत्र या किसी सरदार को शक्तिशाली होने का मौक़ा नहीं दे सकता था क्योंकि बाद में वे ही उसके लिए काल बन जाते थे। जहाँगीर तथा शाहजहाँ के बीच संघर्ष का यही मूल कारण था।

शाहजहाँ का विद्रोह

जब तक ख़ुसरो जीवित था वह शाहजहाँ का प्रतिद्वन्द्वी बना रहा। लेकिन 1621 में शाहजहाँ ने बन्दी किए गए ख़ुसरो को मार डाला तथा यह अफवाह फैला दी कि वह बीमारी के कारण मरा है। इसके कुछ ही पहले जहाँगीर ने यह अनुभव किया कि शाहजहाँ बहुत शक्तिशाली बनता जा रहा है। उसने उसके छोटे भाई शहरयार को आगे बढ़ाने की कोशिश की। शहरयार का विवाह नूरजहाँ के पहले पति से हुई लड़की के साथ कर दिया गया तथा उसे एक महत्वपूर्ण सैनिक दल का सेनाध्यक्ष बना दिया गया। इन्हीं कारणों से शाहजहाँ विद्रोह पर उतर आया। इसका तात्कालिक कारण शाहजहाँ का क़ंधार जाने से, जो ईरान की सेना के घेरे में था, इन्कार करना था। शाहजहाँ को डर था कि यह अभियान बड़ा कठिन तथा लंबा होगा और उसकी अनुपस्थिति में उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचे जायेंगे। इसलिए उसने कई माँगें रखीं जिनमें ऐसी शक्तिशाली सेना का पूर्ण नेतृत्व था जिसमें दक्कन के कई बहादुर शामिल थे।

इसके अलावा वह कई क़िलों तथा सारे पंजाब पर अपना प्रभुत्व चाहता था। उसके इस व्यवहार से जहाँगीर क्रोधित हो गया। उसे विश्वास हो गया कि शाहजहाँ विद्रोह करने की सोच रहा है और उसने उसे कड़ी चिट्ठियाँ लिखीं तथा ऐसे क़दम उठाये जिससे दोनों के बीच की खाई और गहरी हो गई तथा स्थिति अधिक खराब हो गई। शाहजहाँ उन दिनों मांडू में था। वहाँ से वह जल्दी चलकर आगरा आया ताकि वहाँ के खज़ाने को अपने बस में कर सके। शाहजहाँ को दक्कन की सेना तथा वहाँ के सरदारों का पूरा समर्थन प्राप्त था। गुजरात तथा मालवा ने भी उसका साथ दिया। इसके अलावा उसे अपने ससुर आसफ़खाँ तथा दरबार के अन्य सरदारों का भी समर्थन प्राप्त था। लेकिन दूसरी ओर आगरा में नियुक्त मुग़ल सेनाध्यक्ष बहुत सतर्क था और उसने शाहजहाँ के प्रयास को विफल कर दिया। शाहजहाँ अब दिल्ली की ओर मुड़ा। लेकिन इस समय तक जहाँगीर महाबतखाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना संगठित करने में सफल हो गया था। होने वाली लड़ाई में शाहजहाँ पराजित हुआ और मेवाड़ के एक दल की बहादुरी के कारण ही बच सका। महाबतखाँ को अब मांडू (मालवा) जाने का आदेश मिला और राजकुमार परवेज़ को सेनाध्यक्ष बनाया गया। सेना की एक अन्य टुकड़ी को शाहजहाँ के हाथों से गुजरात वापस लेने के लिए भेजा गया। इस प्रकार शाहजहाँ को मुग़ल क्षेत्रों से खदेड़ दिया गया और उसे अपने पहले के शत्रुओं, दक्कन के राजाओं, की शरण लेनी पड़ी। कुछ ही समय बाद शाहजहाँ दक्कन पार कर उड़ीसा पहुँच गया और वहाँ के प्रशासक को अचानक हमले से अचम्भित कर दिया। जल्दी ही बंगाल और बिहार शाहजहाँ के नियन्त्रण में आ गये। महाबतखाँ को वापस बुलाया गया और उसे दक्कन छोड़कर पूर्व में जाने को कहा गया जहाँ शाहजहाँ इलाहाबाद पर हमले की तैयारी कर रहा था। महाबतखाँ की सैनिक योग्यता के सामने एक बार फिर शाहजहाँ को हारकर दक्कन लौटना पड़ा। इस बार उसने मलिक अम्बर के साथ संधि की जो फिर मुग़लों से लोहा लेने पर तुल गया था। शाहजहाँ ने बुरहानपुर पर क़ब्ज़ा करने की चेष्टा की पर असफल रहा। आखिर में उसने जहाँगीर को एक पत्र लिखकर क्षमा माँगी। जहाँगीर भी अपने योग्य तथा उत्साही पुत्र को क्षमा करने के लिए उत्सुक था। इसके बाद की सन्धि के अंतर्गत शाहजहाँ को अपने दो पुत्रों, दारा तथा औरंगज़ेब को राजदरबार में बंधक के रूप में रखना पड़ा। 1626 में शाहजहाँ को खर्च के लिए दक्कन का एक क्षेत्र सौंप दिया गया।

महाबतखाँ

शाहजहाँ के विद्रोह से चार वर्षों तक साम्राज्य में अशांति बनी रही। इसके परिणामस्वरूप क़न्धार मुग़लों के हाथ से जाता रहा तथा दक्कन के राजाओं ने उन सभी क्षेत्रों को अपने अधिकार में वापस ले लिया जो उन्हें अकबर के जीवनकाल में छोड़ने पड़े थे। इससे तात्कालिक व्यवस्था की एक और कमज़ोरी उभरकर सामने आई। कोई भी शक्तिशाली राजकुमार शक्ति का विरोधी केन्द्र बन सकता था विशेषकर उस समय जब सम्राट सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित नहीं रखता था। शाहजहाँ का मुख्य आरोप यह था कि जहाँगीर ने अपने गिरते स्वास्थ्य के कारण राज्य का कार्यभार देखना बंद कर दिया था और सारी शक्ति नूरजहाँ के हाथों में चली गई थी। यह आरोप स्वीकार करना इसलिए कठिन है क्योंकि शाहजहाँ का ससुर आसफ़खाँ स्वयं प्रमुख दीवान था। इसके अलावा यद्यपि जहाँगीर का स्वास्थ्य इतना अच्छा नहीं था फिर भी वह बहुत सतर्क था और उसकी इच्छा के बिना कोई भी निर्णय नहीं लिया जा सकता था। जहाँगीर की बीमारी से यह भी खतरा बढ़ गया था कि कोई भी महत्वाकांक्षी सरदार स्थिति का लाभ उठाकर अपने हाथ और मज़बूत कर सकता था। यह बात एक ऐसी घटना के माध्यम से सामने आई जिसकी किसी को आशा नहीं थी। महाबतखाँ ने शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी लेकिन वह इस बात को लेकर क्षुब्ध था कि विद्रोह की समाप्ति के बाद दरबार के कुछ लोग उसकी शक्ति को समाप्त कर देने पर तुल गये थे। यह महसूस किया जाने लगा था कि राजकुमार परवेज़ के साथ उसकी मित्रता कभी भी खतरनाक साबित हो सकती है। जब महाबतखाँ को हिसाब-किताब देने के लिए राजदरबार में बुलाया गया तब वह राजपूतों के एक ऐसे दल के साथ आया जो उसका कट्टर समर्थक था। जब सम्राट अपने लोगों के साथ काबुल जाने के लिए झेलम नदी पार कर कहा था, महाबतखां ने मौक़ा देखकर

उसे अपने क़ब्ज़े में कर लिया। नूरजहाँ नदी पार कर भाग निकलने में सफल हुई लेकिन आसफ़ख़ाँ के साथ मिलकर महाबतख़ाँ के विरुद्ध उसका अभियान असफल हो गया। नूरजहाँ ने अब अन्य उपायों का सहारा लिया। उसने महाबतख़ाँ के सामने आत्मसमपर्ण कर दिया ताकि वह जहाँगीर के पास रह सके। उसने महाबतख़ाँ के सन्देह को मिटाने की पूरी चेष्टा की पर अन्दर ही अन्दर अवसर की ताक में रहने लगी। महाबतख़ाँ एक कुशल सैनिक तो था किन्तु योग्य कूटनीतिज्ञ या प्रशासक नहीं। उधर वह धीरे-धीरे राजपूत सैनिकों का समर्थन भी खोता जा रहा था। नूरजहाँ ने स्थिति का लाभ उठाया तथा छः महीनों के अन्दर-अन्दर वह सरदारों को महाबतख़ाँ के खिलाफ़ भड़काने में सफल हो गई। अपनी नाज़ुक स्थिति को देखकर महाबतख़ाँ जहाँगीर को छोड़कर राजदरबार से भाग निकला। कुछ समय बाद वह शाहजहाँ के साथ मिल गया जो स्वयं सत्ता पर अधिकार करने की ताक में था।

महाबतख़ाँ की पराजय नूरजहाँ की सबसे बड़ी विजय थी। यह उसकी धीर बुद्धि तथा साहस के कारण ही संभव हुई। इसके बावजूद नूरजहाँ की विजय चिरस्थायी नहीं रह सकी क्योंकि एक वर्ष के अन्दर-अन्दर जहाँगीर ने लाहौर के पास (1627) आखिरी साँस ली। चालाक आसफ़ख़ाँ ने मौक़े का फ़ायदा उठाया। जहाँगीर ने उसे अपना वकील नियुक्त किया था लेकिन वह धीरे-धीरे अपने दामाद शाहजहाँ के सम्राट् बनने की नींव तैयार कर रहा था। आसफ़ख़ाँ अब खुलकर सामने आया। दीवान, प्रमुख सरदारों और सेना की सहायता से उसने नूरजहाँ को बंदी बना लिया और दक्कन में शाहजहाँ को इस महत्वपूर्ण घटना की सूचना भेजी। इसके अलावा उसने ख़ुसरो के एक लड़के को कठपुतली के रूप में ख़ाली गद्दी पर बैठा दिया। शाहजहाँ का छोटा भाई परवेज़ अत्यधिक मद्यपान के कारण पहले ही मर चुका था। उसके दूसरे भाई शहरयार ने गद्दी के लिए प्रयास तो किया पर उसे बड़ी आसानी से मात दे दी गई और अंधा बना कर जेल में डाल दिया गया। इसके शीघ्र बाद शाहजहाँ आगरा पहुँचा जहाँ हर्षोल्लास के बीच वह सिंहासन पर बैठा। इसके पहले ही उसके कहने पर उसके सभी प्रतिद्वंद्वियों, जिसमें बंदी बनाये गये उसके भाई शामिल थे, को मौत के घाट उतार दिया गया। इस प्रकार की घटना, जिसमें पुत्र ने पिता के खिलाफ़ विद्रोह किया था, जहाँगीर के साथ शुरू हुई और शाहजहाँ के बाद तक चली। इससे कटुता फैली और मुग़ल वंश के लिए इसके घातक परिणाम हुए। शाहजहाँ ने अपने बोये हुए बीज का परिणाम स्वयं चखा। जहाँ तक नूरजहाँ का सवाल है, शाहजहाँ ने गद्दी पर बैठने के बाद उसके लिए एक निश्चित राशि तय कर दी और नूरजहाँ अठारह साल बाद अपनी मृत्यु तक शान्ति का जीवन व्यतीत करती रही।

शाहजहाँ का शासनकाल (1628-58) बहुमुखी विकास का काल था। उसकी दक्कन नीति का अध्ययन हम पहले कर चुके हैं। अब हम मुग़लों की विदेश नीति की चर्चा करेंगे जो शाहजहाँ के काल में अपने शिखर पर थी।

मुग़लों की विदेश नीति

हम देख चुके हैं कि पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तैमूरी साम्राज्य के विघटन के बाद किस प्रकार तीन शक्तिशाली साम्राज्यों—उज़बेक, सफ़ावीद तथा आटोमन—का मध्य एशिया में उदय हुआ। उज़बेक आरम्भ से ही मुग़लों के शत्रु थे और उन्होंने मुगलों तथा अन्य तैमूरी राजकुमारों को समरक़न्द तथा उसके पास के क्षेत्र ख़ुरासान से बहिष्कृत किया था। साथ ही उज़बेकों का संघर्ष नवोदित सफ़ावीद राज्य से हो गया जो ख़ुरासान पर अपना दावा कर रहा था। ख़ुरासान पठार ईरान तथा मध्य एशिया को जोड़ता था तथा चीन और भारत के व्यापार मार्ग इसी के रास्ते से पड़ते थे। सफ़ावियों के लिए यह स्वभाविक था कि उज़बेकों के ख़तरे का सामना करने के लिए वे मुग़लों से हाथ मिलाएँ। यह इसलिए भी संभव था क्योंकि उज़बेकों तथा मुग़लों के बीच क़ंधार को छोड़कर अन्य कोई सीमा विवाद नहीं था। उज़बेकों ने ईरान के सफ़ावी शासकों के धार्मिक दृष्टिकोण का फ़ायदा उठाया क्योंकि वे सुन्नियों पर अत्याचार कर रहे थे। उज़बेक तथा मुग़ल शासक दोनों ही सुन्नी मुसलमान थे। लेकिन मुग़ल इतने संकीर्ण दृष्टिकोण के नहीं थे कि वे धार्मिक मतभेदों से प्रभावित हों। शिया समर्थक ईरान के साथ मुग़लों की सन्धि को देखकर उज़बेक क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने पेशावर तथा काबुल के बीच के उत्तर-पश्चिमी सीमा क्षेत्र में बसे [illegible] तथा बलूची क़बीलों को मुग़ल शासन के

खिलाफ़ भड़काना आरम्भ किया।

पश्चिम एशिया में इस काल में सबसे शक्तिशाली साम्राज्य संभवतः आटोमन तुर्कों का था। आटोमन अथवा तुर्कों का नाम उनके प्रथम शासक उस्मान (मृ० 1326) उस्मानअली के आधार पर था। उन्होंने ने एशिया माइनर तथा पूर्वी यूरोप पर विजय प्राप्त कर ली थी तथा 1529 तक सीरिया, मिस्र, अरब तथा ईरान पर भी क़ब्ज़ा कर लिया था। क़ाहिरा के शक्तिहीन ख़लीफ़े ने उसे 'रूम के सुल्तान' की उपाधि दी थी। बाद में उसने 'बादशाह-ए-इस्लाम' की पद्वी ग्रहण कर ली।

ईरान में शिया शक्ति के उदय से आटोमन सुल्तानों को अपनी पश्चिमी सीमा पर ख़तरे का आभास होने लगा था। उन्हें डर था कि ये उनके क्षेत्रों में शिया सम्प्रदाय को बढ़ावा देंगे। 1512 में तुर्की के सुल्तान ने एक प्रसिद्ध लड़ाई में ईरान के शाह को पराजित किया। तुर्कों तथा ईरानियों में बग़दाद तथा एरीवान के आसपास के उत्तरी ईरान के क्षेत्रों को लेकर संघर्ष आरम्भ हुआ। तुर्कों ने धीरे-धीरे अरब के आसपास के तटवर्ती क्षेत्रों पर अपना अधिकार क़ायम किया तथा फ़ारस की खाड़ी से पुर्तगालियों को निकाल देने का प्रयास किया।

पश्चिम में आटोमन तुर्कों के ख़तरे को देखकर ईरानी के शासक मुग़लों की मैत्री हासिल करने के लिए उत्सुक थे। यह अब और भी आवश्यक हो गया था क्योंकि पूर्व में उज़बेकों का ख़तरा बना हुआ था। ईरान के खिलाफ़ तुर्कों तथा उज़बेक शासकों का जो गुट था उसमें मुग़ल सम्मिलित नहीं होना चाहते थे, क्योंकि इससे एशिया का शक्ति संतुलन बिगड़ रहा था। इसके अलावा ईरान की मैत्री से मध्य एशिया से उनके व्यापार की संभावनाएं बढ़ सकती थीं। यदि मुग़लों के पास एक शक्तिशाली नौसेना होती तब वे शायद तुर्कों से मैत्री करते क्योंकि तुर्कों के पास नौसेना थी और वे भूमध्यसागर में यूरोपीय शक्तियों से संघर्ष कर रहे थे। लेकिन दूसरी ओर मुग़ल तुर्कों के साथ मैत्री बढ़ाने में इसलिए हिचकिचा रहे थे क्योंकि वे तुर्की सुल्तानों को ख़लीफ़ों के उत्तराधिकारियों के रूप में मान्यता देने के लिए तैयार नहीं थे। यही कुछ तत्व थे जिन पर मुग़लों की विदेश नीति आधारित थी।

अकबर तथा उज़बेक

सफ़ावी शासकों के हाथों उज़बेक सरदार शैबानीख़ाँ की 1511 में पराजय के बाद बाबर थोड़े समय के लिए समरक़न्द पर एक बार फिर अपना अधिकार क़ायम करने में सफल हो गया था। यद्यपि बाबर को उज़बेकों द्वारा ईरानियों की पराजय के बाद समरक़न्द छोड़ना पड़ा था तथापि ईरानी बादशाह ने बाबर की जो मदद की उससे मुग़लों तथा सफ़ावी शासकों के बीच दीर्घजीवी मैत्री की नींव पड़ी। बाद में शेरशाह द्वारा भारत से निकाले जाने के बाद हुमायूं को भी सफ़ावी सम्राट् शाह तहमस्प से मदद मिली थी और उसने ईरान के राजदरबार में शरण ली थी।

उज़बेक सरदार अब्दुल्लाख़ाँ ने 1570 और 1579 के बीच साम्राज्य का बहुत विस्तार कर लिया था। 1572-73 में अब्दुल्लाख़ाँ उज़बेक ने बल्ख़ पर क़ब्ज़ा कर लिया था जो बदख़शाँ के साथ मुग़लों तथा उज़बेकों के बीच दीवार बनकर खड़ा था। 1577 में अब्दुल्लाख़ाँ ने अकबर को अपना राजदूत भेजकर ईरान को परस्पर बाँट लेने का प्रस्ताव रखा था। शाह तहमस्प की मृत्यु (1576) के बाद ईरान में अशान्ति तथा अराजकता फैल गई थी। अब्दुल्ला उज़बेक ने अकबर को इस बात पर राज़ी करने की चेष्टा की कि वह भारत से ईरान अभियान ले जाये और वे दोनों मिल कर शियाओं के चंगुल से इराक़ तथा ख़ुरासान को मुक्त करवा लें। इन संकीर्ण धार्मिक तर्कों से अकबर ज़रा भी प्रभावित नहीं हुआ। इसके अलावा उज़बेकों को शांत बनाये रखने के लिए एक शक्तिशाली ईरान की आवश्यकता थी। लेकिन साथ ही साथ अकबर उज़बेकों से उस समय तक नहीं उलझना चाहता था जब तक वह काबुल अथवा भारतीय क्षेत्रों के लिए ख़तरा पैदा न करते हों। अकबर की विदेश नीति का यही आधार था। अब्दुल्ला उज़बेक ने आटोमन सुल्तानों के सामने भी ईरान के खिलाफ़ त्रिगुटीय सुन्नी शक्तियों के संगठन का प्रस्ताव रखा। इसके उत्तर में अकबर ने अब्दुल्ला उज़बेक को अपना एक राजदूत भेजकर यह स्पष्ट कर दिया कि आक्रमण के लिए क़ानूनी अथवा धार्मिक मतभेदों को काफ़ी नहीं माना जाना चाहिए। मक्का जाने वाले तीर्थ यात्रियों

की दिक़्क़तों के बारे में अकबर ने कहा कि गुजरात की विजय के बाद उनके लिए एक नया मार्ग खुल गया है। इसके अलावा उसने ईरान से अपनी पुरानी दोस्ती की चर्चा की तथा अब्दुल्लाख़ाँ उज़बेक को सफ़ावियों के बारे में अपमानजनक बातें कहने के लिए डाँटा और उसे बताया कि वे सैयद तथा स्वतंत्र बादशाह हैं।

अकबर ने मध्य एशिया की राजनीति में जो दिलचस्पी दिखाई उसका प्रमाण यह भी था कि उसने अपने दरबार में तैमूरी राजकुमार, मिर्ज़ा सुलेमान को शरण दी जिसे उसके पोते ने बदख़्शां से बहिष्कृत कर दिया था। अबुलफ़ज़ल के अनुसार ख़ैबर दर्रा पहियों वाले वाहनों के लिए सुरक्षित था तथा मुग़लों के डर के कारण बल्ख़ के द्वार अधिकतर बंद ही रखे जाते थे। बदख़्शां पर किसी प्रकार का आक्रमण न हो, इसके लिए अब्दुल्ला उज़बेक ने उत्तर-पश्चिम सीमा-क्षेत्र में बसे क़बाइलियों को मुग़लों के ख़िलाफ़ उकसाने की चेष्टा भी की। यह काम उसने अपने धर्मांध एजेंट जलाल के माध्यम से किया था। इसके परिणामस्वरूप वहाँ की स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि अकबर को अटक आना पड़ा। इन्हीं अभियानों के दौरान अकबर ने अपने प्रिय मित्र राजा बीरबल को खो दिया था।

अब्दुल्ला उज़बेक ने 1585 में अचानक बदख़्शां पर क़ब्ज़ा कर लिया। मिर्ज़ा सुलेमान तथा उसका पोता, दोनों ही अकबर के दरबार में शरण माँगने आये। अकबर ने उन्हें उचित मनसब प्रदान किया। इसी बीच अपने सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम की मृत्यु (1585) का लाभ उठाकर अकबर ने काबुल पर क़ब्ज़ा कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। अब मुग़ल तथा उज़बेक सीमाएँ पास-पास हो गईं।

अब्दुल्लाख़ाँ उज़बेक ने अकबर के पास एक और राजदूत भेजा जो अकबर से उस समय मिला जब वह सिन्धु नदी के पास अटक में था। वहाँ अकबर को अपनी सीमा के इतना नज़दीक देखकर अब्दुल्ला उज़बेक घबरा-सा गया था। लेकिन ऐसा लगता है कि अब्दुल्ला उज़बेक द्वारा राजदूत को भेजे जाने का असली कारण अकबर को इस बात पर राज़ी करना था कि जब अब्दुल्ला उज़बेक सफ़ावी शासक के विरुद्ध ख़ुरासान में हमला करे तब अकबर उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। इसी कारण अब्दुल्ला उज़बेक ने अकबर के समक्ष सफ़ावी शक्ति के विरुद्ध दोनों के मिले-जुले अभियान और मक्का के रास्ते को तीर्थ यात्रियों के लिए खोलने का पुराना प्रस्ताव फिर दोहराया।

शाह तहमस्प की मृत्यु (1576) के बाद ईरान में गृह-युद्ध तथा राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण छा गया था। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए आटोमन सुल्तान ने उत्तरी ईरान पर धावा बोल दिया। इस समय उज़बेक ख़ुरासान में हिरात के लिए ख़तरा पैदा कर रहे थे। अकबर ने अब्दुल्ला उज़बेक के प्रस्ताव के उत्तर में एक लम्बा पत्र भेजा जिसमें उसने तुर्की कार्रवाई की आलोचना की तथा अपने राजकुमार के नेतृत्व में मदद के लिए अपनी एक सेना ईरान भेजने का प्रस्ताव रखा। इसमें अब्दुल्ला उज़बेक को अपरोक्ष रूप से हस्तक्षेप का भय दिखाया गया था यद्यपि उससे सहयोग की माँग की गई तथा ईरान में दोनों के मिलने की आशा व्यक्त की गई। इसके बावजूद अकबर ने ईरान पर अभियान के लिए कोई विशेष तैयारी नहीं की। इसके अलावा अब्दुल्ला उज़बेक ने अकबर का पत्र पाने के पहले ख़ुरासान पर चढ़ाई कर दी और उन अधिकतर क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया जिन पर वह पहले से ही दावा कर रहा था। इस स्थिति में अकबर ने उज़बेक सरदार के साथ संधि करने में ही भलाई समझी और उसने अब्दुल्लाख़ाँ उज़बेक के पास अपने राज्य के हकीम हूमान के माध्यम से एक पत्र तथा मौखिक संदेश भेजा। ऐसा लगता है कि इन दोनों में हिन्दुकुश की सीमा निर्धारित करने से सम्बन्धित एक सन्धि भी हुई। इस सन्धि के अन्तर्गत मुग़लों ने 1585 तक तैमूरी शासकों द्वारा शासित प्रदेश बदख़्शां तथा बल्ख़ में अपना हस्तक्षेप समाप्त कर दिया। बदले में उज़बेकों ने काबुल तथा क़ंधार पर दावा करना छोड़ दिया। यद्यपि दोनों में से किसी पक्ष ने अपना दावा पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया तथापि सन्धि के कारण मुग़लों को हिन्दुकुश में एक सुरक्षित सीमा मिल गई जिसका लाभ उठाकर 1595 में क़ंधार जीतकर अकबर ने एक वैज्ञानिक सीमा की स्थापना की। इसके अलावा 1586 के बाद स्थिति की देखरेख के लिए अकबर स्वयं लाहौर रहने लगा और 1598 में अब्दुलाख़ाँ उज़बेक की मृत्यु के बाद ही आगरा आया। अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद उज़बेक साम्राज्य ऐसे छोटे राज्यों में बंट गया जो बराबर आपस

में लड़ते रहते थे। इसके परिणामस्वरूप कई वर्षों तक मुग़लों पर से इसका ख़तरा टल गया।

क़ंधार का मामला तथा ईरान के साथ सम्बन्ध

उज़बेक शक्ति ही वह महत्वपूर्ण तत्व थी जिससे ईरान में शियाओं के ख़िलाफ़ लोगों को भड़काने के उज़बेकों के प्रयत्न तथा सफ़ावी शासकों की असहिष्णुता की नीति के प्रति मुग़लों की अप्रसन्नता के बावजूद सफ़ावी तथा मुग़ल आपस में मिल गये। दोनों के बीच विवादों की संभावना केवल क़ंधार को लेकर थी जिस पर दोनों ही अपना-अपना दावा कर रहे थे। क़ंधार सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के अलावा आर्थिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण था। यह दोनों के लिए प्रतिष्ठा का सवाल भी बना हुआ था। क़ंधार अब तक तैमूरी साम्राज्य का हिस्सा रहा था और इस पर हेरात के शासकों तथा बाबर के भाई-भतीजों का 1507 तक शासन रहा जब उज़बेकों ने उन्हें पराजित कर वहाँ से निकाल दिया। 1507 में क़ंधार पर बाबर का भी कुछ समय तक अधिकार रहा था। लेकिन जब सफ़ावियों ने उज़बेक सरदार शैबानीख़ाँ को पराजित कर हेरात तथा ख़ुरासान के बाक़ी हिस्सों को अपने क़ब्ज़े में कर लिया तब उन्होंने क़ंधार पर भी अपना दावा किया। अगले पंद्रह वर्षों तक क़ंधार ऐसे शासकों के अधीन रहा जो वैसे तो स्वतंत्र थे पर मौक़ा पड़ने पर कभी मुग़लों तथा कभी सफ़ावियों का आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे।

काबुल की सुरक्षा के लिए सामरिक दृष्टि से क़ंधार का बहुत महत्व था। क़ंधार के क़िले को इस क्षेत्र के सबसे मज़बूत क़िलों में गिना जाता था और उसमें पानी की अच्छी व्यवस्था थी। यह क़िला काबुल तथा हेरात जाने वाली सड़कों के चौराहे पर था। यहाँ से सारे दक्षिण अफ़ग़ानिस्तान पर नज़र रखी जा सकती थी। एक आधुनिक लेखक के अनुसार "काबुल, ग़ज़नी तथा क़ंधार रेखा सामरिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण थी। काबुल तथा ख़ैबर के आगे कोई भी प्राकृतिक सुरक्षा सीमा नहीं थी। इसके अलावा क़ंधार के नियंत्रण से अफ़ग़ान तथा बलूची क़बीलों पर भी नियन्त्रण आसान हो जाता था।"

सिंध तथा बलूचिस्तान पर अकबर की विजय के बाद मुग़लों के लिए क़ंधार का सामरिक तथा आर्थिक महत्व और भी बढ़ गया था। क़ंधार एक समृद्ध तथा उपजाऊ भूमि वाला प्रान्त था जहाँ से होकर भारत तथा मध्य एशिया के बीच लोगों तथा वस्तुओं का आना-जाना बराबर जारी रहता था। मध्य एशिया से क़ंधार होकर मुल्तान तक का मार्ग और उसके बाद सिंधु नदी से होकर समुद्र जल-मार्ग तक धीरे-धीरे व्यापार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होता गया। ऐसा विशेष कर इसलिए था क्योंकि ईरान होकर जाने वाली सड़कें युद्धों तथा आंतरिक गड़बड़ी के कारण बहुधा असुरक्षित रहती थीं। अकबर इस मार्ग से व्यापार बढ़ाना चाहता था और उसने अब्दुल्ला उज़बेक को बताया भी था कि मक्का जाने के लिए यह तीर्थ यात्रियों तथा वस्तुओं के लिए एक सुरक्षित मार्ग बन सकता है। इन सभी बातों पर ग़ौर करने से ऐसा लगता है कि क़ंधार का ईरानियों के लिए उतना महत्व नहीं था जितना कि मुग़लों के लिए। ईरान के लिए क़ंधार एक बाहरी सीमा के समान था जिसका महत्व तो था पर सुरक्षा व्यवस्था के लिए इसकी विशेष आवश्यकता नहीं थी।

आरम्भ में क़ंधार की समस्या को लेकर मुग़लों तथा ईरानियों के सम्बन्धों को बिगड़ने नहीं दिया गया। 1522 में क़ंधार बाबर के नियन्त्रण में उस समय आया जब उज़बेक एक बार फिर ख़ुरासान पर धावे की तैयारी कर रहे थे। इस स्थिति में क़ंधार पर मुग़लों के क़ब्ज़े पर ईरानियों ने कोई गंभीर आपत्ति नहीं की। लेकिन जब हुमायूँ शाह तहमस्प के दरबार में शरण माँगने आया तब ईरान के सम्राट ने उसे इस शर्त पर सहायता देना मंजूर किया कि वह क़ंधार को अपने सौतेले भाई कामरान से हासिल कर उसे ईरानियों को सौंप देगा। हुमायूँ के लिए इसे स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा भी नहीं था। इसके बावजूद क़ंधार पर विजय के बाद उस पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के लिए हुमायूँ को बहाने मिल गये। वास्तव में काबुल में कामरान के ख़िलाफ़ अभियानों के लिए क़ंधार ही हुमायूँ का अड्डा था।

शाह तहमस्प ने हुमायूँ की मृत्यु के बाद फैली अशांति और गड़बड़ी का लाभ उठाकर क़ंधार को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। अकबर ने क़ंधार को वापस लेने का उस समय तक प्रयास नहीं किया जब तक अब्दुल्ला उज़बेक के नेतृत्व में उज़बेकों ने ईरान तथा मुग़लों के लिए ख़तरा

पैदा नहीं किया। जैसा कि कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मत है, मुग़लों की क़ंधार विजय (1595) उस संधि का हिस्सा नहीं थी जो ईरान के साम्राज्य को आपस में बाँटने के लिए अकबर तथा उज़बेकों के बीच हुई थी। इस समय तक खुरासान पर उज़बेकों का नियंत्रण हो गया था। और क़ंधार ईरान से कट गया था। अकबर की क़ंधार विजय उज़बेक आक्रमण के ख़िलाफ़ उत्तर-पश्चिम में एक सुरक्षा-सीमा क़ायम करने के लिए थी।

क़ंधार पर मुग़लों के आधिपत्य के बावजूद ईरान तथा मुग़लों के बीच अच्छे संबध बने रहे। अकबर की मृत्यु के बाद ईरानियों ने क़ंधार को अपने क़ब्ज़े में करने की चेष्टा की, पर असफल रहे। शाह अब्बास प्रथम (शासन 1588-1629) जो शायद सबसे महान सफ़ावी सम्राट था, जहाँगीर के साथ अच्छे संबंध स्थापित करने के लिए उत्सुक था। उसने क़ंधार पर चढ़ाई की योजना छोड़ दी और जहाँगीर और उनके बीच राजदूतों तथा क़ीमती भेंटों का आदान-प्रदान बराबर बना रहा। शाह अब्बास ने दक्कन के राज्यों के साथ भी राजनीतिक तथा व्यापारिक संबंधों को स्थापित किया लेकिन इस पर जहाँगीर ने आपत्ति नहीं की। जहाँगीर के दरबारी चित्रकार ने अपनी कल्पना से ही एक चित्र बनाया जिसमें जहाँगीर तथा शाह अब्बास एक दूसरे को गले लगा रहे हैं और उनके पैरों के नीचे संसार का एक ग्लोब है। इस काल में दोनों देश सांस्कृतिक दृष्टि से भी एक दूसरे के काफ़ी क़रीब आये। इसमें नूरजहाँ के पिता, जो स्वयं ईरान से आये थे, का काफ़ी योगदान था। इस मैत्री से जहाँगीर से अधिक लाभ शाह अब्बास को हुआ क्योंकि इसके कारण जहाँगीर ने शाह अब्बास की मैत्री के कारण निश्चित हो गया और उसने उज़बेक सरदारों के साथ मैत्री पर अधिक ध्यान नहीं दिया। 1620 में शाह अब्बास ने जहाँगीर से क़ंधार वापस लौटाने का अनुरोध किया और साथ में उस पर चढ़ाई करने की योजना भी बनाई। जहाँगीर इस हमले के लिए ज़रा भी तैयार नहीं था। वह राजनीतिक दृष्टि से अकेला पड़ गया था और न ही वह सामरिक दृष्टि से तैयार था। उसने क़ंधार को वापस लेने के लिए जल्दी-जल्दी तैयारियाँ कीं लेकिन इसी समय शाहजहाँ ने वहाँ जाने के पहले ऐसी माँगें रखीं जो पूरी नहीं की जा सकती थीं। परिणामस्वरूप क़ंधार ईरानियों के हाथ में चला गया (1622)। शाह अब्बास ने क़ंधार के प्रश्न पर जहाँगीर से हुई कटुता को क़ीमती उपहार देकर मिटाने की चेष्टा की। उसने जहाँगीर के सामने इस कार्य के लिए कई कारण भी रखे जिन्हें जहाँगीर ने औपचारिक रूप से स्वीकार भी कर लिया। लेकिन इसके बाद मुग़ल तथा ईरानियों के अच्छे संबंध समाप्त हो गये।

1598 में अब्दुल्लाख़ाँ उज़बेक की मृत्यु के बाद मध्य एशिया की राजनीति में दूरगामी परिवर्तन हुए। आंतरिक क़बीलाई झगड़ों के कारण उज़बेक साम्राज्य का विघटन हो गया और इस स्थिति का लाभ उठाकर ईरान ने ख़ुरासान पर क़ब्ज़ा कर लिया। लेकिन अपने आगे बढ़ने के प्रयास में उसे बल्ख़ के निकट पराजय का सामना करना पड़ा। इसके बावजूद उज़बेक अभी भी शक्तिशाली थे। कुछ समय बाद इमाम क़ुली, बुख़ारा तथा बल्ख़ का स्वाधीन सम्राट बनने में सफल हो गया। यद्यपि उज़बेक अब ख़ुरासान के लिए शाह अब्बास को चुनौती देने की स्थिति में नहीं थे फिर भी वे अफ़ग़ानिस्तान तथा काबुल पर छापामार हमले करते रहे। क़ंधार पर ईरानियों के क़ब्ज़े से उज़बेक घबरा गये थे। क़ंधार पर क़ब्ज़ा करने के कुछ ही समय बाद शाह अब्बास पश्चिम की ओर मुड़ा और तुर्कों से बग़दाद को वापस लेने में सफल हो गया। इस प्रकार उज़बेक, मुग़ल तथा तुर्क, जो सुन्नी थे एक बार फिर ईरान के विरुद्ध त्रिगुटीय संगठन क़ायम करने की सोचने लगे तथा जहाँगीर और उज़बेकों के बीच संधि को अंतिम रूप देने के लिए राजदूतों के कई आदान-प्रदान हुए। जहाँगीर की मृत्यु के बाद संधि के प्रयास शाहजहाँ के शासनकाल में भी जारी रहे। 1627 में उज़बेक सरदार इमाम क़ुली ने ख़ुरासान में अब्दुल्लाख़ाँ उज़बेक को अकबर द्वारा दी गई सहायता के लिए धन्यवाद के रूप में कई उपहार दिए लेकिन दूसरी ओर शाह अब्बास के डर से उसने ईरान के विरुद्ध मुग़लों के षड्यंत्रों के बारे में ईरान के शासक को सूचित रखा। शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठने के पहले और बाद भी काबुल पर उज़बेकों के हमले हुए।

इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो गया कि ईरान के विरुद्ध संघर्ष में उज़बेकों की सहायता पर निर्भर नहीं रहा जा सकता था। उधर आटोमन तुर्क काफ़ी दूर थे और इस कारण प्रभावशाली नहीं हो सकते थे। इसके अलावा वे अपने को अधिक श्रेष्ठ समझते थे जिसे मुग़ल नहीं सहन

कर सकते थे। अतः शाहजहाँ ने राजनीति का सहारा लिया। शाह अब्बास की मृत्यु (1629) के बाद ईरान में अराजकता फैल गई थी। उधर शाहजहाँ दक्कन के मामलों से मुक्त हो गया था। ईरान की स्थिति का लाभ उठाकर शाहजहाँ ने क़ंधार के ईरानी प्रशासक अली मर्दानखाँ को मुग़लों के पक्ष में आ जाने के लिए उकसाया और उसमें सफल भी हो गया।

शाहजहाँ का बल्ख़ अभियान

क़ंधार की विजय शाहजहाँ के लिए मंज़िल नहीं बल्कि मार्ग भर था। शाहजहाँ उज़बेकों के काबुल पर हमले तथा बलूची और अफ़ग़ान क़बीलों के साथ उनके षडयंत्रों के बारे में बहुत चिंतित था। इस समय तक बुख़ारा और बल्ख़ ईमामक़ुली के छोटे भाई नज़र मोहम्मद के हाथों में आ गये थे। नज़र मोहम्मद तथा उसका लड़का अब्दुल अज़ीज़ दोनों ही महत्वाकांक्षी थे। काबुल तथा ग़ज़नी पर अपना प्रभाव क़ायम करने के लिए उन्होंने अफ़ग़ान क़बाइलियों से मिलकर षडयंत्र रचा था पर शीघ्र ही अब्दुल अज़ीज़ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इसके बाद नज़र मोहम्मद के नियंत्रण में केवल बल्ख़ रह गया और उसने शाहजहाँ से सहायता माँगी। शाहजहाँ ईरानियों की ओर से निश्चिन्त था अतः उसने सहायता की माँग को स्वीकार कर लिया। वह लाहौर से काबुल आया तथा नज़र मोहम्मद की मदद के लिए राजकुमार मुराद के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। इस सेना में पचास हज़ार घोड़े, दस हज़ार प्यादे जिनमें तोपची भी थे, के अलावा राजपूतों का एक दल भी शामिल था। यह सेना 1646 के मध्य में काबुल से रवाना हुई। शाहजहाँ ने राजकुमार मुराद को आदेश दिया कि वह नज़र मोहम्मद के साथ अच्छी तरह पेश आये और यदि नज़र मोहम्मद उसके सामने घुटने टेक दे तो उसे बल्ख़ लौटा दे। यदि नज़र मोहम्मद समरक़ंद तथा बुख़ारा पर क़ब्ज़ा करने की इच्छा करे तब राजकुमार मुराद उसे हर प्रकार से सहायता करे। स्पष्ट है कि शाहजहाँ बुख़ारा के शासक के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना चाहता था। उधर बुख़ारा का शासक मुग़लों की सहायता और उनका समर्थन चाहता था। लेकिन मुराद के तेज़ दिमाग़ के कारण शाहजहाँ की सारी योजना असफल हो गई। मुराद नज़र मोहम्मद के संकेत के बिना बल्ख़ पर चढ़ाई कर बैठा तथा उसने अपने सैनिकों को बल्ख़ के क़िले में घुसने का आदेश दिया। नज़र मुहम्मद उस समय उसी क़िले में था। मुराद ने कड़ाई से उसे अपने सामने हाज़िर होने का आदेश दिया। नज़र मोहम्मद राजकुमार के उद्देश्य से अपरिचित होने के कारण वहाँ से भाग खड़ा हुआ। मुग़लों को अब बाध्य होकर बल्ख़ पर क़ब्ज़ा करना पड़ा और वहाँ की क्षुब्ध और क्रोधित आबादी के विरोध के बावजूद अपना नियंत्रण क़ायम रखना पड़ा। उधर नज़र मोहम्मद के लिए भी कोई आसान विकल्प सामने नहीं था। उसके लड़के अब्दुल अज़ीज़ ने ट्रांस-आक्सियाना में उज़बेक क़बीलों को मुग़लों के ख़िलाफ़ भड़का दिया तथा 120,000 सैनिकों की एक सेना खड़ी कर आक्सस नदी को पार कर गया। इसी बीच राजकुमार मुराद, जो घर लौटने का इच्छुक था, की जगह औरंगजेब ने ली। मुग़लों ने आक्सस को बचाने का कोई प्रयास नहीं किया क्योंकि इस नदी को आसानी से पार किया जा सकता था। इसके बदले उन्होंने सामरिक महत्व की जगहों पर सैनिक दल नियुक्त किये तथा सेना का मुख्य भाग एक साथ रखा ताकि वह किसी भी जगह पर आसानी से जा सके। इस प्रकार मुग़लों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। अब्दुल अज़ीज़ आक्सस नदी पार तो कर गया पर उसने अपने को एक विशाल मुग़ल सेना के सामने पाया। उसने शीघ्र ही पीठ दिखा दी तथा मुग़लों ने उज़बेकों को बल्ख़ के दरवाजों तक खदेड़ दिया (1647 के मध्य)।

बल्ख़ पर मुग़लों की विजय से उज़बेकों के साथ बात-चीत का रास्ता साफ़ हो गया। अब्दुल अज़ीज़ के उज़बेक समर्थक इधर उधर भाग खड़े हुए और उसने स्वयं मुग़लों को शांत करने के प्रयास किये। नज़र मोहम्मद, जो इस समय तक ईरान में शरण ले चुका था, उसने भी अपने साम्राज्य की वापसी के लिए मुग़लों से अनुरोध किया। काफ़ी सोच-विचार के बाद शाहजहाँ ने नज़र मोहम्मद का साथ दिया। लेकिन उसने नज़र मोहम्मद को सबसे पहले औरंगज़ेब से माफ़ी माँगने के लिए कहा। यह शाहजहाँ की ग़लती थी क्योंकि गर्वीला उज़बेक शासक इस प्रकार नहीं झुक सकता था, विशेषकर जब वह यह जानता था कि मुग़ल बल्ख़ में अधिक समय तक नहीं बने रह सकते थे। मुग़ल, नज़र मुहम्मद की

व्यक्तिगत उपस्थिति की प्रतीक्षा करते रहे। इसी बीच सर्दी का मौसम आ रहा था और बल्ख में रसद नहीं थी। अतः मुग़लों ने अक्तूबर 1647 में वापस लौटना शुरू किया। लेकिन उन्हें वापसी बड़ी मंहगी पड़ी क्योंकि चारों तरफ विद्रोही उज़बेकों ने छापामार हमले शुरू किए। इससे मुग़लों को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा और औरंगज़ेब की दृढ़ता से ही स्थिति पूरी तरह बिगड़ने से बच सकी।

शाहजहाँ के बल्ख़ अभियान को लेकर आधुनिक इतिहासकारों में बहुत मतभेद है। ऊपर के वृतांत से स्पष्ट है कि शाहजहाँ आमू दरिया (आक्सस) पर वैज्ञानिक सीमा स्थापित करने का प्रयास नहीं कर रहा था। जैसा कि हम देख चुके हैं आमू दरिया सुरक्षित सीमा हो भी नहीं सकती थी। न ही शाहजहाँ मुग़लों के स्वदेश समरक़ंद तथा फ़रग़ना को क़ब्ज़े में करने का उत्सुक था। यद्यपि मुग़ल सम्राटों ने इसकी कई बार चर्चा की थी, ऐसा लगता है कि शाहजहाँ का लक्ष्य काबुल के सीमावर्ती क्षेत्रों बल्ख और बदख़शां में किसी मित्र शासक को बैठाना था। ये प्रदेश 1585 से ही तैमूरी शासकों के अधीन रहे थे। शाहजहाँ का विश्वास था कि ऐसा करने से ग़ज़नी तथा ख़ैबर दर्रे के आसपास रहने वाले विद्रोही अफ़ग़ान क़बीलों पर भी नियंत्रण रखा जा सकेगा। सामरिक दृष्टि से मुग़लों का यह अभियान सफल रहा। मुग़लों ने बल्ख पर क़ब्ज़ा कर लिया था तथा उज़बेकों के उन्हें वहाँ से बाहर निकालने के प्रयत्नों को असफल कर दिया। इस क्षेत्र में भारतीय सेना की यह पहली महत्वपूर्ण विजय थी। लेकिन बल्ख़ पर अधिक समय के लिए अपना प्रभाव क़ायम रखना मुग़लों के बस के बाहर की बात थी। राजनीतिक दृष्टि से भी ईरान के विरोध तथा स्थानीय आबादी के असंतोष के कारण यह बड़ा कठिन था। कुल मिलाकर बल्ख अभियान से मुग़ल सेना की प्रतिष्ठा तो बढ़ी लेकिन इससे कोई विशेष राजनीतिक लाभ नहीं हुए। शायद मुग़लों के लिए अकबर द्वारा बड़ी चेष्टा के बाद स्थापित काबुल-ग़ज़नी-क़ंधार सीमा पर बने रहना अधिक लाभकारी होता और इसमें सैनिकों तथा दौलत का भी नुक़सान नहीं होता। जो भी हो जब तक नज़र मोहम्मद जीवित रहा मुग़लों के साथ उसके संबंध अच्छे रहे और दोनों के बीच राजदूतों का बराबर आदान-प्रदान रहा।

ईरान के साथ मुग़लों के संबंधों का अन्तिम चरण

बल्ख में मुग़लों की पराजय से काबुल क्षेत्र में उज़बेकों तथा ख़ैबर-ग़ज़नी क्षेत्र में अफ़ग़ान क़बीलों का विद्रोह फिर शुरू हो गया। स्थिति का लाभ उठाकर ईरानियों ने क़ंधार पर हमला कर उसे अपने क़ब्ज़े में कर लिया (1649)। यह शाहजहाँ की प्रतिष्ठा पर एक बड़ा आघात था और उसने क़ंधार को वापस लेने के लिए राजकुमारों के नेतृत्व में एक-एक कर तीन अभियान भेजे। इनमें से पहला बल्ख के विजेता औरंगज़ेब के नेतृत्व में था जो 50,000 सैनिकों के साथ वहाँ गया। यद्यपि मुग़लों ने ईरानियों को क़िले के बाहर पराजित कर दिया लेकिन वे क़िले पर पूरी तरह विजय नहीं हासिल कर सके।

तीन वर्ष बाद औरंगज़ेब ने दूसरा प्रयास किया लेकिन फिर असफल रहा। सबसे बड़ा अभियान शाहजहाँ के प्रिय पुत्र दारा के नेतृत्व में हुआ (1653)। दारा ने बड़ी-बड़ी बातें की थीं लेकिन वह अपनी विशाल सेना के बावजूद क़िले की रसद को समाप्त करने तथा उस पर क़ब्ज़ा करने में असफल रहा। इस हमले में साम्राज्य के दो सबसे बड़े तोप क़ंधार खींचकर ले जाये गये लेकिन उनका भी कोई ख़ास असर नहीं हुआ।

जैसा कि कुछ इतिहासकारों का मत है, क़ंधार में मुग़लों की असफलता मुग़ल सेना की कमज़ोरी की निशानी नहीं है। इसके विपरीत इनसे क़ंधार के क़िले की मजबूती का पता चलता है यदि उसका नेतृत्व किसी कुशल सेनाध्यक्ष के हाथों में हो। इसके अलावा इस अभियान से मज़बूत क़िलों के प्रति मध्ययुगीन तोपचियों की असफलता स्पष्ट हो जाती है (दक्कन में मुग़लों का भी यही अनुभव रहा था)। एक तर्क यह अवश्य है कि शाहजहाँ की क़ंधार विजय व्यावहारिकता से अधिक भावुकता से प्रेरित थी। सफ़ावी तथा उज़बेक शक्तियों के कमज़ोर पड़ जाने के बाद क़ंधार का अब वह सामरिक महत्व नहीं रहा था जो पहले था। मुग़लों की प्रतिष्ठा को जो आघात पहुँचा वह इसलिए नहीं था कि वे क़ंधार को अपने क़ब्ज़े में रखने में असफल रहे बल्कि इसलिए क्योंकि उन्हें वहाँ बारबार असफलता का सामना करना पड़ा जिससे उनकी शोहरत पर बुरा असर पड़ा। इस पर भी हमें अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि औरंगज़ेब के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा अपनी पराकाष्ठा पर थी। यहाँ तक कि गर्वीले आटोमन

सुल्तान ने भी 1680 में औरंगज़ेब की सहायता प्राप्त करने के लिए अपना राजदूत भेजा था।

औरंगज़ेब ने क़ंधार विजय के असफल प्रयासों पर रोक लगा दी और ईरान से राजनीतिक संबंध पुनः स्थापित किए। लेकिन 1666 में ईरान के शासक, शाह अब्बास द्वितीय ने मुग़ल राजदूत का अपमान किया, उस के सामने औरंगज़ेब के ख़िलाफ़ आपत्तिजनक बातें कहीं और आक्रमण की धमकी भी दी। इसके कारण स्पष्ट नहीं हैं। ऐसा लगता है कि शाह अब्बास द्वितीय अस्थिर बुद्धि का व्यक्ति था। पंजाब तथा काबुल में मुग़ल गतिविधियाँ बढ़ गईं लेकिन इसके पहले कि हमला किया जा सके, शाह अब्बास की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी महत्वहीन थे। और 50 वर्षों के बाद, जब नादिरशाह शासन में आया, तब तक भारत की सीमा पर ईरानियों का ख़तरा समाप्त हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुग़ल एक ओर तो हिंदुकुश को आधार बनाकर उत्तर-पश्चिम में तथा दूसरी ओर काबुल-ग़ज़नी सीमा पर क़ंधार तक वैज्ञानिक सीमा स्थापित करने में सफल हो गये थे। इस प्रकार उनकी विदेश नीति का मुख्य आधार भारत की सुरक्षा थी। इस सीमा को राजनीतिक तरीक़ों से अधिक मज़बूत बनाया गया। इसमें मुख्य नीति ईरान के साथ उनकी दोस्ती थी यद्यपि क़ंधार के मामले को लेकर दोनों में कभी-कभी अनबन हो जाती थी। मुग़लों के पूर्वजों के देश को वापस लेने की बात अधिकतर राजनीतिक कारणों से दोहराई जाती थी और इस पर कभी भी गंभीरता से काम नहीं किया गया। सैनिक तथा राजनीतिक उपायों से मुग़ल भारत को विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रखने में बहुत हद तक सफल रहे।

दूसरे, मुग़लों ने प्रमुख एशियाई राष्ट्रों के साथ बराबरी का संबंध क़ायम रखा। यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि जब हम इस बात को ध्यान में रखते हैं कि एक ओर सफ़ावी शासक पैग़म्बर मोहम्मद से विशेष संबंध के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझते थे और दूसरी ओर आटोमन सुल्तानों ने स्वयं को बग़दाद के ख़लीफ़े का उत्तराधिकारी मानकर पादशाह-ए-इस्लाम की पद्वी ग्रहण कर ली थी।

इसके अलावा मुग़लों ने अपनी विदेशी-नीति का उपयोग भारत के व्यापारिक हितों को बढ़ाने के लिए किया। भारत तथा मध्य एशिया के बीच होने वाले व्यापार के लिए काबुल तथा क़ंधार महत्वपूर्ण द्वार थे। मुग़ल साम्राज्य के लिए इस व्यापार के आर्थिक महत्व की समीक्षा पूरी तरह की जानी बाक़ी है।

प्रशासन व्यवस्था का विकास : मनसबदारी व्यवस्था तथा मुग़ल सेना

अकबर द्वारा विकसित प्रशासनिक तथा कर व्यवस्था जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने मामूली परिवर्तनों के साथ क़ायम रखी, लेकिन मनसबदारी व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। मुग़लों द्वारा विकसित मनसबदारी प्रथा ऐसी थी जिसका भारत के बाहर कोई उदाहरण नहीं मिलता। मनसबदारी व्यवस्था की उत्पत्ति संभवतः चंगेज़ख़ाँ के समय में हुई थी, जिसने अपनी सेना को दशमलव के आधार पर संगठित किया था। इसमें सबसे छोटा एकांश दस का था तथा सबसे ऊँचा दस हज़ार (तोमान) का था जिसके सेनाध्यक्ष को ख़ान कहकर पुकारा जाता था। मंगोलों की इस व्यवस्था ने कुछ हद तक दिल्ली सल्तनत की सैनिक व्यवस्था को प्रभावित किया था क्योंकि इस काल में हम एक सौ तथा एक हज़ार के सेनाध्यक्षों (सदी तथा हज़ारा)[1] के बारे में सुनते हैं। लेकिन बाबर तथा हुमायूँ के काल की व्यवस्था के बारे में हम बहुत कुछ नहीं जानते।

मनसबदारी व्यवस्था की उत्पत्ति को लेकर इतिहासकारों के बीच में काफ़ी मतभेद है। वर्तमान प्रमाण के आधार पर ऐसा लगता है कि मनसबदारी व्यवस्था का आरम्भ अकबर ने अपने शासनकाल के उन्नीसवें वर्ष (1577) में किया था। उसने साथ ही साथ कर-प्रशासन का भी सुधार किया और ज़ात तथा सवार[2] की व्यवस्था भी आरम्भ की। यद्यपि कई इतिहासकारों का मत है कि सवार पद का आरंभ अकबर ने बाद में किया। हाल के अध्ययनों से पता चलता है कि ये दोनों पद एक साथ शुरू

[1] सदी हज़ारा तथा तोमान की पद्वियाँ शीघ्र ही ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रयोग की जाने लगीं जो या तो उतने गाँवों पर नियंत्रण रखते थे या फिर उतना कर उगाहते थे। ऐसी ही एक पद्वी करोड़ों की थी जिसका अर्थ एक करोड़ दामों को इकट्ठा करने वाला होता था।

[2] 'सवार' शब्द में तोपची तथा धनुर्धारी भी शामिल थे।

किए गए थे। ज़ात की पद्वी किसी व्यक्ति की हैसियत की सूचक थी तथा उसका वेतन भी इसी आधार पर निश्चित होता था। दस से लेकर दस हज़ार तक के मनसब के लिए 66 वर्ग थे, यद्यपि पाँच हज़ार से अधिक की पद्वी केवल राजकुमारों को दी जाती थी। पाँच सौ ज़ात के नीचे के व्यक्तियों को मनसबदार तथा पाँच सौ से ढाई हज़ार ज़ात तक के व्यक्तियों को अमीर कहा जाता था। ढाई हज़ार से ऊपर की पद्वी अमीर-ए-उम्दा या उम्दा-ए-आज़म थी। कभी-कभी इन तीनों श्रेणियों के लिए मनसबदार शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। व्यक्तिगत हैसियत के अलावा इस वर्गीकरण का एक और महत्व था : कोई अमीर तथा अमीर-ए-उम्दा अपने नीचे किसी अन्य अमीर तथा मनसबदार को सेवा के लिए रख सकता था। लेकिन एक मनसबदार ऐसा नहीं कर सकता था। इस प्रकार पाँच हज़ार की पद्वी वाला व्यक्ति अपने नीचे चार सौ ज़ात तक के मनसबदार को रख सकता था और चार हज़ार की पद्वी वाला चार सौ ज़ात के मनसबदार को अपने अधीन रख सकता था। ये वर्गीकरण बहुत ठोस नहीं था। कई बार लोगों को नीचे के मनसब में नियुक्त किया जाता था और धीरे-धीरे उनकी योग्यता तथा सम्राट् की इच्छानुसार उनकी पदोन्नति की जाती थी। दंड-स्वरूप किसी व्यक्ति की पदावनति भी कर दी जाती थी। इस प्रकार **सैनिक तथा गैर-सैनिक अधिकारियों की सेवा मिली-जुली थी।** किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति सबसे नीचे के स्तर पर की जाती थी और वह अमीर तथा अमीर-ए-उम्दा तक की पद्वी हासिल करने की आशा रख सकता था। इस प्रकार कुछ हद तक पदोन्नति योग्यता के आधार पर होती थी।

अपने व्यक्तिगत ख़र्च के अलावा मनसबदार को अपने वेतन में से एक निश्चित संख्या में घोड़ों, हाथियों, बोझ ढोने वाले जानवरों (जैसे ऊँट तथा ख़च्चर) तथा गाड़ियों को रखना पड़ता था। उदाहरण के लिए पाँच हज़ार ज़ात वाले मनसबदार को 340 घोड़ों, 100 हाथियों, 400 ऊँटों, 100 ख़च्चरों तथा 160 गाड़ियों की व्यवस्था रखनी पड़ती थी। बाद में यह सभी केन्द्र द्वारा ही रखे जाने लगे लेकिन इनका ख़र्च मनसबदार को ही अपने वेतन में से भरना पड़ता था। नस्ल के आधार पर घोड़ों को छ: वर्गों में तथा हाथियों को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया था और घोड़ों तथा हाथियों की संख्या और क़िस्में सावधानी से निर्धारित की जाती थी। ऐसा इसलिए था क्योंकि अच्छी नस्ल के घोड़ों तथा हाथियों की बड़ी महत्ता थी और ये सेना के अभिन्न अंग थे। वास्तव में उन दिनों सेना के प्रमुख आधार घुड़सवार तथा हाथी ही होते थे यद्यपि धीरे-धीरे तोपचियों का महत्व बढ़ता जा रहा था। सेना की गतिशीलता को बनाये रखने के लिए परिवहन दल का भी बहुत महत्व था।

इन ख़र्चों के लिए मुग़ल मनसबदारों को वेतन भी बहुत अधिक मिलता था। 5,000 वाली पद्वी के मनसबदार 30,000 रुपये प्रति माह तक मिल जाते थे। 3,000 वाले मनसबदार को 17,000 रु० तथा 1,000 वाले मनसबदार को 8,200 रु० प्रति माह तक का वेतन मिल जाता था। यहाँ तक की 100 की पद्वी वाले सादी को भी 7,000 प्रति साल का वेतन मिल जाता था। इस वेतन का लगभग एक-चौथाई हिस्सा परिवहन दल के रख-रखाव पर ख़र्च हो जाता था। फिर भी मुग़ल मनसबदारों का वेतन दुनियाँ में सबसे ऊँचे वेतनों में से था।

सवार पद्वी से इस बात का संकेत मिलता था कि मनसबदारों को राज्य की सेवा के लिए कितने घुड़सवार रखने पड़ेंगे। इनके रख-रखाव के लिए मनसबदार को आरम्भ में 240 रु० प्रति वर्ष प्रति सवार मिल जाते थे। बाद में जहाँगीर के शासनकाल में यह राशि घटाकर दो सौ रुपये प्रति वर्ष कर दी गई। सवारों को उनकी राष्ट्रीयता के हिसाब से वेतन मिलता था। मुग़ल सवार को किसी भी भारतीय मुसलमान अथवा राजपूत सवार से अधिक वेतन मिलता था। मनसबदार को अपने विभिन्न ख़र्चों के लिए सवारों के लिए मिली राशि में से 5 प्रतिशत रखने की स्वीकृति रहती थी। इसके अलावा उसके ज़ात वेतन में दो रुपये प्रति सवार की वृद्धि होती थी। यह उसकी अधिक ज़िम्मेदारी तथा अधिक काम के लिए थी।

सवार व्यवस्था के बारे में दो विशेषताएँ ध्यान में रखनी चाहिए। प्रति दस आदमी की टुकड़ी के लिए मनसबदार को बीस या बाईस घोड़े रखने पड़ते थे। क्योंकि घुड़सवार सेना के मुख्य अंग थे, युद्ध तथा अभियान के दौरान घोड़ों की बदली बहुत महत्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ तक कि एक ही घोड़े वाले सवार को नीम-

सवार अर्थात् आधा सवार माना जाता था अर्थात् जिसका एक पैर ज़मीन पर हो। दूसरी विशेषता यह थी कि मुग़ल मिलीजुली सेना के पक्ष में थे। उनकी सेना में ईरानी तथा तूरानी मुग़ल, भारतीय मुसलमान (हिन्दुतानी) तथा राजपूत एक विशेष तादाद में रखे जाते थे। इसका उद्देश्य क़बीलाई तथा जातीय भेदभाव को पनपने देने से रोकना था। परन्तु विशेष परिस्थितियों में मुग़ल या राजपूत मनसबदारों को केवल मुग़ल अथवा राजपूत सैनिकों के दल को संगठित करने की स्वीकृति दी जाती थी।

अकबर के शासनकाल के अंतिम वर्षों में ऊँची से ऊँची पद्वी 5,000 से बढ़कर 7,000 कर दी गई थी। साम्राज्य के दो प्रमुख सरदार मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका तथा राजा मानसिंह थे और दोनों की पद्वी सात-सात हज़ार की थी। यह सीमा औरंगज़ेब के शासनकाल के अंत तक बनी रही। इस काल में कुछ और परिवर्तन अवश्य किए गए। ज़ातों के वेतनों को घटाने की प्रवृत्ति स्पष्ट नज़र आती है। जैसा कि हम देख चुके हैं जहाँगीर ने सवार के औसत वेतन को घटा दिया था। जहाँगीर ने एक अन्य व्यवस्था शुरू की जिससे चुने हुए सरदार ज़ात पद्वी में उन्नति के बिना सैनिकों की एक बड़ी टुकड़ी रख सकते थे। इस व्यवस्था को दु-अस्पाह-सिह्-अस्पाह व्यवस्था (अर्थात् दो या तीन घोड़ों वाला सैनिक) कहा जाता था। इसके अन्तर्गत इस पद्वी के मनसबदार को उसके सवार की पद्वी के आधार पर निश्चित सैनिकों से दुगुने सैनिक रखने पड़ते थे और उसे इसके लिए दुगुना वेतन भी मिलता था। इस प्रकार 3,000 ज़ात वाली पद्वी के मनसबदार तथा 3,000 सवार वाले दु-अस्पाह-सिह्-अस्पाह दोनों को छः छः हज़ार सैनिकों के दल को रखना पड़ता था। सामान्यतः किसी भी मनसबदार को सवार की ऐसी पद्वी नहीं दी जाती थी जो उसकी ज़ात की पद्वी से अधिक हो।

शाहजहाँ के शासनकाल में एक अन्य परिवर्तन जो हम देखते हैं, उसका उद्देश्य किसी भी सरदार द्वारा रखे गये सवारों की संख्या को घटाना था। किसी भी सरदार को अपनी सवार पद्वी के आधार पर निश्चित संख्या के एक-तिहाई सवारों को रखना पड़ता था। यहाँ तक कि कुछ परिस्थितियों में यह संख्या एक-चौथाई अथवा $\frac{1}{5}$ रहती थी। जहाँगीर के शासनकाल के ऐसे सरदार जिसकी 3,000 ज़ात अथवा 3,000 सवार की पद्वी थी उसे 1,000 से अधिक सैनिकों को नहीं रखना पड़ता था। लेकिन यदि उस सरदार की पद्वी 3,000 सवारों वाली दु-अस्पाह-सिह्-अस्पाह हो तो यह संख्या दुगुनी अर्थात् 2,000 सैनिकों तक पहुँच जाती थी।

यद्यपि मनसबदारों का वेतन रुपयों में निश्चित किया जाता था, वास्तव में उन्हें वेतन जागीर के रूप में दिया जाता था। अकबर के शासनकाल में जागीरदारी व्यवस्था के बारे में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। मनसबदार भी रुपयों के स्थान पर जागीर ही पसन्द करते थे क्योंकि रुपयों की अदायगी में प्रायः देर हो जाती थी और इसमें परेशानी भी उठानी पड़ती थी। इसके अलावा ज़मीन पर अधिकार सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक थी। यद्यपि निश्चित वर्गीकरण तथा कड़े नियमों से मुग़लों ने सरदारों को एक अफ़सरशाही सेवा का रूप दे दिया था फिर भी वे ज़मीन के प्रति उनके सामन्ती मोह को समाप्त नहीं कर सके। जैसा कि हम देखेंगे मुग़ल सरदारों के लिए यह बहुत बड़ी समस्या बना हुआ था।

जागीर देने के उद्देश्य से कर-विभाग को विभिन्न क्षेत्रों से होने वाली आय का पक्का ब्यौरा रखना पड़ता था। इस आय को रुपयों के स्थान पर **दामों** में आंका जाता था। चालीस दामों का मूल्य एक रुपये के बराबर होता था। इस ब्यौरे को **जमा-दामी** कहते थे।

जैसे-जैसे मनसबदारों की संख्या बढ़ती गई, उल्लिखित परिवर्तन यथेष्ट नहीं पाए गए। चारों ओर वेतनों में कटौती होने पर सरदारों में असन्तोष फैल जाता और मुग़ल सम्राट यह ख़तरा मोल नहीं ले सकते थे। इसलिए उनके लिए निश्चित सैनिकों तथा घोड़ों की संख्या पुनः घटा दी गई। मनसबदारों को वेतन अब दस महीनों, आठ महीनों, छह महीनों या उससे भी कम अवधि के आधार पर मिलने लगा और उसी अनुपात में उनके द्वारा रखे जाने वालों सवारों की संख्या भी कम कर दी गई। इस प्रकार अकबर द्वारा आरम्भ किये गये नियमों के अनुसार 3,000 ज़ात तथा 3,000 सवार की पद्वी वाले मनसबदार को एक हज़ार सवार और 2,200 घोड़े रखने पड़ते थे। यदि अब उसका वेतन दस महीनों के आधार पर निश्चित होता था तब उसे केवल 1,800 घोड़े रखने पड़ते थे और यदि छह महीनों के लिए निश्चित होता था तो केवल 1100 घोड़े रखने पड़ते

साधारणतया वेतनों को निश्चित करने के लिए पाँच महीनों से कम तथा दस महीनों से अधिक की अवधि नहीं रखी जाती थी।

वेतनों के लिए महीनों का आधार जो निश्चित किया गया था उससे जागीर से होने वाली आय की कमी पर कोई असर नहीं पड़ा। शाहजहाँ के शासनकाल में जागीर का मूल्य अर्थात् जमादामी बढ़ी ही थी। इसके अतिरिक्त महीनों का आधार केवल जागीरदारों के लिए ही नहीं बल्कि उनके लिए भी था जिन्हें वेतन रुपयों में मिलता था। यह ध्यान देने योग्य है कि मुग़ल सेवा में जिन मराठों को नियुक्त किया गया था उनमें से अधिकतर के मनसब पाँच महीनों या उससे कम के आधार पर तय किए गए थे। इस प्रकार यद्यपि उनका पद ऊँचा था, उनके द्वारा रखे गये घोड़ों तथा सवारों की संख्या उनके पदों के अनुरूप निश्चित संख्या से बहुत कम थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, अच्छी घुड़सवार सेना के लिए यह आवश्यक था कि घोड़े पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हों। शाहजहाँ के शासनकाल में घोड़ों की कमी से मुग़ल अश्व सेना पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ा होगा।

मुग़लों की मनसबदारी व्यवस्था बड़ी पेचीदा थी। इसकी सफलता कई तत्वों पर निर्भर थी जिसमें जागीरदारी व्यवस्था तथा घोड़ों को दाग़ने की प्रथा शामिल थी। यदि दाग़ व्यवस्था का अच्छी तरह पालन नहीं होता था, तो साम्राज्य को नुक़सान पहुँचता था। यदि जमादामी को बढ़ा दिया जाता था या फिर जागीरदारों को उनका निश्चित वेतन नहीं मिलता था, तब उनका असंतोष बढ़ जाता था और वे निश्चित संख्या के सवारों अथवा घोड़ों को रखना छोड़ देते थे। कुल मिलाकर मनसबदारी व्यवस्था शाहजहाँ के शासनकाल में सफल रही क्योंकि शाहजहाँ स्वयं सूक्ष्मता से प्रशासन की देख-रेख करता था तथा बड़े योग्य व्यक्तियों को वज़ीरों के रूप में नियुक्त करता था। कुशल और सही व्यक्तियों की सेवा में नियुक्ति, कड़े अनुशासन तथा पदोन्नति के निश्चित नियमों के कारण मुग़ल सरदारों का वर्ग ऐसा वर्ग था जिस पर भरोसा किया जा सकता था तथा जिसमें प्रशासनिक कार्यों और साम्राज्य की सुरक्षा को बनाये रखने के लिए बहुत योग्यता थी।

मुग़ल सेना

जैसा कि हम देख चुके हैं घुड़सवार मुग़ल सेना के प्रमुख अंग थे और इन्हें उपलब्ध कराने का उत्तरदायित्व अधिकतर मनसबदारों पर था। मनसबदारों के अलावा मुग़ल सम्राट अलग भी वीर घुड़सवार रखते थे जिन्हें **अहदी** पुकारा जाता था। अहदियों को बहुत ऊँचा वेतन मिलता था। इनकी नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था और इनका अपना सेना अध्यक्ष होता था। इसलिए ये काफ़ी भरोसे के होते थे। एक अहदी पाँच घोड़ों तक रखता था यद्यपि कभी-कभी दो अहदी मिल कर एक घोड़ा भी रखते थे। अहदियों के कोई निश्चित कर्त्तव्य नहीं थे। सरकारी दफ़्तरों के अधिकतर लिपिक, राजदरबार के चित्रकार तथा कारखानों के फ़ोरमेन इसी वर्ग से नियुक्त होते थे। इनमें से कई राजसी आदेशों को ले जाने के लिए नियुक्त किये जाते थे। शाहजहाँ के शासनकाल में अहदियों की संख्या 7,000 थी। इन्हें कई बार लड़ाई के मैदान में भी भेजा जाता था। इनमें से कई कुशल तीरअन्दाज़ और बरक़अन्दाज़ होते थे।

अहदियों के अलावा सम्राट अंगरक्षकों की एक टुकड़ी भी रखते थे (इन्हें वाला-शाही पुकारा जाता था)। इसके अलावा महलों की सुरक्षा के लिए भी सैनिक दल रहते थे। ये वास्तव में घुड़सवार होते थे लेकिन महल तथा क़िलों की देखरेख पैदल चलकर करते थे।

एक अन्य वर्ग **पियादगानों** का था। ये संख्या में बहुत थे पर इनका कोई निश्चित कर्त्तव्य नहीं था। इनमें से कई बन्दूक़ची होते थे और इन्हें तीन से सात रुपये प्रतिमाह तक वेतन मिलता था। वास्तव में मुग़ल सेना के प्यादे यही थे। प्यादों में कुली, नौकर, पहलवान, तलवार-बाज़ तथा ग़ुलाम शामिल थे। इस काल में ग़ुलामों की संख्या सल्तनत काल से कम थी और इन्हें सम्राट अथवा राजकुमार की ओर से खाना कपड़ा मिलता था। कभी-कभी ग़ुलामों की पदोन्नति अफ़सरों के पद तक हो जाती थी लेकिन आमतौर पर प्यादों का स्तर निम्न ही रहता था।

मुग़ल सम्राट बड़ी संख्या में हाथी भी रखते थे तथा उनका तोपखाना बड़ा सुसंगठित रहता था। तोपखाने के दो विभाग थे—क़िलों की रक्षा अथवा उन पर हमला करने के लिए ऐसी भारी तोपें होती थीं जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बड़ा कठिन होता था। इनके अलावा ऐसी

तोपें थीं जो कहीं भी आसानी से ले जायी जा सकती थीं। मुग़ल अपने तोपख़ाने के सुधार के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते थे और उन्होंने आरम्भ में इस विभाग में आटोमन तथा पुर्तगालियों की नियुक्ति भी की थी। औरंगज़ेब के समय तक मुग़ल तोपख़ाना काफ़ी अच्छा हो गया था और विदेशियों को इस विभाग में मुश्किल से नियुक्ति मिलती थी।

कुछ तोपें आकार में बहुत ही बड़ी थीं। जैसा कि एक आधुनिक लेखक ने कहा है "इन तोपों से आवाज़ अधिक और नुक़सान कम होता था। ये दिन में कई बार दाग़ी नहीं जा सकती थीं और यह ख़तरा बना रहता था कि ये फटकर दाग़ने वालों को ही मार देंगी।" लेकिन दूसरी ओर शाहजहाँ के साथ लाहौर तथा काश्मीर जाने वाले फ्राँसीसी यात्री बर्नियर ने कहा है कि हल्की तोपें रक़ाब-तोपों की तरह थीं और बहुत अच्छी थीं। उसका कहना है कि ये तोपें पीतल के पचास छोटे टुकड़ों से बनी होती थीं तथा हर तोप एक सुन्दर गाड़ी पर रखी जाती थी जिस पर बारूद के दो बक्से भी रखे जाते थे। इस गाड़ी को दो सुन्दर घोड़े खींचते थे तथा एक घोड़ा अतिरिक्त होता था। हल्की तोपों को हाथियों तथा ऊँटों की पीठ पर भी रखा जाता था।

मुग़ल सेना की शक्ति का सही अनुमान लगाना कठिन है। शाहजहाँ के शासनकाल में इसमें 200,000 घुड़सवार थे जिसमें प्रान्तों के तथा फ़ौजदारों के साथ काम करने वाले सैनिक शामिल नहीं थे। औरंगज़ेब के शासनकाल में यह संख्या बढ़कर 240,000 हो गई। शाहजहाँ के शासनकाल में 40,000 लड़ने वाले प्यादे थे और सम्भव है कि औरंगज़ेब के शासनकाल में भी इनकी संख्या इतनी ही रही हो।

पश्चिम और मध्य एशिया तथा यूरोपीय राज्यों की सेनाओं के मुक़ाबले में मुग़ल सेना कैसी थी? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है यद्यपि बर्नियर जैसे कई यूरोपीय यात्रियों ने मुग़ल सेना के बारे में बहुत अच्छा नहीं कहा है। उनकी बातों का सावधानी से विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी बातें अधिकतर मुग़ल पैदल-सेना पर लागू होती हैं जिनमें कोई अनुशासन नहीं था और न ही वे अच्छी तरह संगठित थी। उनका नेतृत्व भी बेतरतीब था और ऐसा लगता था कि एक भीड़ जमा हो गई हो। यूरोप में पैदल सेना का विकास अन्य ढंग से हुआ था। सत्रहवीं शताब्दी में बन्दूक़ के विकास के बाद पैदल सेना की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और कभी-कभी तो यह अश्व सेना को भी मात दे देती थी। भारतीयों को इस विकास का आभास अठारहवीं शताब्दी में बहुत बड़ा मूल्य चुका कर हुआ। बल्ख़ अभियान के समय उज़बेकों के ख़िलाफ़ मुग़लों की सफलता से पता चलता है कि मुग़ल सेना मध्य एशिया तथा ईरानी सेनाओं से खुले युद्ध में बहुत कमज़ोर नहीं पड़ती थी। इसकी मुख्य कमज़ोरी नौसेना के क्षेत्र में थी। यद्यपि मुगलों की अश्व सेना भी बहुत अच्छी नहीं थी तथापि औरंगज़ेब के समय तक वह एशिया की अन्य शक्तियों के मुक़ाबले हो गई थी। यह और बात है कि यह यूरोपीय शक्तियों की सेनाओं जैसी शक्तिशाली नहीं थी। कुल मिलाकर सेना की व्यवस्था और विशेषकर घुड़सवारों की उपलब्धि जागीरदारी व्यवस्था पर निर्भर थी जो देश में प्रचलित भूमि सम्बन्धों पर आधारित सामन्ती व्यवस्था पर निर्भर थी। कुल मिलाकर एक की शक्ति और सफलता दूसरे की शक्ति पर निर्भर करती थी।

प्रश्न-अभ्यास

1. मुग़ल साम्राज्य के विस्तार में जहाँगीर और शाहजहाँ के योगदान का विवेचन कीजिए।
2. सोलहवीं सदी में मुग़लों और उज़बेकों के संबंधों का वर्णन कीजिए।
3. क़ंधार के प्रश्न का मुग़ल साम्राज्य के ईरान के साथ संबंधों पर क्या प्रभाव पड़ा? औरंगज़ेब के काल तक इन संबंधों का वर्णन कीजिए।

4. मध्य एशिया में मुग़लों की नीति के मुख्य उद्देश्य क्या थे ?
5. मनसबदारी व्यवस्था के संगठन का वर्णन कीजिए। अकबर के बाद इस व्यवस्था में जो परिवर्तन हुए, उनका वर्णन कीजिए।
6. मुग़लों की सेना के मुख्य अंग क्या थे ? मुग़ल सेना की प्रभावकारिता का मूल्यांकन दीजिए। इसकी मुख्य कमज़ोरियाँ क्या थीं ?

मुग़ल काल में आर्थिक और सामाजिक जीवन तथा सांस्कृतिक विकास

आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति

जीवन स्तर : जन साधारण—सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मुग़ल साम्राज्य आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास में अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुंच गया था। आर्थिक और सामाजिक स्थिति की समीक्षा करते समय हम अकबर के शासनकाल से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक के काल को ही ध्यान में रखेंगे क्योंकि इस काल के दौरान आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुए।

इस काल में आर्थिक और सामाजिक स्थिति की एक महत्वपूर्ण विशेषता शासक वर्ग के शानो-शौकत के जीवन तथा दूसरी ओर किसानों, दस्तकारों तथा श्रमिकों के ग़रीबी भरे जीवन के बीच का अंतर था। जैसा कि हम पहले के अध्याय में देख चुके हैं, दक्षिण भारत में कम वस्त्रों का रिवाज ही था। इसका कारण वहाँ की जलवायु थी। लेकिन उत्तर भारत में साल के कुछ हिस्से में कपड़ों की आवश्यकता होती ही है। यहाँ सामान्य आदमी कितना भी कम कपड़ा पहनते थे, इस बात ने बाबर का भी ध्यान आकर्षित किया था। उसने कहा कि यहां किसान तथा निम्न वर्ग के लोग क़रीब-क़रीब नंगे ही रहते हैं। उसने पुरुषों के लंगोट तथा महिलाओं की साड़ियों का भी वर्णन किया है और उसके वर्णन की बाद में आए विदेशी यात्रियों ने भी पुष्टि की है। राल्फ़ फ़िच, जो सोलहवीं शताब्दी के अंत में भारत आया था, ने कहा है कि बनारस में पुरुष कमर में बंधे एक कपड़े को छोड़कर नंगे ही रहते हैं। सलबांके ने लाहौर और आगरा के बीच बसे हुए लोगों के बारे में लिखा कि यहाँ जनसाधारण इतना ग़रीब है कि अधिकतर लोग नंगे ही रहते हैं। दिलेत ने लिखा है कि श्रमिकों के पास जाड़े में गरम रहने लायक़ कपड़े नहीं थे लेकिन फ़िच के अनुसार, "जाड़े में, जो हमारे लिए मई के समान है, लोग सूती गद्देवाली पोशाक और मोटी टोपियाँ पहनते हैं।"

इन विदेशी यात्रियों के वर्णनों को सावधानी से देखने की आवश्यकता है। ये लोग ठंडे प्रदेश से आए थे और भारत की जलवायु और यहाँ के रहन-सहन तथा रिवाजों से अपरिचित थे। इसलिए यहाँ के लोगों को देखकर उन्हें लगभग नंगा समझ लेना उनके लिए स्वाभाविक था। कुल मिलाकर नंगेपन के बारे में ऐसा समझा जाना चाहिए कि लोगों के पास पर्याप्त वस्त्र नहीं थे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन दिनों यद्यपि कपास की खेती और सूती वस्त्रों का निर्माण अब की अपेक्षा अधिकतर गाँवों में होता था, साधारणतया आज की तुलना में वस्त्र खाद्य पदार्थों के मुक़ाबले में अधिक महंगे होते थे।

विदेशी यात्रियों ने पैरों के नंगेपन की चर्चा भी की है। निकितिन के अनुसार दक्कन के लोग नंगे पाँव ही रहते थे। आधुनिक लेखक मोरलैंड ने कहा है कि बंगाल को छोड़कर नर्मदा नदी के उत्तर में उसने कहीं भी जूतों की चर्चा नहीं सुनी और इसका कारण चमड़े की महँगाई थी। लेकिन समसामयिक लेखक अंग्रेज़ यात्री राल्फ़ फ़िच ने पटना के बारे में कहा है "यहाँ की महिलाएँ चाँदी और ताँबे के गहनों से सजी रहती हैं। देखने में अजीब सा लगता है कि वे अँगूठों में चाँदी और ताँबे के छल्लों के कारण जूते नहीं पहनतीं।"

जहाँ तक आवास और फ़र्नीचर का सवाल है, कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। गाँवों के लोग मिट्टी के घरों में रहते थे जो आजकल के घरों से बहुत भिन्न नहीं थे। फ़र्नीचर के नाम पर उनके पास चारपाई और बाँस की चटाइयों के अलावा शायद ही और कुछ होता था। बर्तन उनके मिट्टी के होते थे जो गाँव के कुम्हार बनाते थे। ताँबे तथा अन्य धातुओं के बर्तन महँगे थे और साधारणतया ग़रीब इनका इस्तेमाल नहीं करते थे।

खाद्य पदार्थों में चावल, बाजरा और दाल (जिसे पेलसेती और दिलेत खिचड़ी पुकारते हैं) प्रमुख थे। बंगाल तथा तटवर्ती प्रदेशों में मुख्य खाद्य पदार्थ मछली तथा प्रायद्वीप के दक्षिण में मांस था। उत्तर भारत में गेहूँ तथा मोटे अनाज की चपातियों के साथ दाल और हरी सब्ज़ी अधिक चलती थी। कहा जाता है कि आम आदमी का मुख्य भोजन शाम को होता था और दिन में वह भुनी हुई दाल या कोई और अनाज चबा कर गुज़ारा करता था। खाद्यान्नों की अपेक्षा घी-तेल अधिक सस्ता था और ग़रीबों के भोजन का प्रमुख हिस्सा था। परन्तु चीनी और नमक थोड़ा अधिक महंगे होते थे।

इस प्रकार यद्यपि आम आदमी के पास पहनने के कपड़ों की कमी थी और जूते महँगे थे, पर दूसरी और खाने के लिए उन्हें मक्खन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त था। अधिक चरागाह उपलब्ध होने के कारण वे अधिक संख्या में गाय-भैंस रख सकते थे जिससे दूध तथा दुग्ध-पदार्थ अधिक मात्रा में उपलब्ध थे। लेकिन अकाल के दिनों में स्थिति बिल्कुल उल्टी होती थी। सड़क मार्ग से अनाज को एक जगह से दूसरी जगह ले जाना बड़ा महँगा पड़ता था इसलिए हमें भयानक अकालों की कई बार चर्चा मिलती है जिनमें माँ-बाप अपने बच्चों को बेच तक देते थे। यहाँ तक कि आदमी द्वारा आदमी को खाने की भी चर्चा मिलती है। यद्यपि राज्य की ओर से लंगर का प्रबंध किया जाता था और कई बार अमीर वर्ग के लोग भी सहायता करते थे, परन्तु इस प्रकार की सहायता कभी भी पर्याप्त नहीं होती थी।

जीवन स्तर अंततः आय और वेतनों पर ही निर्भर करता था। वास्तविक मूल्यों के आधार पर किसानों की आय का अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि गाँवों में मुद्रा का आदान-प्रदान बहुत कम होता था। गाँव के दस्तकारों को उनका पारिश्रमिक परंपरागत पदार्थों के रूप में मिलता था। किसानों की भूमि की औसत मिलकियत का भी अनुमान लगाना कठिन है। हमें जो आँकड़े प्राप्त हैं, उनसे लगता है कि गाँवों में बड़ी असमानता थी। ऐसे किसान जिनके पास अपने हल या बैल नहीं थे, वे अधिकतर उच्च वर्ग के ज़मींदारों की भूमि पर खेती करते थे और अपना निर्वाह भर कर पाते थे। ऐसे किसानों को पाही कहा जाता था। सोलहवीं शताब्दी के महान कवि तुलसीदास ने कहा है कि इस प्रकार की खेती ही इनकी दीनता का कारण थी। जब भी अकाल पड़ता था—और कई बार पड़ता था—ऐसे किसान तथा ग्रामीण दस्तकारों को सबसे अधिक दुख झेलना पड़ता था। ऐसे किसानों को, जो अपनी भूमि पर खेती करते थे, ख़ुदकाश्त कहा जाता था। ये बंधे बंधाए दरों पर लगान चुकाते थे। इनमें से कुछ के पास कई हल और बैल होते थे जो वे किराये पर ग़रीब किसानों को देते थे। अनुमान लगाया जाता है कि सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत की आबादी साढ़े बारह करोड़ थी। इस हिसाब से खेत बड़ी मात्रा में उपलब्ध रहे होंगे और यह कहा जा सकता है कि भूमि के मालिकों की संख्या पाहियों तथा गाँव के दस्तकारों की अपेक्षा अधिक थी। सभी वर्गों के किसानों को संभवतः ईंधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था क्योंकि जंगल अधिक थे। लकड़ी और कोयले के अलावा गोबर भी इस्तेमाल में आता था और गाय बैलों की संख्या अब की तुलना में अधिक होने के कारण यह अधिक मात्रा में उपलब्ध था।

गाँव के ग़रीब कई बार रोज़गार की तलाश में शहर आते थे। इसका एक प्राकृतिक कारण तो बढ़ती हुई आबादी थी पर अकाल के कारण खेती के तबाह होने

तथा अधिक लगान निर्धारित होने जैसे अन्य कारण भी थे। ऐसे लोगों को सेना में क़ुलियों, नौकरों तथा शहरों में अकुशल कारीगरों का रोजगार मिल जाता था।

हाल में किए गए अध्ययनों के अनुसार ऐसा लगता है कि मध्य युग में भूमि अधिक उपजाऊ थी। खेती के लिए अधिक भूमि उपलब्ध होने के कारण औसत जोत-सीमा भी अधिक होती होगी। मध्य युग में किसान को उसकी ज़मीन से उस समय तक वंचित नहीं किया जाता था जब तक वह लगान देता रहता हो। उसके बाद ज़मीन की मिल्कियत उसके बच्चों को मिल जाती थी। यद्यपि राज्य द्वारा निर्धारित लगान काफ़ी और कभी-कभी कुल उत्पादन का आधा हिस्सा होता था, ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि लगान चुकाने के बाद औसत किसान के पास मुश्किल से जीवन-निर्वाह करने लायक़ ही बचता हो। यद्यपि किसानों का जीवन कठिन था, उसके पास खाने और अपनी साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने के पर्याप्त साधन होते थे। उसका रहन-सहन कुछ हद तक बदलते मौसम और कुछ हद तक रीति-रिवाजों तथा परंपराओं—जिसमें मेलों, तीर्थयात्रिओं और रीति-रिवाजों का अपना स्थान था—द्वारा निर्धारित था।

जहाँ तक शहरों का सवाल है वहाँ सबसे बड़ा वर्ग ग़रीबों का ही था जिसमें दस्तकार, नौकर तथा ग़ुलाम, सिपाही, तथा छोटे दुकानदार आदि शामिल थे।

यूरोपीय यात्रियों के अनुसार सबसे निम्न स्तर के नौकरों का वेतन दो रुपए महीने से भी कम था। पैदल-सैनिक तथा अन्य छोटे वर्ग के अधिकतर लोग तीन रुपए महीने से भी कम वेतन पर नौकरी शुरू करते थे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दो रुपए महीने में आदमी अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के लेखक मोरलैंड के अनुसार श्रमिकों की वास्तविक आय में बीसवीं शताब्दी तक बहुत कम अंतर आया था, उन्हें संतुलित आहार तो मिल जाता था पर कपड़ों और चीनी आदि पर ख़र्च करने के लिए कम पैसे होते थे। इससे मोरलैंड ने यह निष्कर्ष निकाला कि अंग्रेज़ों के शासनकाल में भारतीयों की स्थिति और ख़राब नहीं हुई थी। लेकिन इस विषय को हमें विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखना पड़ेगा। एक ओर जब यूरोप में लोगों की संपत्ति और वास्तविक आय बढ़ रही थी, अंग्रेज़ों के शासनकाल में भारतीयों का जीवन स्तर अगर गिरा नहीं तो जड़भूत अवश्य हो गया था। लेकिन इस विषय पर विस्तृत चर्चा हम आधुनिक काल से संबंधित खंड में करेंगे।

शासक वर्ग : सरदार और ज़मींदार

मध्य युग में शासक वर्ग में उच्च वर्ग सरदार और ज़मींदार शामिल थे। आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से विशेषाधिकार वर्ग मुग़ल सरदारों का बना था। सैद्धांतिक रूप से मुग़ल सरदारों के वर्ग के दरवाज़े हर आदमी के लिए खुले थे पर वास्तव में उच्च घरानों को, चाहे वे भारतीय हों या विदेशी, विशेष सुविधा थी। अधिकतर मुग़ल सरदार मुग़लों के स्वदेश, तूरान तथा तजाकिस्तान, ख़ुरासान, ईरान आदि क्षेत्रों से आए थे। यद्यपि बाबर स्वयं एक तुर्क था, मुग़ल शासकों ने कभी संकीर्ण जातिवाद की नीति नहीं अपनाई। बाबर ने प्रमुख अफ़ग़ान सरदारों को अपने पक्ष में करने की चेष्टा की पर उन्होंने शीघ्र ही उसका साथ छोड़ दिया। बिहार तथा बंगाल में मुग़लों तथा अफ़ग़ानों के बीच संघर्ष अकबर के शासनकाल तक चला। लेकिन जहाँगीर के समय से सरदारों में अफ़ग़ानों को भी शामिल किया जाने लगा। भारतीय मुसलमानों, जिन्हें शेख़ज़ादा अथवा हिंदुस्तानी कहा जाता था, को भी यह पद मिलने लगा।

अकबर के समय से सरदारों के लिए हिन्दुओं की भी भर्ती होने लगी। इनमें सबसे बड़ा वर्ग राजपूतों का था। राजपूतों में भी कछवाहा प्रमुख थे। एक आधुनिक गणना के अनुसार 1594 में अकबर के शासनकाल में हिंदू सरदारों का अनुपात केवल सोलह प्रतिशत था। लेकिन इन आँकड़ों से हिंदुओं की स्थिति अथवा उनके प्रभाव का सही-सही अंदाज़ नहीं लगाया जा सकता। राजा मानसिंह और राजा बीरबल, दोनों अकबर के ख़ास मित्रों में से थे और कर प्रशासन के क्षेत्र में राजा टोडरमल का बहुत प्रभाव एवं सम्मान था। सरदारों में सम्मिलित किए गए राजपूत या तो वंशागत राजा थे या फिर किसी राजा से संबंधित उच्च खानदान के थे। इस प्रकार सरदारों में उनके शामिल होने से इस वर्ग का अभिजात्य और बढ़ गया था। इसके बावजूद उच्च वर्ग में साधारण आदमियों द्वारा नाम कमाने और आगे बढ़ने की गुंजाइश थी।

जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासनकाल में अभिजात

वर्ग में काफ़ी स्थिरता आई। इन दोनों सम्राटों ने सरदारों के संगठन (मनसबदारी व्यवस्था), पदोन्नति के नियमों, अनुशासन तथा राजस्वी सेवा में योग्य व्यक्तियों की भर्ती की और काफ़ी ध्यान दिया।

जैसा कि हम देख चुके हैं मुग़ल सरदारों के वेतन किसी भी दृष्टि से बहुत ऊँचे थे। इसके साथ-साथ धर्म के मामले में मुग़ल सम्राटों की सहिष्णुता की नीति तथा भारत में राजनीतिक स्थिरता के कारण कई योग्य विदेशी, मुग़ल दरबार की ओर आकर्षित हुए। इस प्रकार भारत में ईरानी, तूरानी तथा कई अन्य विदेशियों के मुग़ल दरबार में आने के बारे में फ्राँसीसी यात्री बर्नी ने लिखा है कि मुग़ल सरदारों का वर्ग उन विदेशियों का था जिन्होंने एक दूसरे को राजदरबार में आने के लिए प्रेरित किया था। आधुनिक अनुसंधान ने इस कथन को ग़लत साबित कर दिया है। योग्य व्यक्तियों का भारत आना जारी रहा और इनमें से कई मुग़ल राजदरबार में ऊँचे ओहदों तक पहुंच गए। ये सभी भारत में ही बस गए और यहीं पर अपना स्थायी निवास क़ायम किया। इस प्रकार पहले के युग की तरह मध्य युग में भी भारत में कई विदेशियों का बसना जारी रहा। ये विदेशी शीघ्र ही भारतीय समाज और संस्कृति में समा गए पर साथ ही उन्होंने अपनी कुछ विशेषताएँ क़ायम रखीं। इसी से भारत में संस्कृतियों की अनेकता और विभिन्नता क़ायम हुई जो इस देश की प्रमुख विशेषता रही है। जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में अधिकतर सरदार ऐसे थे जिनका जन्म भारत में ही हुआ था। साथ ही साथ अभिजात वर्ग में अफ़ग़ानों, भारतीय मुसलमानों (हिंदुस्तानियों) तथा हिन्दुओं का अनुपात बढ़ता गया। हिंदुओं का एक नया वर्ग जो इस अवधि में अभिजात वर्ग में शामिल हुआ, वह मराठों का था। जहाँगीर पहला मुग़ल सम्राट था जिसने इस बात का अनुभव किया कि दक्कन के मामलों में मराठे बहुत महत्वपूर्ण थे और उसने उन्हें अपने पक्ष में जीतने की चेष्टा की। शाहजहाँ ने भी इस नीति को जारी रखा। शाहजहाँ के दरबार के मराठा सरदारों में शिवाजी का पिता शाहजी भी था यद्यपि उसने शीघ्र ही मुग़लों का साथ छोड़ दिया। औरंगज़ेब ने भी कई मराठों तथा दक्कन के मुसलमानों को दरबार में रखा। मुग़ल तथा मराठों के संबंधों की चर्चा हम बाद के अध्याय में करेंगे। लेकिन यह बात ध्यान देने के योग्य है कि शाहजहाँ के शासनकाल में हिंदू सरदारों का अनुपात लगभग चौबीस प्रतिशत था जबकि औरंगज़ेब के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में यह अनुपात बढ़कर तैंतीस प्रतिशत हो गया। साथ में हिंदू सरदारों की कुल संख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई। हिंदू सरदारों में आधी से अधिक संख्या मराठों की थी।

यद्यपि मुग़ल सरदारों को बहुत अधिक वेतन मिलता था, उनका ख़र्च भी काफ़ी अधिक था। हर सरदार बड़ी संख्या में नौकर-चाकर, घोड़े, हाथी तथा आवागमन के लिए हर प्रकार के साधन रखता था। इनमें से कइयों के पास बड़े-बड़े हरम थे। उस काल में यह किसी अमीर आदमी के लिए सामान्य बात समझी जाती थी। सरदार शान और शौकत में मुग़ल सम्राट् की नक़ल करने की चेष्टा करते थे। ये फलों के पेड़ों और फ़व्वारों से सजे बाग़ों से घिरे भव्य महलों में रहते थे। ये अच्छे से अच्छे कपड़े पहनते थे। खाने-पीने पर भी इनका ख़र्च बहुत अधिक था। एक वृत्तांत के अनुसार अकबर के हर भोजन के लिए चालीस प्रकार के व्यंजन तैयार किए जाते थे। फलों पर भी इनका काफ़ी ख़र्च होता था और कई फल तो समरक़ंद तथा बोखारा से मंगवाए जाते थे। बर्फ़ जो विलासिता का साधन मानी जाती थी, उसका इस्तेमाल उच्च वर्ग के लोग सारे साल करते थे। एक अन्य महँगा साधन मर्द और औरतों, दोनों के गहने थे। जहाँगीर ने एक प्रथा चलाई थी जिसके अनुसार पुरुषों का कान में छेद करवाकर मूल्यवान रत्न पहनना फ़ैशन समझा जाता था। कुछ हद तक गहनों को आपातकाल में सुरक्षा का साधन भी समझा जाता था। बड़े ख़र्चे का दूसरा साधन एक और प्रथा थी जिसके अनुसार वर्ष में दो बार अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार उच्च वर्ग के लोगों को सम्राट को नज़राना पेश करना पड़ता था। बदले में सम्राट भी अपने सरदारों को उपहार देता था।

कहा जाता है कि मुग़ल सरदारों को बचत में कोई दिलचस्पी इसलिए नहीं थी क्योंकि मृत्यु के बाद उनकी सारी सम्पत्ति वापस सम्राट के अधिकार में चली जाती थी क्योंकि सिद्धांतः सारा कुछ उसी की देन माना जाता था। लेकिन यह सच नहीं है। इतना अवश्य था कि किसी भी सरदार की मृत्यु के बाद उसकी सारी जायदाद का सावधानी से सही अनुमान लगाया जाता था पर ऐसा

इसलिए था क्योंकि आमतौर पर सरदारों के पास केंद्रीय कोष की काफ़ी रक़म बक़ाया रहती थी। मृत सरदार के उत्तराधिकारी के नाम जायदाद करने के पहले इस क़र्ज़ की अदायगी आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त सम्राट को यह अधिकार था कि वह अपनी इच्छानुसार मृत सरदार की सम्पत्ति का बंटवारा उसके बेटों के बीच कर सकता था। इस मामले में इस्लाम के क़ानून को नहीं माना जाता था। और बातों के अलावा इसका अर्थ यह भी था कि लड़कियों को अपने मृत पिता की जायदाद में कोई अधिकार नहीं था। इस सारी प्रक्रिया को पूरी करने में देर हो जाती थी और मृत सरदार के उत्तराधिकारियों को कई परेशानियों का सामना करना पड़ता था। औरंगज़ेब ने एक नियम बनाया जिसके अनुसार ऐसे किसी मृत सरदार की सम्पत्ति राज्य द्वारा नहीं ली जाती थी जिस पर राज्य का कोई क़र्ज़ नहीं था और हर हालत में सरदार के मरते ही उसकी सम्पत्ति का एक हिस्सा उसके उत्तराधिकारियों को तुरंत दे दिया जाता था।

इन सब बातों के बावजूद उस समय का शासक वर्ग बचाता कम और ख़र्च अधिक करता था। यद्यपि हमें कुछ ऐसे सरदारों की भी चर्चा मिलती है जो अपने मरने पर नक़द और गहनों के रूप में बड़ी सम्पत्ति छोड़ गए थे, तथापि अधिकतर सरदार अपने शान-ओ-शौकत के जीवन और भव्य रहन-सहन के कारण भारी क़र्ज़ से दबे रहते थे। इसका एक कारण तो यह था कि लाभकारी पूँजी निवेश के उपयुक्त माध्यम नहीं थे। अपनी एक उल्लेखनीय उक्ति में अबुलफ़ज़ल ने सरदारों को सट्टे में तथा लाभकारी उद्योगों में पूँजी लगाने की राय दी है। इसमें वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी शामिल है। अबुलफ़ज़ल ने सरदारों को ब्याज पर पैसे लगाने की भी सलाह दी। समसामयिक यूरोपीय यात्रियों के वृतांतों से ऐसा लगता है कि कई सरदार व्यापार तथा वाणिज्य में रुचि रखते थे। राजघराने के सदस्य जिनमें रानियाँ और राजकुमार भी थे, विदेश व्यापार में रुचि रखते थे। अकबर की विधवा तथा जहाँगीर की माता ऐसे जहाज़ों की मालकिन थी जो सूरत तथा लाल सागर के बंदरगाहों के बीच व्यापार करते थे। औरंगज़ेब के शासनकाल का एक प्रमुख सरदार, मीर जुमला कई जहाज़ों के बेड़े का मालिक था। ये जहाज़ अरब, फ़ारस तथा दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के साथ व्यापार के काम आते थे। यहाँ तक कि औरंगज़ेब का प्रमुख क़ाज़ी भी व्यापारिक प्रतिष्ठानों का मालिक था। यह बात उसने सम्राट से छिपाने की चेष्टा की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च वर्ग के कई सदस्य व्यापार तथा वाणिज्य में रुचि रखते थे और अपने ख़र्चों के लिए अधिक पैसा बनाने के लिए अपने पदों का दुरुपयोग भी करते थे। लेकिन इस बात का निश्चय करना कठिन होगा कि वाणिज्य के प्रसार और विकास में उच्चवर्ग की क्या भूमिका रही थी। आमतौर पर सरदार वाणिज्य की अपेक्षा ज़मीन से होने वाली आय में ही अधिक रुचि रखते थे। अत: व्यापारी वर्ग को सरदारों से सहयोग की अपेक्षा भय ही अधिक बना रहता था।

सरदारों के रहन-सहन और शान-ओ-शौकत की नक़ल, जहाँ तक संभव थी, समाज के अन्य वर्ग भी करते थे। इससे विलासिता की विभिन्न प्रकार की सामग्रियों की माँग बढ़ती गयी। यद्यपि सम्राट और सरदार विदेशों से आने वाली दुर्लभ वस्तुओं में, जिन्हें यूरोपीय व्यापारी 'खिलौना' कहते थे, रुचि रखते थे, उनके ज़रूरत की अधिकतर चीज़ें देश में ही बनती थीं। इसलिए, जैसा कि बाबर ने कहा है, भारत में हर प्रकार के कारीगर तथा दस्तकार बड़ी संख्या में थे।

कुछ सरदारों ने ज़मीन ख़रीदकर बाग़ लगवाए तथा बाज़ार बनवाए। भारत में नई क़िस्मों के फलों को शुरू करने तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने का बहुत अधिक श्रेय मुग़ल सम्राटों तथा उनके सरदारों को है। इन सरदारों ने विभिन्न कलाओं में दक्ष व्यक्तियों को प्रोत्साहन तथा संरक्षण भी प्रदान किया। इनमें से कइयों ने संगीतज्ञों को अपने घर पर रखा था। इन्होंने कवियों, चित्रकारों तथा विद्वानों को भी आश्रय दिया। इस प्रकार एक सांस्कृतिक वातावरण सा बन गया था। जो कलाकार श्रेष्ठ वस्तुओं का निर्माण कर सकते थे उन्हें विशेष प्रोत्साहन दिया जाता था।

सत्रहवीं शताब्दी के दौरान सरदारों की बढ़ती संख्या, समाज के विभिन्न वर्गों में तनाव तथा जागीरदारी व्यवस्था में गड़बड़ी से औरंगज़ेब तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल के दौरान सरदारों के अनुशासन तथा उनकी व्यवस्था पर गम्भीर प्रभाव पड़े। इनमें से कुछ बातों की हम अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा करेंगे।

ज़मींदार

अबुलफ़ज़ल तथा अन्य समसामयिक लेखकों की कृतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत की प्रथा बड़ी पुरानी थी। भूमि की मिल्कियत मुख्यतः उत्तराधिकार के नियमों पर निर्भर थी। लेकिन भूमि की मिल्कियत के नये नियम भी बन गए थे। परम्परा के अनुसार किसी भी ज़मीन का मालिक वह था जो पहली बार उस पर खेती करता था। मध्य युग में काफ़ी बड़ी मात्रा में बंजर भूमि उपलब्ध थी और उत्साही व्यक्तियों के लिए यह कठिन नहीं था कि वे एक नया गाँव बसा लें, आसपास की ज़मीन पर खेती आरम्भ करें और ज़मीन के मालिक बन जाएँ। स्वयं की खेती की मिल्कियत के अलावा कई ज़मींदारों को गाँवों से लगान प्राप्त करने का वंशगत अधिकार भी था। इसे उसका 'ताल्लुक़ा' या उसकी 'ज़मींदारी' कहा जाता था। लगान इकट्ठा करने के लिए ज़मींदारों को आमतौर पर कुललगान का 5 या 10 प्रतिशत हिस्सा मिलता था और कहीं-कहीं तो उनका हिस्सा लगान का 25 प्रतिशत तक था। पर ज़मींदार अपनी ज़मींदारी के अन्तर्गत आने वाली सारी ज़मीन का मालिक नहीं था। खेती करने वाले लोगों से ज़मीन उस समय तक वापस नहीं ली जा सकती थी जब तक वे उसका लगान देते रहें। इस प्रकार ज़मीन पर ज़मींदारों तथा किसानों का अपना-अपना वंशगत अधिकार हो जाता था।

ज़मींदारों के ऊपर राजा लोग थे जिन्हें कहीं छोटे और कहीं बड़े इलाक़ों पर आधिपत्य था और जिन्हें कुछ हद तक आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। फ़ारसी लेखकों ने इनके वर्ग को छोटा बताने के लिए इन्हें भी ज़मींदार पुकारा है। लेकिन इनकी स्थिति ज़मींदारों से ऊँची थी जिनका काम लगान उगाहना था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्य युगीन समाज, जिसमें ग्रामीण समाज भी शामिल था, ऊपर से नीचे तक विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था।

ज़मींदारों के पास अपनी सशस्त्र सेना होती थी और ये आमतौर पर क़िलों तथा गढ़ियों में रहते थे जो शरण स्थल के साथ-साथ इनकी हैसियत का भी प्रतीक होते थे। ज़मींदारों की सेना कुल मिलाकर काफ़ी बड़ी हो जाती थी। **आईने-अकबरी** के अनुसार अकबर के राज्य में इनके पास 384,558 सवार, 4,277,057 प्यादे, 1863 हाथी तथा 4260 तोपें थीं। लेकिन क्योंकि ज़मींदार एक जगह नहीं रहते थे, इसलिए सारी सेना को एक समय एक स्थान पर इकट्ठा करना असम्भव था। इस संख्या में निम्न स्तर के राजाओं की शक्ति भी सम्मिलित है।

आमतौर पर ज़मींदारों का उनकी ज़मींदारी में बसे किसानों के साथ जाति अथवा क़बीलाई सम्बन्ध होता था। उनको भूमि की उपजाऊ शक्ति के बारे में काफ़ी स्थानीय सूचना भी रहती थी। इस प्रकार ज़मींदार संख्या में तथा अन्य दृष्टि से एक शक्तिशाली वर्ग बन गया था जो विभिन्न नामों से, जैसे देशमुख, पाटिल, नायक आदि देश के हर हिस्से में पाए जाते थे। इसलिए किसी भी केन्द्रीय शासन के लिए उनकी उपेक्षा करना तथा उनकी दुश्मनी मोल लेना आसान नहीं था।

इन ज़मींदारों के जीवन स्तर के बारे में कुछ कहना कठिन है। सरदारों की तुलना में इनकी आय सीमित थी। इनमें से छोटे ज़मींदार कमोवेश किसानों की तरह ही रहते थे लेकिन बड़े ज़मींदारों का रहन-सहन छोटे राजाओं अथवा सरदारों की तरह होता होगा। अधिकतर ज़मींदार गाँवों में रहते थे और ये स्थानीय उच्च वर्ग के सदस्य माने जाते थे। ये गाँवों में रहते थे और इस प्रकार का स्थानीय अभिजात्य वर्ग थे।

ज़मींदारों के अलावा धार्मिक नेताओं और विद्वानों का भी एक बड़ा वर्ग था जिनको उनकी सेवाओं के बदले में अपने भरण-पोषण के लिए दान में ज़मीन मिलती थी। ऐसे अनुदानों को मुग़ल की भाषा में 'मिल्क' या 'मदद-ए-मआश' तथा राजस्थान में 'शासन' कहा जाता था। यद्यपि इन अनुदानों की सैद्धान्तिक रूप से हर शासक द्वारा पुनरावृत्ति होनी होती थी परन्तु व्यवहार में ये वंशगत ही हो जाते थे। ऐसे अनुदान प्राप्त कई लोग क़ाज़ी जैसे सरकारी पदों पर भी नियुक्त थे। इस प्रकार इनका ग्रामीण तथा शहरी दोनों प्रकार का आधार था। लेखक, इतिहासकार, हकीम वग़ैरा अधिकतर इसी वर्ग से आते थे। इस वर्ग के रहन-सहन के बारे में भी हमें बहुत कुछ पता नहीं है। कालान्तर में इनमें से कुछ की गिनती ग्रामीण उच्च वर्ग में होने लगी थी। सम्भव है कि धनी किसानों के साथ ये स्थानीय अभिजात्य व्यक्ति शहरों की वस्तुओं तथा कुशल ग्रामीण दस्तकारों की हस्तकलाओं के खरीदार थे।

वाणिज्य तथा व्यापार

मध्य वर्ग—जीवन स्तर : मध्ययुगीन भारत में मध्यम वर्ग विशेषकर व्यापारियों तथा वैद्य, हकीमों जैसे व्यावसायिक वर्गों तथा अधिकारियों का था। इनमें से कुछ व्यावसायिक वर्गों के रहन-सहन की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। मध्ययुगीन भारत में व्यावसायिक लोगों तथा अधिकारियों की संख्या काफ़ी बड़ी थी।

इस युग के भारतीय व्यापारी बहुत कुशल थे। इनमें से कुछ थोक तथा कुछ खुदरा व्यापार में विशेषता रखते थे। थोक व्यापारियों को सेठ अथवा 'बोहरा' तथा खुदरा व्यापारियों को 'व्यापारी' अथवा 'वणिक' पुकारा जाता था। दक्षिण भारत में व्यापारी वर्ग के अधिकांश लोग 'चेट्टी' थे। इनके अलावा बँजारों का एक वर्ग था जो वस्तुएँ लाया-ले जाया करता था। बँजारे एक जगह से दूसरी जगह फिरते रहते थे और कभी-कभी उनके साथ अनाज से लदे हज़ारों बैल चलते थे। सराफ़ पैसे जमा करते थे तथा उधार देते थे और हुंडी के माध्यम से धन एक जगह से दूसरी जगह ले जाया करते थे। हुंडियों का भुगतान कुछ शुल्क काटकर किया जाता था और कभी-कभी इसमें बीमा भी शामिल होता था जिससे कि आवागमन में खोई तथा नुक़सान हुई चीज़ों की भरपाई की जा सके। इन उपायों से भारतीय व्यापारी अपना माल जहाज़ों द्वारा पश्चिम एशिया के देशों तथा ऐसी जगहों पर जहाँ इस प्रकार के भारतीय बैंक थे, आसानी से भेज सकता था। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में आए अंग्रेज़ तथा डच व्यापारियों ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को अत्यन्त विकसित तथा भारतीय व्यापारियों को उत्साही तथा कुशल पाया। व्यापारी इस होड़ में लगे रहते थे कि विशेष सूचना उन्हें पहले प्राप्त हो ताकि देश के किसी भाग में यदि किसी वस्तु की कमी हो तो वे उस जगह अपना माल पहले भेज सकें। लेकिन यह उच्च क़िस्म की वस्तुओं तक ही सीमित था। अनाज तथा बड़ी वस्तुओं को सड़क मार्ग से ले जाना काफ़ी महँगा पड़ता था। नदी-परिवहन सड़क परिवहन की अपेक्षा सस्ता था, इसलिए अब की अपेक्षा मध्य युग में नदी मार्ग से कहीं अधिक व्यापार होता था। लेकिन कुल व्यापार सीमित था, क्योंकि गाँव हालाँकि पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं थे तब भी वे बाहर से नमक तथा लोहे जैसी बहुत कम आवश्यक चीज़ें ही ख़रीदते थे। विदेश व्यापार मुख्यत: शहरों में बसे धनी वर्गों के लाभ के लिए ही किया जाता था।

भारत में व्यापारी वर्ग काफ़ी बड़ा था और इनमें से कुछ की गिनती विश्व के धनी व्यापारियों में होती थी। इनमें से कुछ मुख्य व्यापारी थे—विरजी वोहरा जो कई दशकों तक सूरत व्यापार पर छाया हुआ था और जिसके पास कई बड़े-बड़े जहाज़ थे, कोरोमण्डल तट का मलय चेट्टि, तथा अब्दुल ग़फ़ूर बोहरा जो 1718 में अपनी मृत्यु के समय 85 लाख रु० की जायदाद छोड़ गया। आगरा, दिल्ली, बालासोर (उड़ीसा) तथा बंगाल में भी कई धनी व्यापारी थे। गुजरात के बन्दरगाहों में बसे धनी व्यापारी बड़ी शान-ओ-शौकत से रहते थे तथा अपने रहन-सहन में सरदारों की नक़ल करते थे। ये रंगीन पत्थरों वाले बड़े-बड़े महलों में रहते थे, क़ीमती वस्त्र पहनते थे तथा सजे-संवरे घोड़ों पर सवारी करते थे। जब ये बाज़ार में निकलते थे तो इनके आगे-पीछे इनके सेवक झंडे लेकर चलते थे। यूरोपीय यात्रियों ने आगरा तथा दिल्ली के भव्य और बड़े मकानों की चर्चा की है। लेकिन दूसरी ओर छोटे व्यापारी अपनी दुकानों के ऊपर बने घरों में रहते थे। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर के अनुसार व्यापारी चेष्टा करते थे कि वे ग़रीब दिखें, क्योंकि उन्हें डर था कि उनकी सम्पत्ति को छीन लिया जाएगा। यह बात इसलिए ग़लत लगती है कि शेरशाह के बाद से सम्राटों ने व्यापारियों की सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए कई क़ानून बनाए। शेरशाह के क़ानून काफ़ी प्रसिद्ध हैं। जहाँगीर के बनाये क़ानूनों में एक प्रावधान था कि यदि कोई भी, चाहे वह मुस्लिम हो या ग़ैर-मुस्लिम, मरता है तो उसकी सारी जायदाद उसके उत्तराधिकारी को जानी चाहिए और उसमें किसी का भी कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। अगर उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं हो तो सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए विशेष अधिकारी को नियुक्त किया जाना चाहिए, ताकि उस सम्पत्ति को जनहितकारी कार्यों, जैसे मस्जिदों और सरायों का निर्माण, टूटे हुए पुलों की मरम्मत तथा तालाब और कुँओं की खुदाई, में लगाया जा सके।

इस प्रकार अब व्यक्तिगत सम्पति की सुरक्षा जिसमें व्यापारियों की सम्पत्ति भी शामिल थी, की धारणा ठोस

हो गयी थी। इसके बावजूद शहरों की असुरक्षा और मानवीय प्रकृति के कारण चोरियाँ आम थीं और इससे डर कर काफ़ी व्यापारी साधारण आदमी की तरह या फिर दयनीय स्थिति में रहते थे।

वाणिज्य और व्यापार की व्यवस्था : यूरोपीय व्यापारी कम्पनियों की भूमिका

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में वाणिज्य और व्यापार के प्रसार के कई कारण थे। इनमें से शायद सबसे महत्वपूर्ण कारण मुग़ल शासन के अंतर्गत देश की राजनीतिक एकता तथा बड़े क्षेत्र में शांति और व्यवस्था की स्थापना थी। मुग़लों ने सड़क और सरायों के निर्माण की ओर भी ध्यान दिया जिससे यातायात में बहुत सुविधा हो गई। साम्राज्य में किसी भी वस्तु के आयात के लिए समान कर निर्धारित किए गए। सड़क टैक्स अथवा 'राहदारी' को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया गया यद्यपि कुछ स्थानीय राजा इसे वसूल करते रहे। मुग़लों ने शुद्ध चाँदी के रुपयों का प्रचलन आरंभ किया जिसकी सारे भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी मान्यता थी और इससे भारत के व्यापार को और भी बढ़ावा मिला।

मुग़लों की कुछ नीतियों से भी वाणिज्य पर आधारित अर्थव्यवस्था तथा मुद्रा के प्रसार को प्रोत्साहन मिला। स्थायी सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारियों (सरदारों को छोड़कर) को नक़द वेतन मिलने लगा। 'ज़ाब्ती' प्रथा के अंतर्गत लगान निर्धारित कर दिया गया और इसकी अदायगी नक़द होने लगी। ऐसे मामलों में भी जब किसानों को लगान चुकाने के अन्य तरीक़े, जैसे लगान को अनाज के रूप में चुकाना, को चुनने का अधिकार दिया जाता था, राज्य का हिस्सा अनाज व्यापारियों की मदद से गाँव में ही बेच दिया जाता था। अनुमान लगाया गया है कि गाँव की उपज का बीस प्रतिशत बिकने के लिए बाज़ार में आता था। यह मात्रा इस प्रकार काफ़ी बड़ी थी। अनाज मंडियों के प्रसार से छोटे-छोटे नगर या क़स्बे बसते गए। उच्च वर्ग के लोगों द्वारा विलासिता की वस्तुओं की माँग से हस्तकला को बढ़ावा मिला और इनसे नगरों का भी विकास हुआ। राल्फ़ फ़िच, जो अकबर के शासनकाल में भारत आया था, के अनुसार आगरा तथा फतेहपुर सीकरी दोनों ही लंदन से बड़े थे। मौनसरेट के अनुसार लाहौर, यूरोप तथा एशिया के किसी भी शहर से कम नहीं था। बर्नियर ने कहा है कि दिल्ली पेरिस से बहुत कम नहीं था और आगरा दिल्ली से बड़ा था। अहमदाबाद भी बड़ा शहर था तथा लंदन और उसके उपनगरों जितना बड़ा था। ढाका, राजमहल, मुल्तान, बुरहानपुर सभी बड़े शहर थे और बिहार में पटना की आबादी दो लाख की थी। भारत में नगरों तथा नागरिक जीवन का प्रसार सत्रहवीं शताब्दी की एक मुख्य विशेषता है। आगरा के एक अध्ययन से पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी में इसका क्षेत्रफल दुगुना हो गया था।

एक और कारण जिससे भारत का व्यापार बढ़ा, वह था सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में अंग्रेज़ तथा डच व्यापारियों का भारत आना। भारत के व्यापारियों ने इनका स्वागत किया क्योंकि इनसे समुद्र व्यापार पर पुर्तगालियों के एकाधिकार को समाप्त करने में सहायता मिली और भारत का यूरोपीय बाज़ारों के साथ सीधा संपर्क स्थापित हो गया। लेकिन पुर्तगालियों की तरह डच और अंग्रेज़ व्यापारी भी अपना-अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते थे और उन्होंने अपने-अपने क़िले बनवाए जिससे वे स्थानीय शासकों को चुनौती दे सकें। मुग़ल इन सारी गतिविधियों को ध्यान से देख रहे थे।

जैसा कि 1588 में इंग्लैंड द्वारा स्पेन की पराजय से स्पष्ट था, सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुर्तगाल कमज़ोर पड़ने लगा था। पुर्तगाल के स्पेन के साथ एकीकरण के कारण पुर्तगाल भी स्पेन के यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों के साथ उलझ गया और साथ ही पुर्तगाल की घटती हुई आबादी से उसका पतन और तेज़ी से होता गया। पुर्तगाल के कमज़ोर होने के अलावा डच और अंग्रेज़ व्यापारिक आधार पर संगठित थे और साथ ही इन व्यापारियों का इतना प्रभाव था कि वे आवश्यकता पड़ने पर अपनी-अपनी सरकारों से सैनिक सहायता प्राप्त कर सकते थे।

पुर्तगालियों के दृढ़ विरोध के बावजूद डच 1606 में गोलकुंडा के शासक से फ़रमान प्राप्त कर स्वयं को मछलीपट्टम में स्थापित करने में सफल हो गए। धीरे-धीरे उन्होंने जावा तथा सुमात्रा तक अपना प्रभाव बढ़ा लिया जिससे 1610 तक मसालों के व्यापार में वे सबसे आगे

बढ़ गए। डच व्यापारी यहाँ मुख्यत: मसालों के व्यापार के लिए आए थे पर उन्हें शीघ्र ही पता चला कि मसाले अधिकतर भारतीय वस्त्रों के बदले ही मिल सकते थे। कोरोमंडल तट पर तैयार कपड़ों की माँग सबसे अधिक थी और इसका परिवहन बड़ा सस्ता पड़ता था इसलिए उन्होंने मछलीपट्टम से दक्षिण की ओर कोरोमंडल तट पर अपनी गतिविधियाँ बढ़ा दीं और स्थानीय शासक की स्वीकृति लेकर यहाँ अपना मुख्यालय स्थापित किया।

डच व्यापारियों की तरह अंग्रेज़ भी इस तट पर मसालों के व्यापार के लिए आए थे लेकिन तब तक डच अधिक शक्तिशाली हो गए थे और जावा-सुमात्रा में पूरी तरह जम गए थे। उनके विरोध से बाध्य होकर अंग्रेज़ों को अपना ध्यान भारत में केंद्रित करना पड़ा। सूरत के पास एक पुर्तगाली बेड़े को पराजित कर वे आखिरकार 1612 में वहाँ एक फ़ैक्टरी स्थापित करने में सफल हो गए। इसकी पुष्टि 1618 में सर टामसरो की मदद से मिले जहाँगीर के एक फ़रमान से हो गई। शीघ्र ही डच व्यापारियों ने भी अंग्रेज़ों की देखादेखी सूरत में एक फ़ैक्टरी स्थापित कर ली।

अंग्रेज़ों ने शीघ्र ही भारत से कपड़े के निर्यात के केंद्र के रूप में गुजरात के महत्व को भाँप लिया था। वास्तव में भारत के विदेश व्यापार का आधार कपड़ा ही था। एक अंग्रेज़ लेखक के अनुसार "अदन से अचिन (मलाया) तक, सिर से पैर तक सभी लोग भारतीय कपड़े ही पहनते थे।" इस कथन में थोड़ी अतिशयोक्ति हो सकती है पर स्थिति वास्तव में यही थी। अंग्रेज़ों ने लाल सागर तथा फ़ारस की खाड़ी के बंदरगाहों के साथ होने वाले भारत के व्यापार को भंग करने की चेष्टा की। 1622 में ईरानी सैनिकों की मदद से उन्होंने फ़ारस की खाड़ी में पुर्तगाली अड्डे ओरमुज पर क़ब्ज़ा कर लिया।

इस प्रकार सतहवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश तक भारतीय व्यापार पर पुर्तगालियों का एकाधिकार हमेशा के लिए समाप्त हो गया था और उसका स्थान डच और अंग्रेज़ों ने ले लिया था। पुर्तगाली अब गोआ तथा दमन और दीव तक ही सीमित रह गए थे और भारतीय व्यापार में उनका हिस्सा बराबर घटता गया और उस शताब्दी के अंत तक बिल्कुल महत्वहीन हो गया।

एशियाई व्यापार में हिस्सेदार होने के अलावा अंग्रेज़ बराबर ऐसी चीज़ों की खोज में रहते थे जो भारत से यूरोप निर्यात की जा सकें। सबसे पहले तो निर्यात की मुख्य वस्तु नील थी जो ऊनी कपड़ों को रंगने के काम आती थी। सबसे अच्छा नील उस समय गुजरात में सारखेज तथा आगरा के निकट बयाना में पैदा होता था। शीघ्र ही अंग्रेज़ों ने भारत से कपड़े का निर्यात आरंभ कर दिया। पहले पहल तो गुजरात में तैयार कपड़ा ही निर्यात के लिए काफ़ी था पर जैसे-जैसे माँग बढ़ती गई, अंग्रेज़ों ने आगरा तथा उसके आस पास के क्षेत्रों में बने कपड़े की ओर भी ध्यान दिया। लेकिन अब यह भी काफ़ी नहीं था इसलिए अब कोरोमंडल में तैयार कपड़े का निर्यात किया जाने लगा। 1640 तक कोरोमंडल से गुजरात जितना ही कपड़ा निर्यात होने लगा और 1660 तक गुजरात से तिगुना। मछलीपट्टम तथा फ़ोर्ट सेंट डेविड, जो बाद में मद्रास बना, इस व्यापार के मुख्य केंद्र थे।

इस नए निर्यात में अंग्रेज़ों के अलावा अब डच भी हिस्सा लेने लगे और कोरोमंडल से कपड़ा और नील निर्यात करने लगे।

अंग्रेज़ों ने सिंधु नदी के मुहाने पर बसे लेहरी बंदर का भी व्यापार के लिए विकास किया क्योंकि यहाँ नदी-मार्ग से लाहौर और मुल्तान की चीज़ें लाई जा सकती थीं—पर यहाँ का व्यापार गुजरात के व्यापार जितना महत्वपूर्ण नहीं था। इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रयास बंगाल तथा उड़ीसा के व्यापार को बढ़ाने के उनके प्रयास थे। लेकिन पुर्तगालियों और माघ समुद्री डाकुओं के कारण यहाँ का विकास धीमा ही रहा। लेकिन 1650 तक अंग्रेज़ स्वयं को हुगली और उड़ीसा में बालासोर में स्थापित करने में सफल हो गए और वहाँ से कपड़े के अलावा रेशम तथा चीनी का निर्यात करने लगे। एक अन्य वस्तु जिसका निर्यात बढ़ता गया वह शोरा था जो यूरोप में बारूद बनाने वाले माल की कमी को पूरा करने के अलावा यूरोप जाने वाले जहाज़ों को सीधा और संतुलित रखने के लिए उनकी पेंदी को भारी करने के काम में आता था। सबसे अच्छी क़िस्म का शोरा बिहार में मिलता था। पूर्वी क्षेत्रों से निर्यात बढ़ता गया और शताब्दी के अंत तक यहाँ से होने वाले निर्यात का मूल्य कोरोमंडल के बराबर का हो गया।

इस प्रकार अंग्रेज़ और डच कंपनियों ने भारत की वस्तुओं के लिए नए बाज़ारों की खोज की। सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश तक इंग्लैंड में भारतीय कपड़े की माँग इतनी बढ़ गई कि एक अंग्रेज़ ने लिखा कि हमारी महिलाओं के लिए कपड़ों तथा घर के माल-असबाब के लिए जो भी ऊन या रेशम इस्तेमाल होता था, वह क़रीब-क़रीब सब भारतीय व्यापार से उपलब्ध होता था। 1701 में विरोध के परिणामस्वरूप ईरान, चीन और भारत से आने वाले सभी रंगीन अथवा छपे कपड़े पर प्रतिबंध लगा दिया गया लेकिन ऐसे क़ानूनों का भी जिसमें कड़े दंड की व्यवस्था थी, कोई विशेष असर नहीं पड़ा। 1701 में छपे कपड़े के स्थान पर भारत से सादे कपड़े के थानों की संख्या ढाई लाख से बढ़कर साढ़े नौ लाख और 1719 में बीस लाख तक पहुँच गई।

यूरोपीय कंपनियों द्वारा जो कुल व्यापार बढ़ाया गया उसका सही अनुमान लगाना कठिन है। मोरलैंड ने इसका गहन अध्ययन किया था और उसके अनुसार नए निर्यात से भारत को होने वाला लाभ कम क्षेत्रों तक ही सीमित था पर इन क्षेत्रों में लाभ बहुत था।

नक़दी फ़सल के उत्पादन और कपड़े तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन से इस काल में मुद्रा का बहुत प्रसार हुआ और मुद्रा पर आधारित अर्थ व्यवस्था अधिक प्रचलित हुई। भारत का विश्व बाज़ारों, विशेषतः यूरोप के बाज़ारों के साथ—जहाँ एक व्यापारिक क्रांति हो रही थी—निकट का संपर्क हुआ। लेकिन इसके कुप्रभाव भी थे। यूरोप भारत से आने वाली वस्तुओं के बदले कोई विशेष सामग्री नहीं भेज सकता था इसलिए उसे मजबूर हो कर भारत से निर्यात की हुई वस्तुओं का मूल्य सोने-चाँदी में चुकाना पड़ता था। यद्यपि सोने-चाँदी की बढ़ती मात्रा से व्यापार का प्रसार हुआ पर दूसरी ओर इसके कारण क़ीमतें शीघ्रता से बढ़ती गईं और सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक क़रीब दुगुनी हो गईं। जैसा कि हमेशा होता है, मुद्रा स्फीति का सबसे बुरा प्रभाव ग़रीबों पर ही पड़ा। इसके अलावा यूरोपीय लोगों ने भारत को निर्यात करने के लिए सोने-चाँदी के अलावा अन्य चीज़ों की खोज आरंभ की। उन्होंने कई उपायों को सोचा लेकिन उन्हें सबसे अच्छा उपाय लगा भारत में ही कुछ क्षेत्रों को अपने अधिकार में करना और यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करना जिससे यहीं पर उगाहे गए कर से वे अपने आयात की क़ीमत चुका सकें। पर वे भारत में उस समय तक सफल नहीं हो सकते थे जब तक यहाँ मुग़ल साम्राज्य शक्तिशाली था। लेकिन मुग़ल साम्राज्य की कमज़ोरी शीघ्र ही उभर कर सामने आने लगी।

सांस्कृतिक विकास

मुग़ल काल में भारत में बहुमुखी सांस्कृतिक विकास हुआ। वास्तुकला, चित्रकला, साहित्य तथा संगीत में ऐसे मानदंड स्थापित किए गए जिनसे बाद की पीढ़ियाँ अत्यन्त प्रभावित हुईं। इस दृष्टि से उत्तर भारत में गुप्तकाल के बाद मुग़ल काल को द्वितीय क्लासिकी युग माना जा सकता है। इस काल में भारतीय तथा मुग़लों द्वारा लाई गई तुर्की और ईरानी संस्कृतियों का समन्वय हुआ। समरक़ंद में तुर्की राजदरबार का पश्चिम तथा मध्य एशिया के सांस्कृतिक केंद्र के रूप में विकास हुआ था। बाबर इस सांस्कृतिक विरासत के प्रति जागरूक था। वह भारत की संस्कृति के कई पहलुओं का आलोचक था और इनके लिए उचित मानदंड स्थापित करने के लिए दृढ़ था। चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दी में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कला और संस्कृति का जो बहुमुखी विकास हुआ था उसके बिना मुग़ल काल की सांस्कृति उपलब्धियाँ असंभव सी होतीं। मुग़ल काल के सांस्कृतिक विकास में भारत के विभिन्न हिस्सों, मतों तथा जातियों ने विभिन्न प्रकार से योगदान दिया था। इस अर्थ में इस काल का सांस्कृतिक विकास सही अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के रूप में था।

वास्तुकला

मुग़लों ने भव्य महलों, क़िलों, द्वारों, मस्जिदों, बावलियों आदि का निर्माण किया। उन्होंने बहते पानी तथा फ़व्वारों से सुसज्जित कई बाग़ लगवाए। वास्तव में महलों तथा अन्य विलास-भवनों में बहते पानी का उपयोग मुग़ल काल की विशेषता थी। बाबर स्वयं बाग़ों का बहुत शौकीन था और उसने आगरा तथा लाहौर के नज़दीक कई बाग़ भी लगवाए। मुग़लों के लगवाए कई बाग़, जैसे कश्मीर का निशात बाग़, लाहौर का शालीमार बाग़ तथा पंजाब तराई में पिंजोर बाग़, आज भी देखे जा सकते हैं।

शेरशाह ने वास्तुकला को नयी दिशा दी। सासराम (बिहार) में उसका प्रसिद्ध मक़बरा तथा दिल्ली के पुराने क़िले में उसकी मस्जिद वास्तुकला के आश्चर्यजनक नमूने हैं। ये मुग़ल-पूर्वकाल के वास्तुकला के चर्मोत्कर्ष तथा नई शैली के प्रारंभिक नमूने हैं।

अकबर पहला मुग़ल सम्राट् था जिसके पास बड़े पमाने पर निर्माण करवाने के लिए समय और साधन थे। उसने कई क़िलों का निर्माण किया जिनमें सबसे प्रसिद्ध आगरे का क़िला है। लाल पत्थर से बन इस विशाल क़िले में कई भव्य द्वार हैं। क़िला निर्माण का चर्मोत्कर्ष शाहजहाँ द्वारा निर्मित दिल्ली का लाल क़िला है।
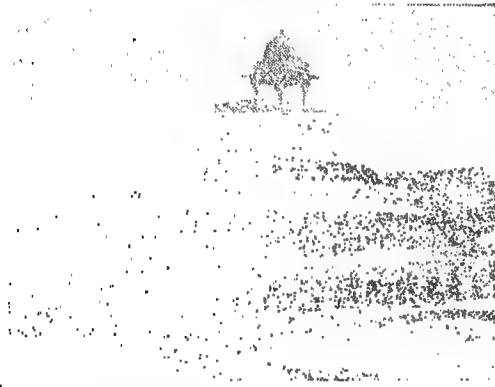
फ़तेहपुर सीकरी का पंच महल

1572 में अकबर ने आगरा से 36 किलोमीटर दूर फ़तेहपुर सीकरी में क़िलेनुमा महल का निर्माण आरंभ किया। यह आठ वर्षों में पूरा हुआ। पहाड़ी पर बसे इस महल में एक बड़ी कृत्रिम झील भी थी। इसके अलावा इसमें गुजरात तथा बंगाल शैली में बने कई भवन थे। इनमें गहरी गुफाएँ, झरोखे तथा छतरियाँ थीं। हवाखोरी के लिए बनाए गए पंचमहल की सपाट छत को सहारा देने के लिए विभिन्न स्तम्भों, जो विभिन्न प्रकार के मन्दिरों के निर्माण में प्रयोग किए जाते थे, का इस्तेमाल किया गया था। राजपूती पत्नी या पत्नियों के लिए बने महल सबसे अधिक गुजरात शैली में हैं। इस तरह के भवनों का निर्माण आगरा के क़िले में भी हुआ था यद्यपि इनमें से कुछ ही बचे हैं। अकबर आगरा और फ़तेहपुर सीकरी दोनों जगहों के काम में व्यक्तिगत रुचि लेता था। दीवारों तथा छतों की शोभा बढ़ाने के लिए इस्तेमाल
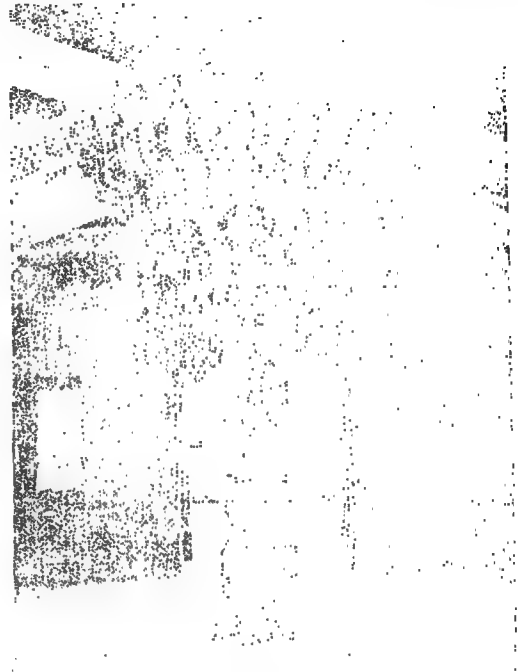
फ़तेहपुर सीकरी के दीवान-ए-ख़ास का स्तम्भ

किए गए चमकीले नीले पत्थरों में ईरानी या मध्य एशिया का प्रभाव देखा जा सकता है। फ़तेहपुर सीकरी का सबसे
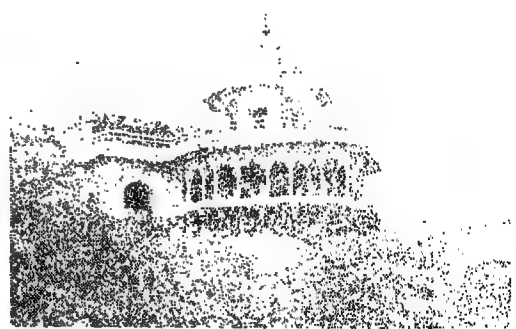
आगरे के क़िले में मुसम्मन बुर्ज

प्रभावशाली वहाँ की मस्जिद तथा बुलंद दरवाज़ा है जो अकबर ने अपनी गुजरात विजय के स्मारक के रूप में बनवाया था। दरवाज़ा आधे-गुम्बद की शैली में बना हुआ

आगरे के क़िले में बना जहाँगीरी महल

है। गुंबद का आधा हिस्सा दरवाज़े के बाहर वाले हिस्से के ऊपर है तथा उसके पीछे छोटे-छोटे दरवाज़े हैं। यह शैली ईरान से ली गई थी और बाद के मुग़ल भवनों में आम रूप से प्रयोग की जाने लगी।

दिल्ली के लाल क़िले का दीवान-ए-ख़ास

मुग़ल साम्राज्य के विस्तार के साथ मुग़ल वास्तुकला भी अपने शिखर पर पहुंच गई। जहाँगीर के शासनकाल के अंत तक ऐसे भवनों का निर्माण आरंभ हो गया था जो पूरी तरह संगमर्मर के बने थे और जिनकी दीवारों पर क़ीमती पत्थरों की नक़्क़ाशी की गई थी। यह शैली शाहजहाँ के समय और भी लोकप्रिय हो गयी। शाहजहाँ ने इसे ताजमहल, जो निर्माण कला का रत्न माना जाता है, में बड़े पैमाने पर प्रयोग किया। ताजमहल में मुग़लों द्वारा विकसित वास्तुकला की सभी शैलियों का सुन्दर समन्वय है। अकबर के शासनकाल के प्रारंभ में दिल्ली में निर्मित हुमायूँ का मक़बरा, जिसमें संगमर्मर का विशाल गुम्बद है, ताज का पूर्वगामी माना जा सकता है। इस भवन की एक दूसरी विशेषता दो गुम्बदों का प्रयोग है। इसमें एक बड़े गुम्बद के अंदर एक छोटा गुम्बद भी बना हुआ है। ताज की प्रमुख विशेषता उसका विशाल गुम्बद तथा मुख्य भवन के चबूतरे के किनारों पर खड़ी चार मीनारे हैं। इसमें सजावट का काम बहुत कम है लेकिन संगमर्मर के सुन्दर झरोखों, जड़े हुए क़ीमती पत्थरों तथा

आगरे में एतमादउद्दौला का मक़बरा

छतरियों से इसकी सुन्दरता बहुत बढ़ गयी है। इसके अलावा इसके चारों तरफ़ लगाए गए सुसज्जित बाग़ से यह और प्रभावशाली दिखता है।

शाहजहाँ के शासनकाल में मस्जिद निर्माण कला भी अपने शिखर पर थी। दो सबसे सुन्दर मस्जिदें हैं आगरा के क़िले की मोती मस्जिद जो ताज की तरह पूरी संगमर्मर की बनी है तथा दिल्ली की जामा मस्जिद जो लाल पत्थर की है। जामा मस्जिद की विशेषताएँ उसका विशाल द्वार, ऊँची मीनारें तथा गुम्बदें हैं।

यद्यपि मितव्ययी औरंगज़ेब ने बहुत भवनों का निर्माण नहीं किया तथापि हिन्दू, तुर्क तथा ईरानी शैलियों के

फ़तेहपुर सीकरी में तुर्की सुलतान का महल

समन्वय पर आधारित मुग़ल वास्तुकला की परम्परा अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक बिना रोक
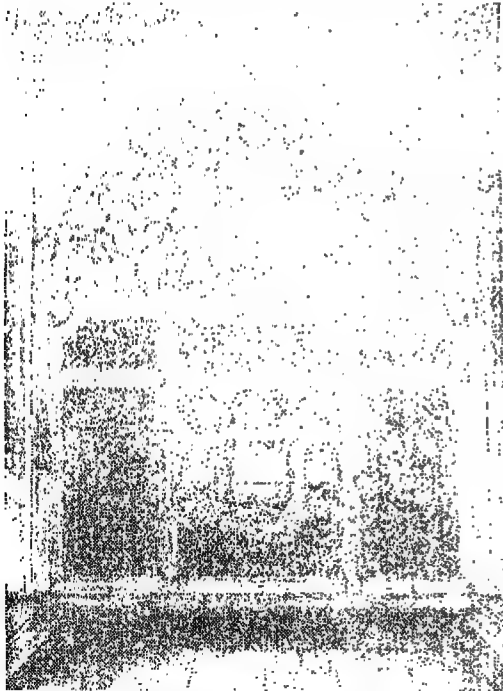
लाल क़िले में न्याय की तुला

जारी रही। मुग़ल परम्परा ने कई प्रांतीय तथा स्थानीय राजाओं के क़िलों तथा महलों की वास्तुकला को प्रभावित किया। अमृतसर में सिखों का स्वर्णमंदिर जो इस काल में कई बार बना वह भी गुम्बद तथा मेहराब के सिद्धांत पर निर्मित हुआ था और इसमें मुग़ल वास्तुकला की परम्परा की कई विशेषताएँ प्रयोग में लाई गईं।

चित्रकला

चित्रकला के क्षेत्र में मुग़लों का विशिष्ट योगदान था। उन्होंने राजदरबार, शिकार तथा युद्ध के दृश्यों से संबंधित नए विषयों को आरंभ किया तथा नए रंगों और आकारों की शुरूआत की। उन्होंने चित्रकला की ऐसी जीवंत परंपरा की नींव डाली जो मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद भी देश के विभिन्न भागों में जीवित रही। इस शैली की समृद्धि का एक मुख्य कारण यह भी था कि भारत में चित्रकला की बहुत पुरानी परंपरा थी। यद्यपि बारहवीं शताब्दी के पहले के ताड़पत्र उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे चित्रकला की शैली का पता चल सके, अजंता के चित्र इस समृद्ध परंपरा के सार्थक प्रमाण हैं। लगता है कि आठवीं शताब्दी के बाद चित्रकला की परंपरा का ह्रास हुआ, पर तेरहवीं शताब्दी के बाद की ताड़पत्र की पांडुलिपियों तथा चित्रित जैन पांडुलिपियों से सिद्ध हो जाता है कि यह परंपरा मरी नहीं थी।

पन्द्रहवीं शताब्दी में जैनियों के अलावा मालवा तथा गुजरात जैसे क्षेत्रीय राज्यों में भी चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया जाता था। लेकिन सही अर्थों में इस परंपरा का पुनरुत्थान अकबर के काल में ही हुआ। जब हुमायूँ ईरान के शाह के दरबार में था, उसने दो कुशल चित्रकारों को संरक्षण दिया और बाद में ये दोनों उसके साथ भारत आए। इन्हीं के नेतृत्व में अकबर के काल में चित्रकला को एक राजसी 'कारखाने' के रूप में संगठित किया गया। देश के विभिन्न क्षेत्रों से बड़ी संख्या में चित्रकारों को आमंत्रित किया गया। इनमें से कई निम्न जातियों के थे। आरम्भ से ही हिंदू तथा मुसलमान साथ-साथ कार्य करते थे। इसी प्रकार अकबर के राजदरबार के दो प्रसिद्ध चित्रकार जसवंत तथा दसावन थे। चित्रकला के इस केंद्र का विकास बड़ी शीघ्रता से हुआ और इसने बड़ी प्रसिद्धि हासिल कर ली। फ़ारसी कहानियों को चित्रित करने के बाद इन्हें **महाभारत**, **अकबर नामा** तथा अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथों की चित्रकारी का काम सौंपा गया। इस प्रकार

भारतीय विषयों तथा भारतीय दृश्यों पर चित्रकारी करने का रिवाज लोकप्रिय होने लगा और इससे चित्रकला पर ईरानी प्रभाव को कम करने में सहायता मिली। भारत के रंगों जैसे फ़ीरोज़ी रंग तथा भारतीय लाल रंग का इस्तेमाल होने लगा। सबसे मुख्य बात यह हुई कि ईरानी शैली के सपाट प्रभाव का स्थान भारतीय शैली के वृत्ताकार प्रभाव ने लिया और इससे चित्रों में त्रिविनितीय प्रभाव आ गया।

मुग़ल चित्रकला जहाँगीर के काल में अपने शिखर पर पहुँच गई। जहाँगीर इस कला का बड़ा कुशल पारखी था। मुग़ल शैली में मनुष्यों का चित्र बनाते समय एक ही चित्र में विभिन्न चित्रकारों द्वारा मुख, शरीर तथा पैरों को चित्रित करने का रिवाज था। जहाँगीर का दावा था कि वह किसी चित्र में विभिन्न चित्रकारों के अलग-अलग योगदान को पहचान सकता था।

शाहजहाँ का दरबार

शिकार, युद्ध और राजदरबार के दृश्यों को चित्रित करने के अलावा जहाँगीर के काल में मनुष्यों तथा जानवरों के चित्र बनाने की कला में विशेष प्रगति हुई। इस क्षेत्र में मंसूर का बहुत नाम था। मनुष्यों के चित्र बनाने का भी काफ़ी प्रचलन था।
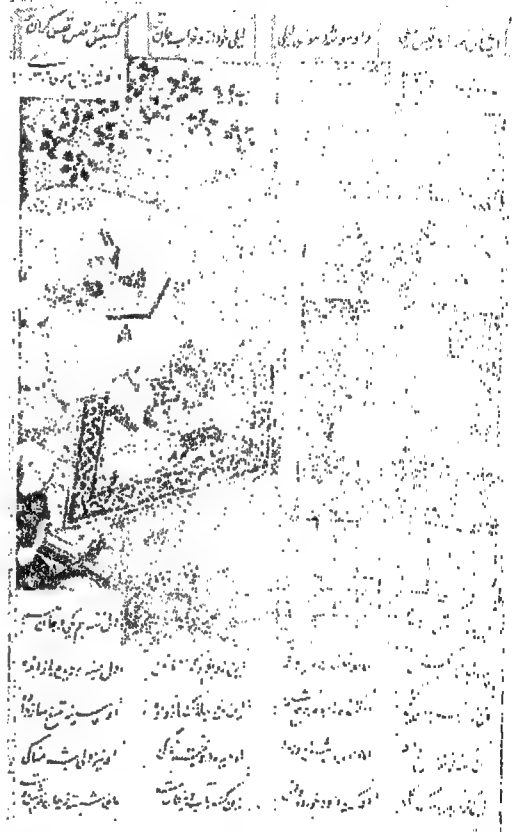
मुग़लकालीन चित्र : अध्ययन करते हुए छात्र

अकबर के काल में पुर्तगाली पादरियों द्वारा राजदरबार में यूरोपीय चित्रकला भी आरम्भ हुई। उससे प्रभावित होकर वह विशेष शैली अपनाई गई जिससे चित्रों में क़रीब तथा दूरी का स्पष्ट बोध होता था।

यह परंपरा शाहजहाँ के काल में तो जारी रही पर औरंगज़ेब की इस कला में दिलचस्पी न होने के कारण कलाकार देश में दूर-दूर तक बिखर गए। इस प्रक्रिया से

राजस्थान तथा पंजाब की पहाड़ियों में इस कला के विकास में सहायता मिली।

राजस्थान शैली में जैन अथवा पश्चिम भारत की शैली के प्रमुख विषयों, और मुग़ल शैली के आकार का समन्वय था। इस प्रकार इस शैली में शिकार तथा राजदरबार के दृश्यों के अलावा राधा और कृष्ण की लीला जैसे धार्मिक विषयों को भी लेकर चित्र बनाए गए। इनके अलावा **बारहमासा** अर्थात् वर्ष के विभिन्न मौसम तथा विभिन्न रागों पर आधारित चित्र भी बनाए गए। पहाड़ी शैली ने इस परम्परा को जारी रखा।

भाषा, साहित्य और संगीत

अखिल भारतीय स्तर पर सरकारी काम-काज तथा अन्य बातों के लिए फ़ारसी तथा संस्कृत भाषाओं की महत्वपूर्ण भूमिका, तथा भक्ति आंदोलन के प्रभाव से प्रान्तीय भाषाओं के विकास की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। प्रान्तीय भाषाओं के विकास का एक और कारण स्थानीय तथा प्रान्तीय राजाओं द्वारा दिया गया संरक्षण तथा प्रोत्साहन था।

सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में ये धाराएँ जारी रहीं। अकबर के काल तक उत्तरी भारत में फ़ारसी भाषा का इतना प्रचलन हो गया था कि फ़ारसी के अलावा स्थानीय भाषा (हिंदवी) में कागज़ात को रखना बंद ही कर दिया गया। इसके बावजूद सत्रहवीं शताब्दी में दक्कन के राज्यों के पतन तक उनमें स्थानीय भाषाओं में दस्तावेज़ों को रखने की परम्परा जारी रही।

फ़ारसी गद्य तथा पद्य अक़बर के शासनकाल में अपने शिखर पर थे। उस काल के महान् लेखक और विद्वान तथा प्रमुख इतिहासकार अबुलफ़ज़ल ने गद्य की ऐसी शैली प्रचलित की जिसका कई पीढ़ियों ने अनुसरण किया। उस काल का प्रमुख कवि फ़ैज़ी, अबुलफ़ज़ल का भाई था और उसने अकबर के अनुवाद विभाग में बड़ी सहायता की। उसके निरीक्षण में **महाभारत** का अनुवाद भी किया गया। उस काल के फ़ारसी के दो अन्य प्रमुख कवि उरबी तथा नज़ीरी थे। इनका जन्म ईरान में हुआ था पर ये उन विद्वानों और कवियों में थे जो बड़ी संख्या में उस काल में ईरान से भारत आए थे और जिन्होंने मुग़ल दरबार को इस्लामी जगत का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र बना दिया था। फ़ारसी साहित्य के विकास में हिंदुओं ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस काल में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक कृतियों के अलावा फ़ारसी भाषा के कई प्रसिद्ध विश्वकोष भी तैयार किए गए।

इस काल में यद्यपि संस्कृत की कोई मूल अथवा महत्वपूर्ण कृति की रचना नहीं की गई, इस भाषा में रचित कृतियों की संख्या काफ़ी बड़ी थी। पहले की तरह, दक्षिण तथा पूर्वी भारत में अधिकतर कृतियाँ स्थानीय राजाओं के संरक्षण में रची गईं पर कुछ कृतियाँ उन ब्राह्मणों की थीं जो सम्राटों के अनुवाद विभाग में नियुक्त थे।

इस काल में क्षेत्रीय भाषाओं में परिपक्वता आई तथा उत्कृष्ट संगीतमय काव्य की रचना हुई। बंगाली, उड़िया, हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती भाषाओं के काव्य में इस काल में राधा-कृष्ण तथा कृष्ण और गोपियों की लीला तथा भागवत् की कहानियों का काफ़ी प्रयोग किया गया। राम पर आधारित कई भक्ति गीतों की रचना की गई तथा **रामायण** और **महाभारत** का क्षेत्रीय भाषाओं, विशेषकर उनमें जिनमें इनका अनुवाद पहले नहीं हुआ था, में अनुवाद किया गया। कुछ फ़ारसी कृतियों का भी अनुवाद किया गया। इस कार्य में हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों ने योगदान दिया। अलाओल ने बंगला में अपनी रचनाएँ भी कीं और साथ में मुसलमान सूफ़ी संत द्वारा रचित हिंदी काव्य '**पद्मावत**' का अनुवाद भी किया। इस काव्य में मलिक मुहम्मद जायसी ने अलाउद्दीन ख़लजी के चित्तौड़ अभियान को आधार बना कर आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में सूफ़ी विचारों, और माया के बारे में हिन्दू शास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

मध्य युग में मुग़ल सम्राटों तथा हिन्दू राजाओं ने आगरा तथा उसके आस पास के क्षेत्रों में बोले जाने वाली भाषा ब्रज को भी प्रोत्साहन प्रदान किया। अकबर के काल से मुग़ल राजदरबार में हिन्दू कवि भी रहने लगे। एक प्रमुख मुग़ल सरदार अब्दुल रहीम ख़ान-ए-ख़ानां ने अपने भक्तिकाव्य में मानवीय सम्बन्धों के बारे में फ़ारसी विचारों का भी समन्वय किया। इस प्रकार फ़ारसी तथा हिन्दी की साहित्यिक परंपराएँ एक दूसरे से प्रभावित

हुई। इस काल के सबसे प्रमुख हिन्दी कवि तुलसीदास थे जिन्होंने उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों में बोले जाने वाली अवधी भाषा में एक महाकाव्य की रचना की जिसके नायक राम थे। उन्होंने एक ऐसी जाति व्यवस्था का अनुमोदन किया जिसमें जाति, जन्म के आधार पर नहीं, वरन् मानव के व्यक्तिगत गुणों पर आधारित थी। तुलसीदास वास्तव में मानवतावादी कवि थे जिन्होंने पारिवारिक मूल्यों को महत्व दिया और यह बताया कि मुक्ति का मार्ग हर व्यक्ति के लिए संभव है और यह मार्ग राम के प्रति पूर्ण भक्ति है।

दक्षिण भारत में मलयालम में भी साहित्यिक परंपरा आरम्भ हुई। एकनाथ और तुकाराम ने मराठी भाषा को शिखर पर पहुँचा दिया। मराठी भाषा की महत्ता बताते हुए एकनाथ कहते हैं :

"यदि संस्कृत ईश्वर की देन है तो क्या प्राकृत चोर तथा उच्चकों ने दी है ? यह बातें मात्र घमंड और भ्रम पर आधारित हैं। ईश्वर किसी भी भाषा का पक्षपाती नहीं। इसके लिए संस्कृत तथा प्राकृत एक समान हैं। मेरी भाषा मराठी के माध्यम से उच्च से उच्च विचार व्यक्त किए जा सकते हैं और यह आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है।"

इस उक्ति में क्षेत्रीय भाषाओं के रचनाकारों का गर्व स्पष्ट है तथा इसमें इन भाषाओं में लिखने वालों का आत्मविश्वास तथा उनका गर्व भी परिलक्षित होता है। सिक्ख गुरुओं की रचनाओं ने पंजाबी भाषा में नये प्राण फूँक दिए।

संगीत

एक अन्य सांस्कृतिक क्षेत्र जिसमें हिन्दू तथा मुसलमानों ने मिलकर काम किया वह संगीत का था। अकबर ने ग्वालियर के तानसेन को संरक्षण दिया जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने कई रागों की रचना की। जहाँगीर तथा शाहजहाँ और उनके कई मुग़ल सरदारों ने इस परम्परा को जारी रखा। कट्टर औरंगज़ेब ने संगीत को गाड़ने के लिए जो कुछ कहा था उसके बारे में कई कहानियाँ हैं। आधुनिक अनुसंधान से पता चलता है कि औरंगज़ेब ने गायकों को अपने राजदरबार से बहिष्कृत कर दिया था लेकिन वाद्य संगीत पर कोई रोक नहीं लगाई थी। यहाँ तक कि औरंगज़ेब स्वयं एक कुशल वीणावादक था। औरंगज़ेब के हरम की रानियों तथा उसके कई सरदारों ने भी सभी प्रकार के संगीत को बढ़ावा दिया। इसीलिए औरंगज़ेब के शासनकाल में भारतीय शास्त्रीय संगीत पर बड़ी संख्या में पुस्तकों की रचना हुई। संगीत के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण विकास अठारहवीं शताब्दी में मोहम्मद शाह (1720-48) के शासनकाल में हुआ।

धार्मिक विचार तथा विश्वास और एकता की समस्याएँ

सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में भक्ति आंदोलन का ज़ोर रहा। इसके अलावा पंजाब में सिक्ख तथा महाराष्ट्र में महाराष्ट्र धर्म आंदोलन भी आरंभ हुए। सिक्ख धर्म की नींव नानक की वाणी से पड़ी। लेकिन इसके विकास में गुरुओं का बहुत महत्व रहा। प्रथम चार गुरुओं ने ध्यान तथा विद्वत्ता की परम्परा जारी रखी। पाँचवें गुरु, गुरु अर्जुनदेव ने गुरुओं के धर्मग्रन्थ **आदि ग्रंथ** अथवा **ग्रन्थ साहिब** का संकलन किया। इस बात पर जोर देने के लिए कि गुरु आध्यात्मिक तथा सांसारिक दोनों क्षेत्रों में प्रमुख है, उन्होंने शान-ओ-शौकत से रहना शुरू किया। उन्होंने अमृतसर में बड़े-बड़े भवनों का निर्माण किया, क़ीमती वस्त्र पहनने शुरू किए तथा मध्य एशिया से अपने लिए घोड़े मंगवाए। उनके साथ-साथ घुड़सवार चलते थे। उन्होंने सिक्खों से उनकी आय का दस प्रतिशत भी दान के रूप में लेने की प्रथा आरंभ की।

अकबर सिक्ख गुरुओं से बहुत प्रभावित था और कहा जाता है कि वह अमृतसर भी गया था। लेकिन जहाँगीर द्वारा गुरु अर्जुन को बंदी बनाये जाने और उनकी मृत्यु के बाद सिक्ख और मुग़लों में संघर्ष आरम्भ हो गया। जहाँगीर ने गुरु अर्जुन पर विद्रोही राजकुमार खुसरो को पैसों तथा प्रार्थनाओं से सहायता करने का आरोप लगाया। उसने गुरु अर्जुन के उत्तराधिकारी गुरु हरगोविंद को भी थोड़े समय तक बंदी बनाकर रखा लेकिन उन्हें जल्दी ही मुक्त कर दिए और बाद में जहाँगीर के साथ उनके संबंध सुधर गये। वे जहाँगीर के साथ उसकी मृत्यु के तुरन्त पहले कश्मीर भी गये। लेकिन शिकार के एक मामले को

लेकर शाहजहाँ के साथ उनका मतभेद हो गया। इस समय तक गुरु के अनुयायियों की संख्या काफ़ी बढ़ गई थी और पाइंदा ख़ाँ के नेतृत्व में कुछ पठान भी इसमें शामिल हो गये थे। गुरु की मुग़लों के साथ कई मुठभेड़ें हुईं और अन्त में गुरु पंजाब की तराई में जाकर बस गये जहाँ वे शांति से रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में मुग़ल शासकों तथा सिक्खों के बीच संघर्ष का वातावरण नहीं था न ही हिंदुओं को उनके धर्म के लिए पीड़ित किया जा रहा था। अत: ऐसा कोई कारण नहीं था कि जिससे सिक्ख या अन्य कोई दल हिन्दुओं का नेता बनकर मुसलमान अत्याचार के विरोध में झंडा उठाता। सिक्ख गुरु और मुग़ल शासकों के बीच की झड़पें धार्मिक नहीं बल्कि व्यक्तिगत तथा राजनीतिक कारणों से हुईं। शाहजहाँ ने यद्यपि अपने शासनकाल के आरंभ में कट्टरता का रुख अपनाया तथा नये मन्दिरों को तुड़वाया पर इसके बावजूद वह अपने दृष्टिकोण में संकीर्ण नहीं था। बाद में उस पर उसके पुत्र दारा का भी उस पर प्रभाव पड़ा। दारा शाहजहाँ का सबसे बड़ा पुत्र था और वह स्वभाव से ही विद्वान तथा सूफ़ी था जिसकी धार्मिक नेताओं से शास्त्रार्थ करने में बड़ी दिलचस्पी थी। काशी के ब्राह्मणों की सहायता से उसने गीता का फ़ारसी में अनुवाद किया लेकिन उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य वेदों का संकलन था जिसकी भूमिका में उसने वेदों को काल की दृष्टि से ईश्वरीय कृति माना और उसे क़ुरान के समान बताया। इस प्रकार उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि इस्लाम तथा हिन्दू धर्म में मूलभूत अंतर नहीं हैं।

गुजरात के एक अन्य कवि दादू ने जातीय भेदभाव से मुक्त निपख नामक एक धार्मिक आंदोलन को आरम्भ किया। उन्होंने अपने को हिन्दू या मुसलमान बताने से इन्कार किया और लोगों को दोनों के धार्मिक ग्रन्थों से ऊपर उठने के लिए कहा। उन्होंने इस बात की घोषणा की कि ब्रह्म अथवा सर्वोच्च सत्य को विभाजित नहीं किया जा सकता।

इसी तरह की सहिष्णुता से पूर्ण धार्मिक धारा महाराष्ट्र में पंढरपुर के अनन्य भक्त तुकाराम की कृतियों में देखी जा सकती है। पंढरपुर महाराष्ट्र धर्म का केन्द्र बन गया था और वहाँ विष्णु के प्रतिरूप विठोबा की पूजा अत्यन्त लोकप्रिय हो गई थी। तुकाराम जो स्वयं को एक शूद्र बताते थे भगवान की प्रतिमा की पूजा अपने हाथों से किया करते थे।

यह आशा नहीं की जा सकती थी कि इस तरह के विश्वास तथा कार्यों को हिन्दू और मुसलमानों के कट्टर तत्व आसानी से स्वीकार कर लेंगे और अपनी शक्ति और प्रभाव का त्याग कर देंगे जिसका वे इतने दिनों से लाभ उठाते चले आ रहे थे। कट्टर हिन्दुओं की भावनाओं को बंगाल के नवद्वीप (नदिया) के रघुनन्दन ने वाणी दी। रघुनन्दन मध्य युग के धर्मशास्त्रों के सबसे प्रभावशाली लेखक माने जाते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार पर ज़ोर दिया और इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि धर्मशास्त्रों को पढ़ना अथवा उनका प्रसार करना केवल ब्राह्मणों का अधिकार है। उनके अनुसार कलियुग में केवल दो वर्ण ब्राह्मण और शूद्र रह गये थे क्योंकि सच्चे क्षत्रियों का बहुत पहले लोप हो गया था और वैश्य और अन्यों ने अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह न कर अपनी जाति खो दी थी! महाराष्ट्र के रामानन्द ने भी ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों का समर्थन किया।

मुसलमानों में यद्यपि तौहीद की धारा जारी रही तथा कई प्रमुख सूफ़ी सन्तों ने इसका समर्थन किया तथापि कट्टर उलमाओं के एक छोटे दल ने अकबर की सहिष्णुता की नीति की कड़ी आलोचना की। उस समय के सबसे प्रसिद्ध कट्टर मुसलमान शेख़ अहमद सरहिंदी माने जाते हैं। ये सूफ़ियों के कट्टर नक्शबंदी दल, जो अकबर के शासनकाल में भारत में आरम्भ हुआ था, उसके समर्थक थे। शेख़ अहमद सरहिन्दी ने तौहीद तथा ईश्वर के एकात्म को ग़ैर-इस्लामी बताते हुए इसका कड़ा विरोध किया। उन्होंने ऐसे रीति रिवाजों और विश्वासों का भी विरोध किया जो हिन्दुत्व से प्रभावित थे। इनमें ध्यान लगाना, सन्तों के मज़ारों की पूजा करना तथा धार्मिक सभा में संगीत शामिल था। राज्य के इस्लामी स्वरूप पर ज़ोर देते हुए इन्होंने जज़िया को फिर से लगाने पर ज़ोर दिया और इस बात की सिफ़ारिश की कि हिन्दुओं के प्रति कड़ा रुख अपनाया जाये और उन्हें मुसलमानों के साथ कम से कम मिलने दिया जाये। अपनी योजना के कार्यान्वयन के लिए इन्होंने कई केन्द्रों को शुरू किया तथा अपने पक्ष में

लाने के लिए सम्राट तथा कई सरदारों को चिट्ठियाँ लिखीं।

इन सब के बावजूद शेख़ अहमद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। जहाँगीर ने इन्हें अपने को मुहम्मद साहब से भी बड़ा बताने के लिए बंदी बना लिया और अपनी बात वापस लेने पर ही रिहा किया। औरंगज़ेब ने भी इनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

इसके साथ हम देखते हैं कि कट्टर विचारकों तथा प्रचारकों का प्रभाव बड़ा सीमित था और इनसे बहुत कम लोग प्रभावित थे। ऐसे लोगों की आशा यही रहती थी कि उन्हें धनी एवं समाज और राज्य में प्रतिष्ठित लोगों का समर्थन प्राप्त हो। दूसरी ओर सहिष्णुता के समर्थक विचारकों से आम जनता प्रभावित थी।

भारतीय इतिहास में कट्टरता तथा सहिष्णुता के प्रभाव को भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। यह एक ओर विशेषाधिकार प्राप्त शक्तिशाली लोगों तथा दूसरी ओर मानवतावादी विचारों से प्रभावित आम जनता के बीच के संघर्ष का एक रूप था।

कट्टर तथा संकीर्ण तत्वों के प्रभाव तथा उनके द्वारा प्रतिपादित संकीर्ण विचारों से दो प्रमुख धर्मों हिन्दू तथा इस्लाम के बीच समन्वय और देश की सांस्कृतिक एकता में बाधा पहुँची। औरंगज़ेब के शासनकाल में इन दोनों तत्वों के बीच का संघर्ष उभरकर सामने आया।

प्रश्न-अभ्यास

1. मुग़ल उच्च अधिकारी वर्ग के मुख्य अंग क्या थे ? उनकी जीवन पद्धति का वर्णन कीजिए।
2. मुग़ल साम्राज्य में जन साधारण की जीवन स्थिति का वर्णन कीजिए।
3. भारत में मुग़ल काल में ज़मींदारों का क्या स्थान था ?
4. सत्रहवीं सदी में भारत में वाणिज्य और व्यापार की स्थिति का वर्णन कीजिए। इस काल में व्यापारियों का क्या स्थान था ?
5. सत्रहवीं सदी में भारत में यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों की गतिविधियों का वर्णन कीजिए।
6. मुग़ल काल को भारतीय इतिहास का दूसरा कालजीवी (क्लासिकी) काल कैसे कहा जा सकता है ? विवेचन कीजिए।
7. मुग़लों के काल में वास्तुकला के विकास का वर्णन कीजिए।
8. चित्रकला में मुग़लों के योगदान का वर्णन कीजिए। मुग़ल चित्रकला की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं ?
9. मुग़ल काल में साहित्य के विकास का वर्णन कीजिए।
10. मुग़ल काल में धार्मिक विचारों की मुख्य प्रवृत्तियाँ क्या थीं ? एकीकरण की प्रक्रिया पर उनका क्या प्रभाव पड़ा ?

अध्याय 17

मुग़ल साम्राज्य का चर्मोत्कर्ष और विघटन—I

उत्तराधिकार की समस्या

शाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम वर्ष, उसके लड़कों के बीच उत्तराधिकार के संघर्ष के बादलों से आच्छन्न रहे। तैमूरियों में उत्तराधिकार की कोई निश्चित परम्परा नहीं थी। कुछ मुसलमान राजनीतिक विचारकों ने सम्राट के अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति के अधिकार को मान्यता दी थी लेकिन सल्तनत काल में भारत में इसे बहुत बार लागू नहीं किया जा सका। साम्राज्य को अपने उत्तराधिकारियों के बीच बाँट देने की तैमूरियों की प्रथा भी बहुत सफल नहीं रही और भारतवर्ष में भी इसे कभी लागू नहीं किया गया।

उत्तराधिकार के मामले में हिन्दू परम्परा भी बहुत स्पष्ट नहीं थी। अकबर के समसामयिक कवि तुलसीदास के अनुसार किसी भी शासक को अपने किसी भी पुत्र को टीका लगाने का अधिकार था लेकिन राजपूतों में ही कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें राजा के चुनाव को अन्य भाइयों ने मंजूर नहीं किया। इसी प्रकार साँगा को गद्दी पर आने से पहले अपने भाइयों के साथ घमासान लड़ाई करनी पड़ी।

शाहजहाँ अपने शासन के अन्तिम दिनों में गद्दी के लिए अपने बेटों के बीच संघर्ष की स्थिति से चिन्तित था। उसने अपने चारों बेटों, दारा, शुजा, औरंगज़ेब और मुराद को प्रशासन तथा युद्ध कला के लिए प्रशिक्षित किया था। मुग़ल प्रथा के अनुसार कई अभियानों का नेतृत्व उनके हाथों में दिया गया था और साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों की प्रशासनिक ज़िम्मेदारी भी उन पर सौंपी गई थी। इनमें से हर एक योग्य और निपुण था। शुजा और मुराद अपनी बहादुरी के लिए प्रसिद्ध थे लेकिन वे आलसी और आरामतलब भी थे। दारा धर्म के मामले में अपनी उदार नीति और विद्वानों के संरक्षण के लिए प्रसिद्ध था। वह बहुत भद्र और अपने पिता का विश्वासपात्र था। शाहजहाँ प्रशासन के मामले में उसकी राय पर काफ़ी निर्भर करता आ रहा था। लेकिन दारा घमण्डी भी था और वास्तविक युद्ध में उसका अनुभव बहुत कम था। जैसा कि बाद की घटनाओं से सिद्ध होता है वह आदमियों के चरित्र का अन्दाज़ लगाने में भी कमज़ोर था। दूसरी ओर औरंगज़ेब न केवल एक अच्छा संगठनकर्ता बल्कि एक कुशल सेनाध्यक्ष और चालाक था। आपसी बातचीत कर वह हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के कई सरदारों को अपने पक्ष में करने में सफल हो गया था। इस प्रकार आरम्भ से ही वास्तविक संघर्ष शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दारा तथा उसके तीसरे लड़के औरंगज़ेब के बीच था।

1657 ई० के अन्त में शाहजहाँ दिल्ली में गम्भीर रूप से बीमार पड़ गया तथा कुछ समय तक लोगों ने उसके जीवन की आशा भी त्याग दी थी। लेकिन धीरे-धीरे दारा की देख-रेख में उसने अपनी शक्ति पुन: प्राप्त कर ली। इस बीच कई तरह की अफ़वाहें चल निकलीं।

यहाँ तक कहा गया कि शाहजहाँ वास्तव में मर गया है लेकिन दारा ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इस तथ्य पर परदा डाल रखा है। कुछ समय बाद शाहजहाँ आगरा आ गया। इस बीच बंगाल में शुजा, गुजरात में मुराद तथा दक्कन में औरंगज़ेब पर या तो इन अफ़वाहों पर विश्वास करने के लिए दबाव डाला गया या फिर उन्होंने अपने हक़ में इन पर विश्वास करने का बहाना बनाया और अब अवश्यम्भावी उत्तराधिकारी-संघर्ष के लिए तैयारियाँ शुरू कर दीं।

अपने काल को नज़दीक देख तथा इस भय से कि अपने लड़कों के बीच का संघर्ष साम्राज्य के लिए घातक होगा, शाहजहाँ ने दारा को अपना उत्तराधिकारी (वली-अहद) नियुक्त करने का निश्चय किया। उसने दारा के मनसब को चालीस हज़ार ज़ात से बढ़ा कर साठ हज़ार तक कर दिया तथा उसके बैठने की जगह अपने सिंहासन के बग़ल में नियुक्त की। इसके अलावा उसने सभी सरदारों से दारा को अगले सम्राट के रूप में स्वीकार करने के आदेश दिए। लेकिन उत्तराधिकारी की समस्या को शान्ति से सुलझाने की शाहजहाँ की आशाएँ पूरी नहीं हुईं। उसके इन कार्यों से उसके बाक़ी तीन बेटों को विश्वास हो गया कि वह दारा के साथ पक्षपात कर रहा है। इस तरह सिंहासन के लिए अपना दावा करने का उनका निश्चय और पक्का हो गया।

हमें उत्तराधिकारी के संघर्ष और औरंगज़ेब की जीत में विस्तार से जाने की आवश्यकता नहीं है। औरंगज़ेब की सफलता के कई कारण थे। पारस्परिक विरोधी परामर्श तथा अपने शत्रु की शक्ति का अन्दाज़ नहीं लगा पाना—दारा की पराजय के ये दो प्रमुख कारण थे। अपने लड़कों की युद्ध की तैयारियों और राजधानी पर उनके हमले के निश्चय की बात सुनकर शाहजहाँ ने शुजा को दबाने के लिए पूर्व में दारा के लड़के सुलेमान शिकोह के नेतृत्व में एक सेना भेजी। सुलेमान शिकोह की सहायता करने के लिए उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह को भी साथ भेजा। एक और सेना जोधपुर के शासक राजा जसवन्तसिंह के नेतृत्व में मालवा की ओर बढ़ी। मालवा पहुँचने पर जसवन्त ने देखा कि वहाँ औरंगज़ेब और मुराद दोनों की मिली हुई सेनाएँ उसका सामना करने को तैयार थीं। दोनों राजकुमार युद्ध के लिए तैयार थे और उन्होंने जसवन्त से अनुरोध किया कि वह इस संघर्ष में भाग न ले। शाहजहाँ ने जसवन्त को कोई निश्चित आदेश नहीं दिए थे यद्यपि उसे कहा गया था कि वह इन राजकुमारों द्वारा राजधानी पर होने वाले हमले को रोके और उन्हें वापस जाने पर मजबूर करे। उससे कहा गया था कि वह यह प्रयत्न करे कि उनसे युद्ध न हो। जसवन्त वापस लौट सकता था लेकिन इसे अपने सम्मान के ख़िलाफ़ समझ उसने युद्ध का निश्चय किया यद्यपि परिस्थितियाँ उसके पक्ष में नहीं थीं। युद्ध छेड़ कर जसवन्त ने ग़लती की। धरमट में (15 अप्रैल 1658) औरंगज़ेब की विजय से उसका सम्मान बढ़ गया तथा दारा और उसके समर्थकों में निराशा फैल गई।

इस बीच दारा ने एक और बड़ी ग़लती कर डाली। उसे अपनी शक्ति पर अधिक विश्वास था और उसने पूर्वी अभियान के लिए अपने चुने हुए सैनिकों को भेज दिया था। इससे उसकी राजधानी आगरा क़रीब-क़रीब खाली हो गई। सुलेमान शिकोह के नेतृत्व में भेजी गई सेना ने अच्छा परिणाम दिखाया। उसने बनारस के निकट (फरवरी 1658) शुजा को हतप्रभ कर उसे पराजित कर दिया। इसके बाद सेना बंट गई और उसकी एक टुकड़ी ने शुजा का पीछा बिहार तक किया जैसे आगरा की समस्या बिल्कुल ही सुलझ गई हो। धरमट की पराजय के बाद सेना की इस टुकड़ी को आगरा बुलाने के लिए शीघ्रता से आवश्यक सन्देश भेजे गए। 7 मई 1658 को जल्दी में किए गए एक समझौते के बाद सुलेमान पूर्वी बिहार में मुंगेर से वापस आगरा के लिए चल पड़ा लेकिन औरंगज़ेब से युद्ध के लिए आगरा ठीक समय तक नहीं पहुँच सका।

धरमट के बाद दारा ने सहयोगियों को इकट्ठा करने के लिए कड़े प्रयास किए। उसने जसवन्तसिंह को बार-बार चिट्ठियाँ भेजीं लेकिन जसवन्तसिंह अब जोधपुर चला गया था। उदयपुर के राणा से भी सहायता का अनुरोध किया गया। इस बीच जसवन्तसिंह अजमेर में पुष्कर के निकट आ गया था। वहाँ उसने दारा द्वारा दिए गए पैसों से एक सेना खड़ी की और उदयपुर के राणा की प्रतीक्षा करने लगा। लेकिन तब तक औरंगज़ेब ने राणा को 1654 में शाहजहाँ और दारा द्वारा चित्तौड़ की दुबारा

क़िलेबन्दी के सवाल पर हुए झगड़े के बाद छीने गए परगनों को वापस लौटाने का वादा कर, अपने पक्ष में मिला लिया था। औरंगज़ेब ने राणा को धार्मिक स्वतंत्रता का आश्वासन दिया और यह भी कहा कि उसे राणा सांगा वाली हैसियत मिल जाएगी। इस प्रकार दारा महत्वपूर्ण राजपूत राजाओं को भी अपनी ओर शामिल करने में असफल रहा।

सामूगढ़ की लड़ाई (29 मई 1658) वास्तव में सेनाध्यक्षों के कौशल की लड़ाई थी क्योंकि दोनों तरफ़ की सेनाएँ संख्या की दृष्टि से बराबर सी थीं। (दोनों ओर पचास से साठ हज़ार सैनिक थे।) इस मैदान में दारा औरंगज़ेब की ज़रा भी बराबरी नहीं कर सकता था। यद्यपि उसकी तरफ़ बाढ़ा के सैयद और हाड़ राजपूत थे, लेकिन फिर भी जल्दी में इकट्ठी की गई सेना की कमज़ोरी छुपी नहीं रह सकती थी। दूसरी ओर औरंगज़ेब के सैनिक अनुभवी थे और उनका नेतृत्व भी योग्य हाथों में था।

औरंगज़ेब ने हमेशा ऐसा विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि वह आगरा केवल अपने बीमार पिता को देखने और उन्हें धर्म-विरोधी दारा के चुंगल से छुड़ाने के लिए आना चाहता है। लेकिन औरंगज़ेब और दारा के बीच की लड़ाई धार्मिक कट्टरता और धार्मिक सहिष्णुता के बीच नहीं थी। दोनों विरोधियों के पक्ष में मुसलमान और हिन्दू सरदार क़रीब-क़रीब बराबर संख्या में थे। प्रमुख राजपूत राजाओं के दृष्टिकोण को हम पहले ही देख चुके हैं। इस युद्ध में भी, जैसा कि पहले के हर युद्ध में हुआ था, सरदारों ने अपने स्वार्थों के अनुसार एक या दूसरे भाई का समर्थन किया।

सामूगढ़ की लड़ाई के पहले शाहजहाँ को यह भी सुझाव दिया गया कि वह या तो औरंगज़ेब को वापस जाने पर मजबूर करे या फिर उसके विरुद्ध स्वयं मैदान संभाले। पिता और पुत्र के कटु संबंधों को देखते हुए इस बात में सन्देह है कि शाहजहाँ औरंगज़ेब को समझाने के अपने प्रयासों में सफल हो पाता। लेकिन साथ ही सेना का नेतृत्व स्वयं करने से इन्कार कर शाहजहाँ ने ऐसी स्थिति को पक्का कर दिया कि चाहे जो भी जीते, सत्ता की बागडोर कम से कम शाहजहाँ के हाथों में नहीं रहेगी। औरंगज़ेब ने क़िले तक जाने वाले जल मार्ग पर क़ब्ज़ा कर शाहजहाँ को समर्पण करने पर मजबूर कर दिया। शाहजहाँ को अब कड़े पहरे में, क़िले के अन्तःपुर में नज़रबन्द कर दिया गया यद्यपि उसके साथ बर्ताव बुरा नहीं हुआ। यहाँ शाहजहाँ 8 साल की लम्बी अवधि तक रहा और उसकी देखरेख के लिए उसकी प्रिय बेटी जहाँआरा थी जिसने अपनी इच्छा से क़िले के अन्दर रहना स्वीकार किया। शाहजहाँ की मृत्यु के बाद वह फिर जनजीवन में आई और औरंगज़ेब ने बड़े सम्मान के साथ उसे साम्राज्य की प्रथम महिला के रूप में उसका पद वापस लौटा दिया। औरंगज़ेब ने जहाँआरा की वार्षिक राशि भी 12 लाख रुपयों से बढ़ाकर 17 लाख रुपये कर दी।

मुराद और औरंगज़ेब के बीच समझौते की शर्तों के अनुसार राज्य को इन दोनों के बीच बाँटा जाना था लेकिन औरंगज़ेब की नीयत साम्राज्य के बंटवारे की नहीं थी। उसने धोखा देकर मुराद को बन्दी बना लिया और ग्वालियर जेल में भेज दिया। दो साल बाद उसकी हत्या कर दी गई।

सामूगढ़ की लड़ाई में पराजित होने के बाद दारा भाग कर लाहौर चला गया और उसने आसपास के क्षेत्रों में शासन स्थापित करने की योजना बनाई लेकिन इसी समय औरंगज़ेब एक शक्तिशाली सेना के साथ पड़ोस में आ पहुँचा और दारा की हिम्मत जवाब दे गई। वह बिना लड़ाई किए लाहौर से भाग कर सिन्ध पहुँच गया और इस प्रकार उसने स्वयं ही अपनी तक़दीर का फ़ैसला कर लिया। यद्यपि यह गृहयुद्ध दो वर्षों तक और चलता रहा, इसके परिणाम के बारे में कोई सन्देह नहीं रह गया। मारवाड़ के शासक जसवन्तसिंह के निमंत्रण पर दारा का सिंध से गुजरात और उसके बाद अजमेर आना तथा जसवन्त के विश्वासघात की घटनाएँ काफ़ी परिचित हैं। अजमेर के निकट देवराई की लड़ाई (मार्च 1659) औरंगज़ेब के विरुद्ध दारा की आख़िरी बड़ी लड़ाई थी। दारा भाग कर ईरान जा सकता था लेकिन उसने अफ़ग़ानिस्तान में एक बार फिर अपने भाग्य को आज़माने का निश्चय किया। लेकिन रास्ते में ही बोलन दर्रे में एक विश्वासघाती अफ़ग़ान सरदार ने उसे बन्दी बना कर उसके शत्रुओं के हाथों में सौंप दिया। न्यायाधीशों के एक दल ने फ़ैसला दिया कि दारा को धार्मिक क़ानून और धार्मिक विश्वास के हित में तथा सार्वजनिक शान्ति को

भंग करने के अपराध में जीवित नहीं रखा जा सकता। औरंगज़ेब ने जिस प्रकार से अपनी राजनीतिक इच्छाओं के लिए धर्म का इस्तेमाल किया, इसका यह विशेष उदाहरण है। दारा की हत्या के दो साल बाद गढ़वाल के शासक ने जिसके पास दारा के लड़के सुलेमान शिकोह ने शरण ली थी, हमले के भय से उसे औरंगज़ेब को सौंप दिया। सुलेमान की भी वही गति हुई जो उसके पिता की हुई थी।

इसके पहले औरंगज़ेब ने इलाहाबाद के निकट (दिसम्बर 1658) में शुजात ख्वाजा को पराजित किया था। इसके बाद उसके विरुद्ध चलाए गए अभियान का नेतृत्व मीर जुमला के हाथों में सौंप दिया गया जिसने शुजा का पीछा तब तक किया जब तक वह भारत से अराकान नहीं भाग गया (अप्रैल 1660)। इसके शीघ्र बाद विद्रोह भड़काने के अपराध में वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ अराकानियों के हाथों मौत के घाट उतारा गया।

साम्राज्य के लिए दो साल से चल रहे गृह युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि सिंहासन के लिए संघर्षरत दल न तो शासक के चुनाव और न ही साम्राज्य के बंटवारे को स्वीकार करेंगे। सत्ता हथियाने का एकमात्र उपाय अब सैनिक शक्ति ही हो गया था और गृह युद्ध और अधिक भयंकर होते चले गए थे। सिंहासन पर जमने के बाद औरंगज़ेब ने कुछ हद तक भाइयों के बीच अन्त तक लड़ने के परिणामों को नरम करने की चेष्टा की। जहाँआरा बेगम के कहने पर दारा के लड़के सिकिहर शिकोह को 1673 में जेल से रिहा कर दिया गया, उसे एक मनसब प्रदान किया गया और उसे औरंगज़ेब की एक लड़की विवाह में दी गई। इसके पहले 1669 में दारा की लड़की जानी बेगम जिसे जहाँआरा ने अपनी बेटी की तरह पाला था, का विवाह औरंगज़ेब के तीसरे लड़के मुहम्मद आज़म के साथ कर दिया गया। इसके अलावा भी औरंगज़ेब के परिवार तथा उसके द्वारा पराजित उसके भाइयों के लड़कों और पोते-पोतियों के बीच भी कई वैवाहिक संबंध हुए। इस प्रकार तीसरी पुश्त में औरंगज़ेब तथा उसके द्वारा पराजित भाइयों के परिवार एक हो गए।

औरंगज़ेब का शासन—उसकी धार्मिक नीति

औरंगज़ेब ने क़रीब पचास वर्षों तक राज किया। उसके शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य के विस्तार का चर्मोत्कर्ष हुआ। जब यह साम्राज्य अपने शिखर पर था, इसका विस्तार उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में जिंजी, तथा पश्चिम में हिन्दुकुश से लेकर पूर्व में चटगाँव तक था। औरंगज़ेब बड़ा परिश्रमी शासक था और प्रशासन के कार्य में वह न स्वयं को और न ही अपने अधीनस्थ अधिकारियों को बख्शता था। उसके पत्रों से पता चलता है कि वह प्रशासन के सभी पहलुओं पर बारीकी से ध्यान देता था। वह अनुशासन प्रिय था और इस मामले में अपने लड़कों को भी नहीं छोड़ता था। 1686 में उसने अपने लड़के मुअज़्ज़म को गोलकुण्डा के शासक के साथ मिलकर षड़यंत्र रचने के अपराध में 12 वर्षों तक बन्दी बना कर रखा। उसके अन्य लड़कों को भी कई अवसरों पर उसके क्रोध का शिकार होना पड़ा। औरंगज़ेब का इतना सशक्त नियंत्रण था कि उसके जीवन के अन्तिम दिनों में भी जब मुअज़्ज़म काबुल का प्रशासक था, अपने पिता से जब भी पत्र पाता, काँप उठता था। अपने पूर्वजों की तरह औरंगज़ेब को दिखावे का कोई शौक़ नहीं था। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वह अत्यन्त साधारण था। वह अपनी कट्टरता तथा ईश्वर से डरने वाले सच्चे मुसलमान के रूप में जाना जाता है। कालान्तर में उसे ज़िन्दा पीर या सन्त के रूप में भी जाना जाने लगा।

शासक के रूप में औरंगज़ेब की उपलब्धियों के बारे में इतिहासकारों के बीच बड़ा मतभेद है। कुछ के अनुसार औरंगज़ेब ने अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति को बिल्कुल परिवर्तित कर दिया था जिससे साम्राज्य के प्रति हिन्दुओं की निष्ठा कम हो गई थी। उनके अनुसार इसके परिणामस्वरूप कई विद्रोह हुए जिनसे साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई। औरंगज़ेब बहुत शंकालु प्रकृति का था और इससे भी उसकी कठिनाईयाँ बढ़ती गईं। ख़ाफ़ीख़ाँ के अनुसार उसकी योजनाएँ बड़ी लम्बी होती थीं और अन्त में अधिकतर असफल ही रहती थीं। कुछ अन्य इतिहासकारों का मत है कि औरंगज़ेब की निन्दा उचित नहीं है। उनके अनुसार औरंगज़ेब से पहले के शासकों की कमज़ोर नीतियों के परिणामस्वरूप हिन्दू साम्राज्य के प्रति निष्ठा

खो बैठे थे और औरंगज़ेब के पास इन्हें नियंत्रण में लाने के लिए कठोर उपायों तथा मुसलमानों के समर्थन को प्राप्त करने के अलावा और कोई चारा नहीं था क्योंकि अन्त में साम्राज्य का अस्तित्व मुसलमानों के ही समर्थन पर टिका था। लेकिन औरंगज़ेब के बारे में लेखन और आलोचना की हाल में एक नई धारा आरम्भ हो गई है। औरंगज़ेब की राजनीतिक और धार्मिक नीतियों के तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के सन्दर्भ में पुनर्मूल्यांकन के प्रयास किए गए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति से औरंगज़ेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। वह दार्शनिक तर्क-वितर्क अथवा आध्यात्म में ज़रा भी रुचि नहीं रखता था यद्यपि उसने अपने लड़कों को सूफ़ी मत अपनाने से नहीं रोका। इस्लामी क़ानून की हनफ़ी विचारधारा, जो भारत में बहुत दिनों से चली आ रही थी, के प्रति दृढ़ रहने पर भी औरंगज़ेब धर्म-निरपेक्ष क़ानूनों, **ज़वाबित**, को जारी करने में नहीं हिचकिचाया। उसके आदेशों को **ज़वाबित-ए-आलमगीरी** में संगृहीत किया गया है। सिद्धान्ततः ज़वाबित शरिया के पूरक थे लेकिन वास्तविकता यह थी कि भारत की विशेष परिस्थितियों को देखकर ज़वाबित शरिया के परिवर्तित रूप थे क्योंकि शरिया में भारत की परिस्थितियों के अनुरूप क़ानून नहीं बनाए गए थे।

हमें यह याद रखना चाहिए कि औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान होने के अलावा एक शासक भी था। वह इस वास्तविकता को भूल नहीं सकता था कि उसके साम्राज्य की अधिकांश आबादी हिन्दुओं की है और ये अपने धर्म और विश्वास के प्रति पक्के हैं। ऐसी कोई भी नीति जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू तथा शक्तिशाली हिन्दू राजा और ज़मींदार विरोध में हो जाएँ, उसका असफल होना अवश्यंभावी था।

औरंगज़ेब की धार्मिक नीति का विश्लेषण करते समय हमें पहले नैतिक और सामाजिक नियमों को ध्यान में रखना चाहिए। अपने शासन के आरम्भ में औरंगज़ेब ने अपने सिक्कों पर कलमा खुदवाना बन्द कर दिया ताकि ये सिक्के हाथ से हाथ जाकर गन्दे न हो जाएँ या फिर पैरों तले नहीं रौंदे जाएँ। उसने नौरोज़ के त्योहार पर पाबन्दी लगा दी क्योंकि इसे ज़रथुष्ट्र सम्प्रदाय का त्योहार माना जाता था जिसे ईरान के सफ़ावी शासकों ने समर्थन दिया था। सभी प्रान्तों में मुहतसिबों की नियुक्ति की गई जिनका काम था कि वे इस बात की देखभाल करें कि लोग शरिया के नियमों के अनुरूप रहते हैं या नहीं। इस प्रकार इन अधिकारियों का कार्य यह देखना था कि सार्वजनिक स्थानों पर शराब तथा भांग जैसी नशीली पदार्थों का सेवन न हो। उन पर वेश्यालयों तथा जुए के अड्डों तथा नाप तौल पर नियंत्रण रखने का भी भार था। दूसरे शब्दों में उनकी ज़िम्मेदारी यह थी कि वे इस बात को देखें कि जहाँ तक संभव हो लोग शरिया तथा ज़वाबित के नियमों का खुले रूप से उल्लंघन न करें। मुहतसिबों की नियुक्ति के समय औरंगज़ेब ने इस बात पर ज़ोर दिया कि नागरिकों का नैतिक कल्याण राज्य की ज़िम्मेदारी है। लेकिन इन अधिकारियों से कहा गया कि वे नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप न करें।

बाद में अपने शासन के 11वें वर्ष में (1669) औरंगज़ेब ने कई एक ऐसे क़दम उठाए जिन्हें कट्टर माना जाता है लेकिन जो वास्तव में आर्थिक और सामाजिक थे और जिनका उद्देश्य अन्धविश्वासों को समाप्त करना था। औरंगज़ेब ने दरबार में संगीत पर पाबन्दी लगा दी तथा सरकारी संगीतज्ञों को अवकाश दे दिया गया। इसके बावजूद बजाने वाले यंत्रों का वादन तथा नौबत जारी रहा। हरम तथा सरदारों की स्त्रियों के बीच भी गाना बजाना जारी रहा। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत पर फ़ारसी में सबसे अधिक पुस्तकें औरंगज़ेब के ही शासनकाल में लिखी गईं और औरंगज़ेब स्वयं वीणा बजाने में दक्ष था। इस प्रकार औरंगज़ेब का कुछ संगीतज्ञों को यह कहना कि उन्हें संगीत के जनाज़े को ज़मीन के अन्दर इतना गहरा दफ़न करना चाहिए ताकि उसकी प्रतिध्वनि भी नहीं उठ सके, केवल गुस्से में कही बात मानी जा सकती है।

औरंगज़ेब ने झरोखा दर्शन की प्रथा को भी बन्द कर दिया क्योंकि उसके अनुसार यह मात्र अन्धविश्वास तथा इस्लाम के विरुद्ध था। इसी प्रकार उसने सम्राट को उसके जन्म दिन पर सोने, चाँदी तथा अन्य वस्तुओं से तौलने की प्रथा भी बन्द कर दी। यह प्रथा अकबर के ज़माने में आरम्भ हुई थी और इसका बहुत प्रसार हो गया था पर

इससे छोटे सरदारों पर बड़ा बोझ पड़ता था। इसके बावजूद सामाजिक विचारधारा का भी महत्व कम नहीं था। औरंगज़ेब को हार मान कर अपने लड़कों के लिए, जब वे बीमारी से ठीक हुए, इस प्रथा को स्वीकार करना ही पड़ा। उसने ज्योतिषियों और पंचांग बनाने पर भी पाबन्दी लगा दी लेकिन स्वयं राजघराने के सदस्य तथा अन्य लोग व्यापक तौर पर इस आदेश का उल्लंघन करते रहे।

इस प्रकार के कई और आदेश, जिनमें कुछ नैतिक थे, आडम्बरों को समाप्त करने के लिए जारी किए गए। राजदरबार को सस्ते तथा साधारण ढंग से सजाया गया तथा किरानियों को चाँदी के स्थान पर मिट्टी के दवात दिए गए। रेशम के कपड़ों को पहनने वालों पर लोग भौं तानते थे तथा दीवान-ए-आम में सोने की रेलिंग के स्थान पर लाजवर्द (लापिस लजूली) की रेलिंगें लगाई गईं जिन पर सोने का काम किया हुआ था। आर्थिक पहलू को ध्यान में रख कर इतिहास लिखने वाले सरकारी विभाग को भी बन्द कर दिया गया।

उन दिनों व्यापार अधिकतर सरकार के समर्थन से होता था। मुसलमानों के बीच व्यापार को बढ़ाने के लिए औरंगज़ेब ने पहले मुसलमान व्यापारियों को कर मुक्त कर दिया लेकिन शीघ्र ही उसे ऐसा लगा कि मुसलमान व्यापारी इसका नाजायज़ फ़ायदा उठा रहे हैं तथा राज्य को धोखा देने के लिए हिन्दू व्यापारियों की वस्तुओं को भी अपना बता रहे हैं। बाद में औरंगज़ेब ने मुसलमान व्यापारियों पर फिर से कर लगा दिए। पर फिर भी इनकी दर औरों के मुक़ाबले में आधी थी।

इसी प्रकार उसने पेशकार तथा करोड़ियों (छोटे कर अधिकारी) के पदों को मुसलमानों के लिए सुरक्षित करने का प्रयास किया लेकिन शीघ्र ही उसे सरदारों के विरोध तथा योग्य मुसलमानों के अभाव के कारण इस आदेश को वापस लेना पड़ा।

इन तथा ऐसे ही कुछ क़दमों को देखकर हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि औरंगज़ेब धर्मांध व्यक्ति था। जैसा कि हम देख चुके हैं, उसके विभिन्न कार्यों के उद्देश्य भी अलग-अलग थे। लेकिन दारा के क़त्ल के मामले में औरंगज़ेब ने धर्मनेताओं को अपने पक्ष में करने में होशियारी समझी। इसी प्रकार सामूगढ़ के बाद यद्यपि औरंगज़ेब सम्राट् बनने का इच्छुक था तथापि अपने पिता के जीवित रहते हुए वह ऐसा विधिवत् नहीं कर सकता था। दरबार का मुख्य क़ाज़ी भी ऐसी स्थिति में औरंगज़ेब के सम्राट् बनने को क़ानूनसंगत घोषित करने के लिए तैयार नहीं था। अंत में अब्दुल वहाब, जो पहले गुजरात में क़ाज़ी था और बाद में दक्कन में औरंगज़ेब से जा मिला था, उसने क़ाज़ियों को यह कह कर चुप करवा दिया कि क्योंकि शाहजहाँ (अपनी उम्र के कारण) बहुत कमज़ोर हो चुका है और उसकी इन्द्रियों ने भी जवाब देना आरंभ कर दिया था और इस कारण लोगों की सुरक्षा और भलाई को खतरा हो गया था, ऐसी स्थिति में सल्तनत पर शासन करने के योग्य युवराज के नाम में खुतबा पढ़ा जाना शरिया द्वारा मान्य है। औरंगज़ेब ने अब्दुल वहाब को साम्राज्य का प्रमुख क़ाज़ी बनाकर उसके समर्थन के लिए उसे पुरस्कृत भी किया।

अपने राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य कार्यों के लिए औरंगज़ेब द्वारा शरिया तथा धर्मनेताओं का समर्थन प्राप्त करने की बात तर्कसंगत लगती है। ऐसा लगता है कि औरंगज़ेब साधारण आदमी के दिल-ओ-दिमाग़ पर धर्म नेताओं के असर से भली-भाँति परिचित था और इस कारण उनका सर्मथन प्राप्त करना चाहता था। आधुनिक इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने इस बात की ओर संकेत दिया है कि औरंगज़ेब स्वयं को एक कट्टर मुसलमान के रूप में इसलिए प्रदर्शित करता था ताकि लोग अपने पिता के प्रति उसके क्रूर व्यवहार को भूल जाएँ। लेकिन ये कार्य औरंगज़ेब अपने व्यक्तिगत विश्वास के कारण भी कर सकता था।

अब हम औरंगज़ेब के दूसरे कार्यों की ओर ध्यान दें जिनके कारण उसे पक्षपाती और दूसरे धर्मों के अनुयाइयों के प्रति असहिष्णु कहा जाता है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण मंदिरों के प्रति उसका दृष्टिकोण तथा जज़िया को लागू करना है।

औरंगज़ेब ने अपने शासन के प्रारंभ में ही हिन्दू मंदिरों, यहूदियों के मंदिरों और गिरजाघरों के प्रति शरिया में उल्लिखित नीति में अपना समर्थन व्यक्त कर दिया था। शरिया के अनुसार पुराने मंदिरों को नहीं ढाया जाना

चाहिए पर नए मंदिरों का निर्माण भी नहीं होना चाहिए। इसके अलावा क्योंकि इमारतें चिरस्थायी नहीं हो सकतीं, इसलिए पुराने धार्मिक संस्थानों की मरम्मत भी करवाई जा सकती थी। औरंगज़ेब की यह नीति बनारस तथा वृन्दावन आदि स्थानों के ब्राह्मणों को जारी किए गए फ़रमानों में देखी जा सकती है[1]।

मंदिरों से संबंधी औरंगज़ेब की नीति कोई नयी नीति नहीं थी। उसने केवल उस नीति की पुष्टि की जो सल्तनत काल में थी और शाहजहाँ ने अपने शासन के आरंभिक काल में अपनाई थी। असल में इस नीति के अंतर्गत 'प्राचीन मंदिरों' की व्याख्या स्थानीय अधिकारियों पर छोड़ दी गई थी लेकिन इस मामले में सम्राट के व्यक्तिगत विचारों और (भावनाओं से) अधिकारियों का प्रभावित होना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ जब उदार प्रकृति का दारा शाहजहाँ का प्रिय बना हुआ था, बहुत कम मंदिरों को तोड़ा गया। औरंगज़ेब जब गुजरात का प्रशासक था, उसने कई मंदिरों को ध्वस्त करने का हुक्म दिया लेकिन अधिकतर मामलों में इसका अर्थ केवल प्रतिमाओं को तोड़ना और मंदिरों को बंद करना होता था। जब औरंगज़ेब सम्राट बना, उसने देखा कि मंदिरों में प्रतिमाओं को पुन: प्रतिस्थापित कर दिया गया है और उनमें पूजा भी शुरू हो गई है। औरंगज़ेब ने 1665 में इन मंदिरों को नष्ट करने का फिर हुक्म दिया। इनमें से सोमनाथ का प्रसिद्ध मंदिर भी था जिसको तोड़ने के बारे में उसने अपने शासन के आरंभ में ही आदेश जारी किया था।

औरंगज़ेब ने अपने शासन के आरंभ में नए मंदिरों के निर्माण पर प्रतिबंध लगाने का जो हुक्म दिया था, उसके फलस्वरूप ऐसा नहीं लगता कि बड़े पैमाने पर मंदिरों को तोड़ा गया हो। इसके अलावा जाट, मराठों तथा अन्य लोगों के राजनीतिक विरोध के कारण औरंगज़ेब ने एक नई नीति अपनायी। अब स्थानीय तत्वों से विरोध होने पर वह चेतावनी और दंड के रूप में प्राचीन से प्राचीन मंदिर को भी नष्ट करना वैध समझता था। इसके अलावा वह मंदिरों को विरोधी विचारों के प्रसार का केंद्र समझता था। अत: 1669 में उसे जब यह पता चला कि थट्टा, मुल्तान और विशेषकर बनारस के मंदिरों में हिंदुओं के अलावा मुसलमान भी ब्राह्मणों से सीखने के लिए दूर-दूर से आते हैं तो उसने इन मंदिरों के खिलाफ़ कड़ी कार्रवाई की। उसने सभी प्रांतों के प्रशासकों को इस प्रक्रिया को रोकने का हुक्म दिया और कहा कि जिन मंदिरों में ऐसा होता है उन्हें ध्वस्त कर दिया जाय। इन आदेशों के कारण बनारस में विश्वनाथ मंदिर तथा वीरसिंहदेव द्वारा जहाँगीर के काल में मथुरा में निर्मित केशव राय जैसे प्रमुख मंदिरों का विध्वंस कर दिया गया और उनकी जगह मस्जिदों का निर्माण किया गया। इन मंदिरों को तोड़ने के पीछे राजनीतिक उद्देश्य भी थे। **मआसिर-ए-आलम-गीरी** के लेखक मुस्तैदखाँ ने मथुरा के केशव राय मंदिर के ध्वस्त किए जाने के बारे में लिखा है : "सम्राट के विश्वास की शक्ति तथा ईश्वर के प्रति उसकी अगाध भक्ति को देखकर गर्वीले राजा सभी विमूढ़ और मूर्तिवत् हो गए।"

इसी संदर्भ में उड़ीसा में पिछले दस बारह वर्षों में निर्मित मंदिरों को भी ध्वस्त कर दिया गया। लेकिन यह सोचना ग़लत होगा कि मंदिरों को तोड़ने के लिए कोई आम आदेश जारी किए गए थे[2]। लेकिन युद्ध के दौरान स्थिति बदल जाती थी। उदाहरण के लिए 1679-80 में जब औरंगज़ेब मारवाड़ के राठौड़ और उदयपुर के राजा

---

[1] बनारस का फ़रमान कलकत्ते के राष्ट्रीय पुस्तकालय और वृंदावन का फ़रमान जयपुर के एक मंदिर में सुरक्षित हैं।

[2] मुस्तैदखां ने अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में औरंगज़ेब का इतिहास लिखा था और औरंगज़ेब से उसका नज़दीक का संपर्क था। उसके अनुसार औरंगज़ेब के इन फ़रमानों का उद्देश्य इस्लाम की स्थापना थी और सम्राट् ने प्रांतीय शासक को सभी मंदिरों को नष्ट करने का हुकम दिया था तथा अविश्वासी, अर्थात् हिंदुओं द्वारा मनाए जाने वाले धार्मिक उत्सवों पर पाबंदी लगाने को कहा था। यदि मुस्तैदखां का कथन ठीक है तो इसका अर्थ यह होगा कि औरंगज़ेब शरियत में उल्लिखित नियमों से भी कहीं आगे बढ़ गया था क्योंकि शरियत में ग़ैर मुसलमानों द्वारा अपने धर्म के मुताबिक़ चलने पर मनाही नहीं है बशर्ते कि वे सम्राट के प्रति निष्ठावान बने रहें और एसी ही कुछ अन्य शर्तों का पालन करें। न ही ऐसे कोई फ़रमान प्राप्त हुए हैं जिनकी चर्चा मुस्तैदखां ने की है।

के साथ संघर्षरत था, उदयपुर तथा जोधपुर और उसक परगनों के अनेक मंदिरों को ध्वस्त कर दिया गया।

मंदिरों से संबंधित अपनी नीति में औरंगज़ेब भले ही शरिया के नियमों के बाहर न गया हो, इसमें संदेह नहीं कि इस मामले में उसके रुख़ से उसके पूर्वजों की सहिष्णुता की नीति को धक्का पहुँचा। इससे यह धारणा फैल गई कि किसी बहाने मंदिरों को तोड़ना सम्राट न केवल माफ़ कर देगा बल्कि इस कार्य की सराहना करेगा। यद्यपि हमें इस बात के भी उदाहरण मिलते हैं जब औरंगज़ेब ने हिंदू मंदिरों और मठों को अनुदान दिया तथापि कुल मिलाकर हिंदू मंदिरों के संबंध में अपनाई गई नीति से हिंदुओं में व्यापक असंतोष स्वाभाविक था। ऐसा लगता है कि 1679 के बाद मंदिरों को तोड़ने के प्रति औरंगज़ेब का उत्साह कम हो गया और 1681 से लेकर 1707 तक जब उसकी मृत्यु हुई हमें दक्षिण में मंदिरों को ध्वस्त किए जाने की चर्चा नहीं मिलती। लेकिन इसी बीच असंतोष के एक नए कारण, जज़िया को आरंभ कर दिया गया।

जज़िया कर और अरब तथा तुर्की शासकों द्वारा उसे भारत में लगाए जाने के बारे में हम पहले पढ़ चुके हैं। शरिया के अनुसार किसी भी मुस्लिम राज्य में ग़ैर-मुसलमानों द्वारा जज़िया कर चुकाना आवश्यक है। अकबर ने इस कर को कई कारणों से, जिनके बारे में हम पढ़ चुके हैं, समाप्त कर दिया था यद्यपि कई कट्टर धार्मिक नेता इसे पुन: लागू करने पर ज़ोर दे रहे थे ताकि यह साफ़ नज़र आए कि मुसलमानों की स्थिति ऊँची है और उस के साथ-साथ उनका स्वयं का भी प्रभाव बना रहे। कहा जाता है कि सम्राट् बनने के बाद औरंगज़ेब ने जज़िया को फिर लागू करने के बारे में कई बार सोचा पर राजनीतिक विरोध के डर से उसने ऐसा नहीं किया। अंत में अपने शासन के बाईस वर्षों के बाद 1679 में उसने जज़िया को लागू किया। उसके इस क़दम के उद्देश्यों को लेकर इतिहासकारों में काफ़ी मतभेद है।

हम पहले यह देखें कि जज़िया क्या नहीं था? यह हिन्दुओं को इस्लाम धर्म अपनाने के लिए आर्थिक दबाव नहीं था क्योंकि इस कर का बोझ बड़ा हल्का था—स्त्रियाँ, बच्चे, अपंग और निम्न आय के व्यक्ति तथा सरकारी कर्मचारी इस कर से मुक्त थे। न ही इस कर के कारण बड़ी संख्या में हिंदुओं ने इस्लाम को अपनाया। यह कर किसी कठिन आर्थिक स्थिति का मुक़ाबला करने के लिए भी नहीं लगाया गया था। यद्यपि बताया जाता है कि जज़िया से काफ़ी आमदनी थी, औरंगज़ेब ने कई अन्य करों को जो शरिया के अनुसार मान्य नहीं थे और इसलिए ग़ैरक़ानूनी थे—हटा दिया था जिसके फलस्वरूप राज्य की आमदनी दूसरी ओर कम हो गई थी। वास्तव में जज़िया के लगाए जाने के राजनीतिक और सैद्धांतिक, दोनों तरह के कारण थे। इसका उद्देश्य मराठों और राजपूतों, जो युद्ध पर तुले थे, के विरुद्ध मुसलमानों को संगठित करना था। इसके अलावा दक्कन के मुसलमान राज्य और विशेषकर गोलकुंडा भी इन काफ़िरों का साथ दे रहे थे। दूसरे, जज़िया सच्चे और धर्मभीरु मुसलमानों द्वारा उगाहा जाता था और इसी उद्देश्य से उनकी नियुक्ति भी होती थी तथा जो पैसा जमा होता था, वह सारा उलेमाओं को जाता था। इस प्रकार यह धर्मनेताओं को, जिनमें से अधिकतर बेरोज़गार थे, दी जाने वाली बड़ी रिश्वत थी। इसके बावजूद जज़िया के नुक़सान अधिक थे। इसको लेकर हिंदुओं में बड़ा रोष था क्योंकि वे इसे भेदभाव का प्रतीक मानते थे। इसके उगाहने के तरीक़ों में भी कुछ ख़ास बातें थीं। कर देनेवालों को स्वयं व्यक्तिगत रूप से कर देना पड़ता था और कई बार मुसलमान धर्मनेताओं के हाथों उनका अपमान किया जाता था। क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में जज़िया भूमि-लगान के साथ वसूल किया जाता था, इसलिए ये उपाय केवल शहर के धनी लोगों के लिए लागू था। सुनने में आता है कि कई बार शहर के व्यापारियों ने जज़िया के ख़िलाफ़ हड़ताल भी कर दी थी। कई अवसरों पर अमीन, अर्थात् जज़िया उगाहनेवालों, को मार भी दिया गया। लेकिन इनके बावजूद औरंगज़ेब अविचलित रहा। उसने किसानों को इस कर से माफ़ करने से इन्कार कर दिया यद्यपि कई बार प्राकृतिक दुर्योगों के कारण भूमि लगान में नरमी बरती जाती थी।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि औरंगज़ेब अपने इन कार्यों द्वारा दार-उल-हरब, काफ़िरों के देश, को

दार-उल-इस्लाम[1] अर्थात् मुसलमानों के देश में परिवर्तित कर देना चाहता था। यद्यपि औरंगज़ेब इस्लाम को प्रोत्साहन देना वैध समझता था, हमें बड़े पैमाने पर हिंदुओं को धर्म परिवर्तन के लिए ज़ोर देने के प्रमाण नहीं मिलते[2]। न ही हिन्दू सरदारों के साथ भेदभाव बरता जाता था। हाल के एक अध्ययन से पता चलता है कि औरंगज़ेब के शासन के उत्तरार्द्ध में उच्चवर्गीय हिन्दू सरदारों की संख्या बढ़ी और मराठों समेत यह कुल उच्च वर्ग के सरदारों का एक-तिहाई हिस्सा हो गई जबकि शाहजहाँ के शासनकाल में उच्चवर्ग में हिन्दू केवल एक चौथाई थे। एक अवसर पर एक ऐसे प्रार्थना-पत्र पर जिसमें किसी पद पर धार्मिक आधार पर नियुक्ति की माँग की गई थी, औरंगज़ेब ने लिखा : "सांसारिक मामलों में धर्म का क्या स्थान ? और धर्म के मामलों में धर्मांधता का क्या स्थान। तुम्हारा धर्म तुम्हारे लिए है और मेरा मेरे लिए। जैसा कि सुझाया गया है, अगर मैं भी इसी नियम को मान लूँ तो सभी (हिन्दू) राजाओं और उनके अनुयाइयों को खत्म कर देना मेरा कर्त्तव्य हो जाएगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि औरंगज़ेब ने राज्य के स्वरूप में परिवर्तन लाने की चेष्टा नहीं की लेकिन इसमें इस्लाम के तत्वों पर ज़ोर अवश्य दिया। यह नहीं कहा जा सकता कि औरंगज़ेब का धार्मिक विश्वास उसकी राजनीतिक नीतियों का आधार था। यद्यपि वह कट्टर मुसलमान था और इस्लाम के क़ानूनों की मान्यता क़ायम रखना चाहता था, शासक के रूप में औरंगज़ेब की दिलचस्पी अपने साम्राज्य के विस्तार और उसकी मज़बूती में ही थी। इसी कारण जहाँ तक संभव हो सकता था वह हिन्दुओं के समर्थन को नहीं खोना चाहता था। इसके बावजूद कई अवसरों पर उसके धार्मिक विश्वासों और सार्वजनिक नीतियों में टकराव हुआ जिससे औरंगज़ेब के सामने कठिन समस्याएँ आ खड़ी हुईं। इसके कारण कई बार उसे पारस्परिक विरोधी नीतियों को अपनाना पड़ा जिनसे अंत में साम्राज्य को हानि उठानी पड़ी।

राजनीतिक स्थिति—उत्तर भारत

उत्तराधिकारी के लिए हुए युद्ध के दौरान कई स्थानीय ज़मींदारों और राजाओं ने लगान रोक लिया था तथा मुग़ल क्षेत्रों और राजशाही सड़कों के अलावा अपने पड़ोसी क्षेत्रों में लूटमार आरंभ कर दिया था। सिंहासन पर विधिवत् आसानी होने के बाद औरंगज़ेब ने कड़े शासन का सूत्रपात किया। उत्तर पूर्वी तथा दक्कन जैसे कुछ क्षेत्रों में साम्राज्य की सीमा का विस्तार किया गया लेकिन आमतौर पर औरंगज़ेब ने विस्तारवादी नीति से आरंभ नहीं किया। सम्राट बनने के तुरंत बाद उसका प्रथम कार्य सम्राट के सम्मान और उसके अधिकार को स्थापित करना था। इसके अन्तर्गत उन क्षेत्रों पर भी पुनः अधिकार करना था जो उत्तराधिकारी के लिए हुए युद्ध के दौरान छिन गए थे, पर जिन पर अभी भी मुग़लों को लगता था कि उनका क़ानूनी अधिकार है। आरंभ में औरंगज़ेब दूसरे प्रदेशों को जीतने की अपेक्षा विजित प्रदेशों पर अपने अधिकार को अधिक दृढ़ करने के पक्ष में था। उसने बीकानेर में अपनी सेना भेजी ताकि वहाँ मुगल सम्राट की मान्यता हो लेकिन बीकानेर को साम्राज्य में मिलाने का कोई प्रयास नहीं किया लेकिन दूसरी ओर बिहार में पलामू के शासक, जिस पर विश्वासघात का आरोप लगाया गया था, उसे गद्दी से उतार दिया गया और उसके अधिकतर क्षेत्रों को साम्राज्य में मिला लिया

---

[1] ऐसा राज्य, जहाँ इस्लाम के क़ानून मान्य हों और जहाँ का सम्राट मुसलमान हो, दार-उल-इस्लाम कहलाता था। शरियत के अनुसार ऐसे राज्य में जिसमें हिन्दू, मुसलमान शासक के प्रभुत्व को मान लेते थे और जज़िया देने के लिए सहमत हो जाते थे उन्हें ज़िम्मी अर्थात् सुरक्षित कहा जाता था। इसलिए तुर्कों के आने के बाद भारत भी दार-उल-इस्लाम माना जाता था। जब मराठा सेनाध्यक्ष माहदजी सिंधिया ने 1972 में दिल्ली पर क़ब्ज़ा कर लिया था और मुग़ल सम्राट उसके हाथों की कठपुतली बन गया था, उस समय भी मुसलमान धर्मनेताओं के अनुसार राज्य दार-उल-इस्लाम ही रहा क्योंकि इसमें इस्लाम के क़ानूनों की मान्यता थी और सिंहासन पर एक मुसलमान आसीन था।

[2] कश्मीर में आबादी के एक बड़े हिस्से द्वारा इस्लाम धर्म को स्वीकार करन की घटना चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में हुई, जिसके बारे में हम पहले के अध्याय में पढ़ चुके हैं।

गया। बुंदेला सरदार चंपतराय पहले औरंगज़ेब का मित्र था पर बाद में उसने विद्रोह कर दिया और लूटमार करने लगा। उसका भी पीछा कर उसे पकड़ लिया गया पर बुंदेलों के क्षेत्र को साम्राज्य में नहीं मिलाया गया।

उत्तरी पूर्वी तथा पूर्वी भारत

हम पहले के एक अध्याय में असम घाटी में अहोमों के अभ्युदय तथा एक ओर कमता (कामरूप) के शासकों तथा दूसरी ओर बंगाल के अफ़ग़ान शासकों के साथ उनके संघर्ष की चर्चा कर चुके हैं। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तक कमता राज्य समाप्त प्रायः हो चुका था तथा उसका स्थान कूच (कूच बिहार) ने ले लिया था। कूच शासकों ने उत्तरी बंगाल तथा पश्चिमी असम में अपना प्रभाव क़ायम कर लिया था और उन्होंने अहोमों के विरुद्ध संघर्ष की नीति जारी रखी। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में आंतरिक मतभेदों के कारण इनके साम्राज्य का विभाजन हो गया और कूच शासक के कहने पर मुग़लों ने असम में प्रवेश किया। मुग़लों ने पहले से ही विभाजित राज्य को पराजित किया और 1612 ई० में कूच सेना की सहायता से बार नदी तक पश्चिमी असम घाटी पर क़ब्ज़ा कर लिया। कूच शासक अब मुग़लों का एक सामंत मात्र रह गया। इस प्रकार मुग़ल अहोमों के संपर्क में आए जो बार नदी के उस पार पूर्वी असम पर शासन करते थे। अहोमों ने पराजित वंश के एक राजकुमार को शरण भी दी थी। एक लंबे युद्ध के बाद मुग़लों और अहोमों में 1638 में एक संधि हुई जिसके अनुसार बार नदी को दोनों राज्यों की सीमा माना गया। इस प्रकार गोहाटी मुग़लों के अधीन हो गई।

औरंगज़ेब के शासनकाल में भी मुगलों और अहोमों के बीच एक लंबा युद्ध छिड़ा। लड़ाई की शुरुआत उस समय हुई जब अहोमों ने गोहाटी तथा आसपास के क्षेत्रों से मुग़लों को निकाल कर सारे असम पर अपना प्रभाव जमाने की चेष्टा की। औरंगज़ेब ने मीर जुमला को बंगाल का प्रशासक नियुक्त किया था और वह कूच बिहार तथा सारे असम को मुग़ल साम्राज्य में मिलाकर अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ाना चाहता था। उसने सबसे पहले कूच बिहार पर, जो अब तक मुग़लों की शक्ति को चुनौती देता आया था, आक्रमण कर सारे राज्य को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया। इसके बाद उसने अहोमों के राज्य पर चढ़ाई की। एक शक्तिशाली नावों के बेड़े की मदद से मीर जुमला ने अहोमों की राजधानी, गढ़गांव, पर हमला कर दिया और उसे छः महीनों तक अपने क़ब्ज़े में रखा। इसके बाद वह अहोम राज्य घुसता चला गया और अन्त में बाध्य हो अहोम शासक को 1663 में एक अपमानजनक संधि करनी पड़ी। अहोम राजा को अपनी लड़की को मुग़ल हरम में भेजना पड़ा, युद्ध के लिए एक भारी जुर्माना देना पड़ा तथा प्रति वर्ष बीस हाथियों को कर के रूप में देना स्वीकार करना पड़ा। अब मुग़ल साम्राज्य की सीमा बार नदी से बढ़कर भराली नदी तक फैल गई।

अपनी इस शानदार विजय के शीघ्र ही बाद मीर जुमला का देहांत हो गया। असम में मुग़लों की विस्तार की नीति के लाभ के बारे में संदेह ही रहा क्योंकि यह क्षेत्र संपदा-संपन्न नहीं था और पहाड़ों में रहने वाले लड़ाकू क़बीलों का बराबर भय बना रहता था। अब यह भी स्पष्ट हो गया कि अहोमों की शक्ति पूर्णतया समाप्त नहीं हुई थी और संधि को लागू करना मुग़लों की शक्ति के बाहर था। 1667 में अहोमों ने पुनः संघर्ष जारी कर दिया। उन्होंने न केवल मुग़लों को समर्पित क्षेत्रों को वापिस ले लिया बल्कि गोहाटी पर भी क़ब्ज़ा कर लिया। कूच बिहार से मुग़लों को पहले ही निकाला जा चुका था। इस प्रकार मीर जुमला ने जो कुछ भी हासिल किया था वह सब मुग़लों के हाथों से जाता रहा। इसके बाद अहोमों के साथ एक लंबा संघर्ष आरंभ हुआ जो पंद्रह वर्षों तक चला। एक लंबी अवधि तक मुग़ल सेना का नेतृत्व आमेर के शासक राजा रामसिंह के हाथों में था लेकिन इस युद्ध के लिए उसके साधन बड़े सीमित थे। अंत में मुग़लों को गोहाटी से हाथ धोना पड़ा और उनकी सीमा इसके पश्चिम तक सीमित रह गई।

असम की घटनाओं से दूर-दराज़ के क्षेत्रों में मुग़लों के प्रभाव की सीमाएँ स्पष्ट हो गईं। इसके साथ-साथ अहोमों की कुशलता और दृढ़ता भी उभर कर सामने आई। अहोम मैदान में युद्ध करने की बजाय छापामार हमले करते थे। अन्य क्षेत्रों में भी मुग़लों के अन्य विरोधियों ने इसी युद्ध-नीति को अपना कर विजय प्राप्त की। जो भी हो, मुग़ल आक्रमण के धक्के और उसके बाद के

लंबे संघर्ष से अहोम राज्य की शक्ति क्षीण हो गई और उसका विघटन हो गया।

पूर्व में अन्य स्थानों में मुगलों को अधिक सफलता मिली। शिवाजी से पराजित होने के बाद शाइस्ताखाँ को बंगाल का प्रशासक नियुक्त किया गया था। यहाँ वह कुशल प्रशासक तथा सफल सेनाध्यक्ष सिद्ध हुआ। उसने मीर जुमला की विस्तारवादी नीति में परिवर्तन किया। सबसे पहले उसने कूच बिहार के शासक के साथ संधि की। इसके बाद उसने दक्षिण बंगाल की ओर ध्यान दिया जहाँ फ़िरंगी (पुर्तगाली) समुद्री डाकुओं के साथ मिलकर माघ (अराकानी) समुद्री डाकुओं ने अपने मुख्यालय चटगाँव से लेकर ढाका तक के क्षेत्र को त्रस्त कर रखा था। ढाका तक का सारा क्षेत्र उजाड़ हो गया था तथा व्यापार तथा उद्योग को भी काफ़ी नुक़सान पहुँचा था। शाइस्ताख़ाँ ने अराकानी डाकुओं का मुक़ाबला करने के लिए एक बेड़ा तैयार किया और चटगाँव पर हमला करने के लिए सोनदीप पर क़ब्ज़ा कर लिया। उसके बाद धन तथा और चीज़ों का लालच देखकर उसने फ़िरंगियों को अपने पक्ष में कर लिया। चटगांव के पास अराकानी नौसेना को ध्वंस कर शाइस्ताख़ाँ ने उनके कई जहाज़ों को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। इसके बाद उसने चटगाँव पर हमला कर 1666 में उस पर अपना अधिकार कर लिया। इसके साथ ही अराकानी नौसेना पूर्णतया नष्ट हो गई और समुद्र के रास्ते खुल कर व्यापार होने लगा। इस काल में बंगाल के विदेशी व्यापार में वृद्धि और पूर्वी बंगाल में कृषि के विस्तार में इस घटना का कम महत्व नहीं था।

उड़ीसा में पठानों का विद्रोह दबा दिया गया और बालासोर भी व्यापार के लिए खुल गया।

क्षेत्रीय स्वतंत्रता के लिए सार्वजनिक विद्रोह

जाट, अफ़ग़ान और सिक्ख

साम्राज्य के अंतर्गत औरंगज़ेब को कई कठिन राजनीतिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इनमें से दक्कन में मराठों, उत्तर भारत में जाट और राजपूतों तथा उत्तर-पश्चिम में अफ़ग़ान और सिक्खों के विद्रोह प्रमुख थे। इनमें से कुछ समस्याएँ नई नहीं थीं और औरंगज़ेब के पूर्वजों को भी उनका सामना करना पड़ा था। लेकिन फिर भी औरंगज़ेब के शासनकाल में उनका स्वरूप कुछ और था। राजपूतों के मामले में मूल समस्या उत्तराधिकार क मसले को लेकर थी। मराठों के मामले में समस्या स्थानीय स्वतंत्रता की थी। जाटों के विद्रोह के पीछे किसानों और भूमि से संबंधित सवाल थे। एकमात्र संघर्ष, जिसमें धार्मिक तत्व वर्तमान थे, वह सिक्खों का था। जाट और सिक्खों के संघर्ष का चर्मोत्कर्ष उनका स्वाधीन राज्य बनाने के प्रयास थे! अफ़ग़ानों का विद्रोह वैसे तो क़बीलाई विद्रोह था लेकिन यहाँ भी एक पृथक अफ़ग़ान राज्य के गठन की भावना काम कर रही थी। इस प्रकार क्षेत्रीय स्वाधीनता की भावना के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक तत्व इन विद्रोहों का स्वरूप निर्धारित करते रहे।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि अफ़ग़ान विद्रोह को छोड़कर ये सभी विद्रोह औरंगज़ेब की संकीर्ण धार्मिक नीतियों के विरुद्ध हिंदुओं की प्रतिक्रिया थी। ऐसे देश में, जहाँ की अधिकांश आबादी हिंदुओं की थी, ऐसा कोई भी विद्रोह, जो मोटे तौर पर मुसलमान केंद्रीय सरकार के ख़िलाफ़ था, को इस्लाम को चुनौती कहा जा सकता था। इसी प्रकार इन विद्रोहों के नेता भी अधिक लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए धार्मिक नारे लगाते थे। इसलिए इन संघर्षों के सही स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए हमें विशेष सावधानी बरतनी चाहिए।

जाट तथा सतनामी

मुग़ल सरकार के ख़िलाफ़ सबसे पहले विद्रोह यमुना नदी के दोनों किनारों पर आगरा-दिल्ली क्षेत्र में बसे जाटों ने किया। ये अधिकतर किसान थे। इनमें से कुछ ही ज़मींदार थे। अपने भाईचारे और न्याय की मज़बूत भावनाओं के बल पर जाटों ने कई बार सरकार का विरोध किया था और अपने क्षेत्र की कठिन धरातल का लाभ उठाया था। इसी प्रकार भूमि लगान के मसले को लेकर जाटों ने जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में भी विद्रोह किये थे। क्योंकि इसी क्षेत्र से ढाका और पश्चिमी समुद्री बंदरगाहों तक जाने वाली राजशाही सड़कें गुज़रती थीं, मुग़ल सरकार ने इन विद्रोहों को बड़ी गंभीरता से लिया था और इनके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की थी।

1669 ई० में मथुरा क्षेत्र के जाटों ने एक स्थानीय ज़मींदार गोकला के नेतृत्व में बग़ावत का झंडा खड़ा

किया। विद्रोह की आग इस क्षेत्र के किसानों में तेज़ी से फैलती गई और अंत में औरंगज़ेब ने स्वयं दिल्ली से जाकर उसे दबाने का निश्चय किया। यद्यपि विद्रोही जाटों की संख्या बढ़कर बीस हज़ार हो गई थी, औरंगज़ेब की सुसंगठित सेना के आगे उनकी एक न चली। एक भयंकर युद्ध में जाट बुरी तरह पराजित हुए और उनका नेता गोकला बंदी बनाकर मार दिया गया।

इस पराजय के बावजूद जाटों का विद्रोह पूरी तरह नहीं दबाया जा सका और असंतोष बना ही रहा। इसी बीच 1672 में किसानों और मुग़ल सरकार के बीच मथुरा के निकट नारनोल में एक और युद्ध हुआ। इस बार विद्रोह 'सतनामी' नामक एक धार्मिक संगठन ने किया था। सतनामी अधिकतर किसान, दस्तकार तथा नीची जाति के लोग थे जिन्हें एक समसामयिक लेखक ने "सुनार, तरखान, भंगी और अन्य नीच लोग" कहा है लेकिन वे न तो जात-पांत और न ही हिंदू-मुसलमान के भेद मानते थे और अपने आचार-विचार में भी वे कट्टर थे। इनके विद्रोह की शुरूआत एक स्थानीय सरकारी अधिकारी से झगड़े से आरंभ हुई पर बाद में इसी ने बड़े विद्रोह का रूप धारण कर लिया। एक बार फिर सम्राट को स्वयं जाकर विद्रोह को दबाना पड़ा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस संघर्ष में स्थानीय हिंदू ज़मींदारों ने, जिनमें से अधिकतर राजपूत थे, मुग़लों का साथ दिया।

1685 में राजाराम के नेतृत्व में जाटों ने दूसरी बार विद्रोह का झंडा खड़ा किया। इस बार जाट अधिक सुसंगठित थे और उन्होंने छापेमार हमलों के साथ-साथ लूट-मार की नीति अपनाई। औरंगज़ेब ने कछवाहा शासक राजा बिशनसिंह से विद्रोह को कुचल डालने का अनुरोध किया। बिशनसिंह को मथुरा का फ़ौजदार नियुक्त किया गया और यह सारा क्षेत्र ज़मींदारी के रूप में उसे दे दिया गया। यहाँ भूमि के अधिकतर मालिक जाट थे जो स्वयं खेती करते थे जबकि लगान इकट्ठा करने वाले बिचौलिए ज़मींदार अधिकतर राजपूत थे। इससे जाटों और राजपूतों के बीच ज़मींदारी अधिकारों को लेकर मामला और पेचीदा हो गया। जाटों ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबला किया लेकिन 1691 तक राजाराम और उसके उत्तराधिकारी चूड़ामन को हार माननी ही पड़ी। इसके बावजूद जाट किसानों के बीच विद्रोह की आग सुलगती रही और उनकी लूट-पाट से दिल्ली-आगरा सड़क यात्रियों के लिए असुरक्षित बनी रही। बाद में, अठारहवीं शताब्दी में मुग़लों के बीच आपसी संघर्ष और केन्द्रीय सरकार की कमज़ोरी का लाभ उठाकर चूड़ामन इस क्षेत्र में एक पृथक जाट राज्य क़ायम करने और राजपूत ज़मींदारों की शक्ति को समाप्त कर देने में सफल हो गया। इस प्रकार इस संघर्ष का, जो किसानों के विद्रोह के रूप में आरंभ हुआ था, स्वरूप बिल्कुल बदल गया और इसकी परिणति एक ऐसे राज्य की स्थापना में हुई जिसमें शासक वर्ग के लोग जाट थे।

अफ़ग़ान

औरंगज़ेब को अफ़ग़ानों से भी संघर्ष करना पड़ा। पंजाब और काबुल के बीच पहाड़ी क्षेत्रों में बसे वीर अफ़ग़ान क़बीलों से संघर्ष कोई नई बात नहीं थी। इनके विरुद्ध अकबर को भी संघर्ष करना पड़ा था और इन्हीं संघर्षों में उसके मित्र और विश्वासपात्र राजा बीरबल की जान गई थी। इन अफ़ग़ान क़बीलों के साथ शाहजहाँ को भी संघर्ष करना पड़ा था। ये संघर्ष कुछ अर्थों में आर्थिक और कुछ अर्थों में राजनीतिक और धार्मिक थे। इन बीहड़ पहाड़ी क्षेत्रों में आजीविका के साधनों की कमी के कारण अफ़ग़ानों के लिए कारवाँ को लूटने या फिर मुग़ल फ़ौज में भर्ती होने के अलावा और चारा भी नहीं था। अपने स्वातंत्र्य प्रेम से इनके मुग़ल सेना में बने रहने में कठिनाई होती थी। मुग़ल इनको अधिकतर इनके वेतन के अलावा अन्य सहायता देकर इन्हें खुश रखते थे लेकिन किसी महत्वाकांक्षी नेता के उभरने से इस संधि के टूटने का ख़तरा बराबर बना रहता था।

औरंगज़ेब के शासनकाल में हम पठानों के बीच विद्रोह की एक नई लहर देखते हैं। 1667 में युसुफ़ज़ई क़बीले के सरदार भागु ने एक प्राचीन शाही ख़ानदान का वंशज होने का दावा करने वाले एक व्यक्ति मुहम्मदशाह को राजा और स्वयं को उसके वज़ीर के रूप में घोषणा की। ऐसा लगता है कि जाटों की तरह अफ़ग़ानों में भी अपने एक पृथक राज्य की आकांक्षा ज़ोर पकड़ रही थी। इस संघर्ष को रोशनाई नामक एक धार्मिक आन्दोलन ने, जो एक विशेष पीर के प्रति भक्ति और नैतिक जीवन पर ज़ोर देता था, एक बौद्धिक और नैतिक पृष्ठभूमि प्रदान की।

भागु द्वारा शुरू किया गया आंदोलन धीरे-धीरे जोर पकड़ता गया यहाँ तक कि उसके अनुयाइयों ने हज़ारा, अटक तथा पेशावर में लूटमार आरंभ कर दी और खैबर में यातायात ठप्प पड़ गया। इस विद्रोह को दबाने और खैबर के मार्ग को सुरक्षित बनाने का काम औरंगज़ेब ने अपने प्रमुख बख्शी अमीरखाँ को सौंपा और उसकी मदद के लिए राजपूत सिपाहियों के एक दल को गठित किया। कई भयंकर लड़ाइयों के बाद अफ़ग़ानों के विद्रोह को दबा दिया गया और वहाँ की देखरेख के लिए 1671 में मारवाड़ के शासक जसवंतसिंह को जमरूद का थानेदार नियुक्त किया गया।

1672 में एक बार फिर अफ़ग़ान विद्रोह पर उतर आए। इस बार उनका नेता अफ़रीदी सरदार अकमलखाँ था जिसने स्वयं को राजा घोषित कर दिया और अपने नाम पर खुतबा पढ़वाया और सिक्का चलाया। उसने मुग़लों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और सभी अफ़ग़ानों को अपने दल में मिल जाने के लिए आह्वान किया। एक समसामयिक लेखक के अनुसार उसके अनुयायी चींटियों और टिड्डियों से भी अधिक थे। उन्होंने खैबर दर्रे के मार्ग को बंद कर दिया। रास्ते को साफ़ करने अमीनखाँ बहुत दूर तक आगे बढ़ गया और एक तंग घाटी में उसे करारी हार का सामना करना पड़ा। अमीनखाँ भाग कर अपनी जान बचाने में सफल हो गया पर उसके दस हज़ार सिपाही युद्ध में काम आए और अफ़ग़ानों ने दो करोड़ की संपत्ति लूट ली। इस पराजय के बाद अन्य क़बीले भी विद्रोहियों के दल में मिल गए। इनमें खुशहालखाँ खट्टक भी था जो औरंगज़ेब के हाथों क़ैद किया गया था और अब उसका कट्टर दुश्मन बन गया था।

1674 में एक और मुग़ल सरदार शुजातखाँ को खैबर में भारी हानि उठानी पड़ी। वह जसवंतसिंह द्वारा भेजे गए राठौड़ वीरों के एक दल की सहायता से ही बच सका। अंत में 1674 के मध्य में औरंगज़ेब स्वयं पेशावर गया और उसी क्षेत्र में 1675 के अंत तक रहा। धीरे-धीरे बल प्रयोग और कूटनीति से अफ़ग़ानों की एकता को तोड़ा गया और इस क्षेत्र में शांति स्थापित हुई।

अफ़ग़ानों के विद्रोह से स्पष्ट हो जाता है कि मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोह तथा प्रांतीय स्वतंत्रता की भावना हिंदुओं तक ही सीमित नहीं थी। अफ़ग़ानों के विद्रोह से उत्पन्न कठिन परिस्थिति के कारण शिवाजी पर मुग़लों का दबाव कम हो गया और इसके कारण 1676 तक, जब शिवाजी स्वयं सिंहासन पर बैठ चुका था और गोलकुंडा तथा बीजापुर से संधि कर चुके थे, दक्कन में मुगलों की विस्तार की नीति असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गई थी।

सिक्ख

औरंगज़ेब के विरुद्ध सैनिक बग़ावत करने वालों में सिक्ख सबसे अंतिम थे। जैसा कि हम देख चुके हैं, सिक्ख गुरुओं के साथ जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में भी संघर्ष हुआ था लेकिन इन संघर्षों के कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक और व्यक्तिगत थे। गुरुओं ने शान-शौकत से रहना आरंभ कर दिया था और अपनी सेना भी खड़ी कर ली थी। इसके अलावा उन्होंने "सच्चा पादशाह" की पदवी ग्रहण कर ली थी। इसके बावजूद औरंगज़ेब और सिक्ख गुरुओं में 1675 तक कोई संघर्ष नहीं हुआ जब गुरु तेग़बहादुर को उनके पाँच अनुयाइयों के साथ पकड़ लिया गया और दिल्ली लाकर मार डाला गया। इस घटना के कारण स्पष्ट नहीं हैं। कुछ फ़ारसी वृत्तान्तों के अनुसार गुरु तेग़बहादुर ने एक पठान हाफ़िज़ अदम के साथ मिलकर पंजाब में अशांति फैला दी थी। सिक्ख परंपरा के अनुसार गुरु तेग़बहादुर के कुछ अपने परिवार वालों ने उनके उत्तराधिकार को चुनौती दी और बहुत से लोगों ने इनका साथ दिया। इनके अनुसार गुरु तेग़बहादुर के क़त्ल का कारण उनका ही षड्यंत्र था। यह भी कहा जाता है कि औरंगज़ेब गुरु तेग़बहादुर से इसलिए नाराज़ था क्योंकि उन्होंने कुछ मुसलमानों को सिक्ख बना लिया था और कश्मीर में प्रान्तीय प्रशासक द्वारा धार्मिक अत्याचार का विरोध किया था। इन सब आरोपों में से सत्य का अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। सिक्ख धर्म जाट किसानों तथा नीची जाति के दस्तकारों के बीच बहुत लोकप्रिय हो गया था, जो इसके सीधे सादे और धर्म निरपेक्षता के सिद्धांतों से प्रभावित थे। हो सकता है कि गुरु तेग़बहादुर ने इन वर्गों की आर्थिक दयनीयता के विरोध में आवाज़ उठाई हो। कश्मीर के पुराने प्रशासक सैफ़खाँ को पुलों के निर्माणकर्त्ता के रूप में याद किया जाता है। वह उदार प्रकृति का तथा

बड़े मानवीय दृष्टिकोण का व्यक्ति था और अपने प्रशासनिक कार्यों में सलाह के लिए उसने एक हिन्दू की नियुक्ति की थी। नए प्रशासक[1] द्वारा धर्म के नाम पर बड़े पैमाने पर अत्याचार की कहानियों में अतिशयोक्ति लगती है विशेषकर इसलिए कि पन्द्रहवीं शताब्दी से ही कश्मीर की आबादी अधिकतर मुसलमानों की ही थी।

कारण जो भी हों, औरंगज़ेब के कार्यों को किसी प्रकार भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। उसका दृष्टिकोण बड़ा ही संकीर्ण रहा। गुरु तेग़बहादुर के क़त्ल से सिक्ख फिर पंजाब के पहाड़ों में लौटने पर बाध्य हो गए। इस कारण सिक्ख आंदोलन धीरे-धीरे सैनिक रूप अपनाता गया। इस दिशा में गुरु गोविन्द सिंह का योगदान महत्वपूर्ण था। उन्होंने संगठन खड़ा करने में बड़ी योग्यता दिखाई और 1699 में ख़ालसा का गठन किया। इसके पहले गुरु गोविन्द सिंह ने पंजाब के पहाड़ों की तराई में मखोवल अथवा आनन्दपुर में अपना मुख्यालय स्थापित किया। पहले तो स्थानीय हिन्दू राजाओं ने आपसी झगड़ों में गुरु गोविन्द सिंह की मदद से लाभ उठाना चाहा पर शीघ्र ही गुरु गोविन्द सिंह स्वयं शक्तिशाली हो गए और उनके तथा पहाड़ी प्रदेशों के राजाओं के बीच कई लड़ाइयाँ हुईं पर अंत में विजय गुरु की ही हुई। इन लड़ाइयों में ख़ालसा के संगठन से गुरु के हाथ बहुत मज़बूत हो गए थे। गुरु और इन राजाओं के बीच झगड़ा 1704 में ही बढ़ा जब कई राजाओं ने मिलकर अनन्तपुर में गुरु गोविन्द सिंह पर हमला कर दिया। राजाओं को फिर मुंह की खानी पड़ी और उन्होंने गुरु के विरुद्ध मुग़ल सरकार से मदद माँगी।

इसके बाद इसलिए जो युद्ध हुआ वह धार्मिक युद्ध नहीं था। इसका एक कारण तो पहाड़ी क्षेत्र के राजाओं तथा सिक्खों के बीच आपसी प्रतिद्वन्द्विता थी और इसके अलावा सिक्ख आन्दोलन का अपना स्वरूप भी था। औरंगज़ेब गुरु की बढ़ती शक्ति से चिंतित था और उसने पहले ही मुग़ल फ़ौजदार को गुरु को चेतावनी देने को कहा था। अब उसने लाहौर के प्रशासक तथा सरहिंद के फ़ौजदार वज़ीरख़ाँ को गुरु गोविन्द सिंह के ख़िलाफ़ पहाड़ी राजाओं को मदद करने के लिए कहा। मुग़ल फ़ौजों ने अनंतपुर पर हमला किया लेकिन सिक्ख बड़ी बहादुरी से लड़े और उनके सारे हमलों को नाकाम कर दिया। इसके बाद मुग़लों तथा उनके मित्रों ने सिक्खों के क़िले पर घेरा डाल दिया। जब क़िले के अन्दर भुखमरी की हालत हो गयी तब वज़ीरख़ाँ द्वारा सुरक्षा का आश्वासन देने पर गुरु गोविन्द सिंह को क़िले के दरवाज़े खोलने पड़े। वज़ीरख़ाँ के आश्वासन के बावजूद जब सिक्खों की सेना बाढ़भरी नदी को पार कर रही थी, तब वज़ीरख़ाँ के सैनिकों ने अचानक उस पर हमला कर दिया। इस हमले में गुरु के दोनों पुत्र बंदी बना लिए गए और जब उन्होंने इस्लाम को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तब सरहिन्द में उनका क़त्ल कर दिया गया। गुरु के बाक़ी दोनों बेटे भी एक और लड़ाई में काम आए। इसके बाद गुरु गोविन्द सिंह तलवंडी चले गए जहाँ उन्हें और परेशान नहीं किया गया।

इस बात में सन्देह है कि वज़ीरख़ाँ ने औरंगज़ेब के कहने पर गुरु के बेटों का क़त्ल किया था। ऐसा लगता है कि औरंगज़ेब गुरु को पूरी तरह नष्ट करने का इच्छुक नहीं था और उसने लाहौर के प्रशासक से गुरु से संधि कर लेने के लिए भी कहा था। जब गुरु गोविन्द सिंह ने दक्कन में औरंगज़ेब को लिख कर घटनाओं की सूचना दी तब औरंगज़ेब ने उन्हें मिलने के लिए आमंत्रित किया। 1706 के अन्त में गुरु औरंगज़ेब से मिलने के लिए दक्कन के लिए चले भी पर वे रास्ते में ही थे कि औरंगज़ेब की मृत्यु हो गयी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि गुरु गोविन्द सिंह को आशा थी कि वह औरंगज़ेब को आनंदपुर लौटाने के लिए मनाने में सफल हो जाएँगे।

यद्यपि गुरु गोविन्द सिंह मुग़ल शक्ति का बहुत अधिक समय तक सामना नहीं कर सके, और न ही एक पृथक सिक्ख राज्य की स्थापना कर सके, तथापि उन्होंने एक परम्परा की स्थापना की और एक ऐसे शस्त्र का निर्माण

---

[1] सिक्ख परम्परा के अनुसार इसका नाम शेर अफ़ग़ान था लेकिन औरंगज़ेब नीतिस्वरूप किसी अफ़ग़ान को प्रान्तीय प्रशासक नियुक्त नहीं करता था। 1671 के बाद इफ़्तेख़ार ख़ाँ प्रशासक था। सिक्ख वृत्तांत बाद में लिखे गए थे इसलिए हो सकता है कि नामों के मामले में ग़लत हों।

किया जिससे मुग़लों से बाद में बदला लिया जा सके। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि किस प्रकार कुछ विशेष परिस्थितियों में एक धार्मिक आन्दोलन को राजनीतिक आन्दोलन में बदला जा सकता है और उसका क्षेत्रीय स्वतन्त्रता के लिए उपयोग किया जा सकता है।

राजपूतों के साथ सम्बन्ध—मारवाड़ तथा मेवाड़ के साथ संघर्ष

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार 1613 में जहाँगीर ने मेवाड़ के साथ एक लम्बे संघर्ष को सुलझा लिया था। जहाँगीर ने प्रमुख राजपूत राजाओं को अपने पक्ष में रखने और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की अकबर की नीति को जारी रखा। शाहजहाँ ने भी राजपूतों के साथ मैत्री बनाई रखी। उसके शासनकाल में राजपूतों ने दक्कन, मध्य एशिया में बल्ख़ तथा क़ंधार जैसे दूर-दराज़ क्षेत्रों में बड़ी बहादुरी से लड़ाइयों में हिस्सा लिया। इसके बावजूद किसी भी राजपूत राजा को किसी प्रांत का प्रशासक नहीं नियुक्त किया गया, और न ही प्रमुख राजपूत राजाओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए गए यद्यपि शाहजहाँ स्वयं एक राठौर राजकुमारी का पुत्र था[1]। ऐसा लगता है कि राजपूतों के साथ अच्छे मैत्री सम्बन्ध स्थापित होने के बाद वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित करना अब और आवश्यक नहीं समझा गया। लेकिन शाहजहाँ ने जोधपुर तथा आमेर के दो राजपूत राजघरानों को उच्च सम्मान दिया।

औरंगज़ेब भी राजपूतों के साथ मैत्री को बहुत महत्व देता था। उसने मेवाड़ के महाराणा के समर्थन को प्राप्त करने की चेष्टा की और उसका मनसब 5000 से बढ़ाकर 6000 कर दिया। यद्यपि राजा जसवन्तसिंह धर्मट में औरंगज़ेब का साथ छोड़ शुजा के पक्ष में चला गया था और उसने औरंगज़ेब के ही खिलाफ़ युद्ध में भाग लिया तथा दारा को अपने राज्य में आने का निमंत्रण भी दिया था, इसके बावजूद औरंगज़ेब ने उसे क्षमा कर उसका मनसब लौटा दिया और उसे गुजरात का प्रशासक तक नियुक्त किया। जयसिंह 1667 में अपनी मृत्यु तक औरंगज़ेब का मित्र और विश्वासपात्र बना रहा।

जसवंतसिंह, जिसे उत्तर-पश्चिम में अफ़ग़ानों की गतिविधियों की देखरेख के लिए नियुक्त किया गया था, की मृत्यु 1678 के अन्त में हो गयी। महाराजा का कोई लड़का नहीं था, इसलिए गद्दी के उत्तराधिकार की समस्या तत्काल उठ खड़ी हुई। मुग़लों की एक पुरानी परम्परा के अनुसार उस राज्य पर, जिसमें उत्तराधिकार की समस्या हो, क़ानून और व्यवस्था की स्थापना के लिए मुग़ल प्रशासन (ख़ालिसा) का अधिकार हो जाता था और बाद में उसे चुने हुए उत्तराधिकारी को सौंप दिया जाता था। इस प्रकार 1650 में जब जैसलमेर में उत्तराधिकार के बारे में विवाद छिड़ा, शाहजहाँ ने उसे ख़ालिसा के अन्तर्गत ले लिया और बाद में जसवन्तसिंह के नेतृत्व में एक सेना भेजकर स्वयं द्वारा मनोनीत उम्मीदवार को गद्दी पर बैठाया। मारवाड़ को ख़ालिसा के अन्तर्गत लाने का एक और भी कारण था। अधिकतर मुग़ल सरदारों की तरह राजा जसवन्तसिंह पर भी राज्य का बहुत बड़ा कर्ज़ था जो उसे वापस देना था। इसके अलावा कई राजपूत जसवन्तसिंह से नाराज़ थे और कईयों के क्षेत्र सम्राट ने जसवन्तसिंह को जागीर के रूप में प्रदान किए थे वे सभी जोधपुर की खाली गद्दी का लाभ उठा कर गड़बड़ी फैलाना चाहते थे।

औरंगज़ेब को राठौरों के विरोध की आशंका थी और इसलिए उसने जसवंतसिंह के परिवार तथा समर्थकों की देखरेख के लिए मारवाड़ के दो परगनों को दे दिया था और यह देखने के लिए कि उसकी आज्ञा का पालन हो, उसने अजमेर में एक बड़ी शक्तिशाली सेना भी भेजी। जसवन्तसिंह की पटरानी रानी हादी जोधपुर को राठौरों का वतन मानती थी और इस कारण उसे मुग़लों की

[1] परम्परा के अनुसार जहाँगीर की माँ को जोधाबाई के नाम से जाना जाता है लेकिन हमें एक ही राठौर राजकुमारी के विवाह का हवाला मिलता है और यह 1585 में मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री और सलीम (जहाँगीर) के बीच हुआ था। जहाँगीर की माँ शायद कछवाह राजकुमारी थी।

नहीं सौंपना चाहती थी पर मुग़ल सेना के आगे उसे हार माननी पड़ी। इसके बाद जसवन्तसिंह के ख़ज़ाने की खोज शुरू हुई और सारे मारवाड़ में मुग़ल अधिकारियों को नियुक्त कर दिया गया और उन्हें आज्ञा दी गयी कि वे "नये" मन्दिरों को या तो गिरा दें या फिर उन्हें बन्द कर दें।

इस प्रकार मुग़लों ने मारवाड़ के साथ दुश्मन तथा विजयी का व्यवहार किया और इसे शायद किसी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता। इसके बावजूद यह भी कहना पड़ेगा कि औरंगज़ेब मारवाड़ पर अपना अधिकार बनाए रखना नहीं चाहता था, यद्यपि कुछ इतिहासकार जोधपुर के सामरिक महत्व तथा दिल्ली और गुजरात के बन्दरगाहों से उसके सामीप्य के कारण ऐसी धारणा रखते हैं। जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद लाहौर में उसकी दो रानियों के दो पुत्र हुए। गद्दी पर उनके अधिकार को आगे रखा गया, लेकिन उनके दिल्ली पहुँचने से पहले ही औरंगज़ेब ने जोधपुर की टीका का अधिकार 36 लाख रुपये के एवज़ में जसवन्तसिंह के बड़े भाई अमरसिंह के पोते इन्द्रसिंह को देने का निश्चय कर लिया। शायद औरंगज़ेब इस बात से प्रभावित हुआ था कि शाहजहाँ ने अमरसिंह के छोटे भाई जसवन्तसिंह को टीका का अधिकार देकर अमरसिंह के अधिकारों की अनदेखी कर उसके साथ अन्याय किया था। यह भी हो सकता है कि औरंगज़ेब मारवाड़ में किसी नाबालिग़ का प्रशासन नहीं चाहता था।

कुछ आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार औरंगज़ेब जोधपुर का प्रशासन जसवंतसिंह के पुत्र अजीतसिंह के हाथों सौंपने को तैयार था बशर्ते कि अजीतसिंह इस्लाम अपना ले—लेकिन समसामयिक सूत्रों में इस बात का कोई हवाला नहीं मिलता। उस समय की राजस्थानी कृति **हुकूमत-री-बही** के अनुसार अजीतसिंह जब आगरा के राजदरबार में आया तब औरंगज़ेब उसे एक मनसब देने को तैयार हो गया और यह भी कहा कि मारवाड़ के दो परगनों, सोजत और जैतारण, उसकी जागीर बने रहेंगे। इस प्रकार औरंगज़ेब मारवाड़ के परिवार की दो शाखाओं के बीच विभाजन करने की सोच रहा था।

औरंगज़ेब का यह सुझाव राज्य के हित में होता लेकिन दुर्गादास के नेतृत्व में राठौर सरदारों ने इसे ठुकरा दिया। सरदारों द्वारा अपने सुझाव की अस्वीकृति से नाराज़ होकर औरंगज़ेब ने राजकुमारों तथा उनकी माताओं को नूरगढ़ के क़िले में क़ैद करने की आज्ञा दी। इससे राजपूत सरदारों के बीच चिंता फैल गई और वे अजीतसिंह के साथ आगरा के क़िले से भागने में सफल हो गए। बाद में उन्होंने अजीतसिंह को जोधपुर के सिंहासन पर बैठाया और राज्य में बड़ी खुशियाँ मनाई गईं।

उचित होता कि औरंगज़ेब इस बात को स्वीकार कर लेता कि इंद्रसिंह को राठौरों का समर्थन प्राप्त नहीं है। उसने इन्द्रसिंह को उसकी अयोग्यता के लिए हटा तो दिया लेकिन अजीतसिंह को अवैधानिक शासक बता कर उसके प्रति बड़ा कड़ा रुख अपना लिया। उसने अपने साम्राज्य के सभी हिस्सों से सैनिकों को बुलाकर एक बड़ी सेना का गठन किया और अजमेर पर चढ़ाई करने के लिए निकल पड़ा। राठौर औरंगज़ेब की इस सेना का मुक़ाबला नहीं कर सके और जोधपुर पर मुग़लों का क़ब्ज़ा हो गया। दुर्गादास अजीतसिंह के साथ भागकर मेवाड़ पहुँचा जहाँ राणा ने उन्हें किसी गुप्त स्थान में भेज दिया।

इस समय मेवाड़ ने अजीतसिंह का साथ दिया। राणा राजसिंह पहले औरंगज़ेब का समर्थक था लेकिन धीरे-धीरे वह उससे दूर होता गया था। रानी हादी के दावे के समर्थन में उसने 5,000 सैनिकों की एक सेना जोधपुर भेजी। वह नहीं चाहता था कि उत्तराधिकार जैसे मामलों में राजपूतों की आन्तरिक समस्याओं में मुग़लों का किसी प्रकार का हस्तक्षेप हो। इसके अलावा वह इस बात से भी नाराज़ था कि मुग़लों ने उसके राज्य से डूंगरपुर और बांसवाड़ा जैसे दक्षिण और पश्चिम में पड़ने वाले राज्यों को मेवाड़ से अलग करना चाहा था और उनके राजाओं को स्वतंत्र राजाओं का रूप देना चाहा था जबकि इन राज्यों के शासक मेवाड़ को कर देते थे। लेकिन तात्कालिक कारण यही था कि राणा राजसिंह मारवाड़ पर मुग़ल अधिकार तथा औरंगज़ेब द्वारा अजीतसिंह के दावे को ठुकराये जाने से नाराज़ था।

पहला हमला औरंगज़ेब ने किया। 1679 के नवंबर में उसने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। मुग़लों का एक शक्तिशाली दल उदयपुर पहुँच गया और उसने राणा के खेमे

पर भी चढ़ाई कर दी जबकि राणा पहाड़ियों में जाकर छुप गया था। राणा ने वहाँ से मुग़लों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखा। लेकिन संघर्ष में जल्दी ही गतिरोध पैदा हो गया। मुग़ल न तो पहाड़ियों में जा सकते थे और न ही राजपूतों के छापामार हमलों का मुक़ाबला कर सकते थे। इसी बीच औरंगज़ेब के सबसे बड़े पुत्र राजकुमार अकबर ने स्थिति का फ़ायदा उठाकर अपने पिता के विरुद्ध अभियान छेड़ दिया। राठौर सरदार दुर्गादास के साथ मिलकर उसने अजमेर पर (जनवरी, 1681 में) हमला कर दिया। औरंगज़ेब इस समय निस्सहाय सा था क्योंकि उसके सभी योग्य सैनिक कहीं और लड़ रहे थे। इसके बावजूद राजकुमार अकबर ने अपने अभियान में देर कर दी और औरंगज़ेब झूठी चिट्ठियाँ भेज कर उसके सरदारों के बीच फूट डालने में सफल हो गया। अकबर को महाराष्ट्र की ओर भागना पड़ा और औरंगज़ेब ने चैन की साँस ली।

मेवाड़ का अभियान औरंगज़ेब के लिए अब इतना महत्वपूर्ण नहीं रह गया। उसने राणा राजसिंह के पुत्र राणा जगतसिंह, जो राजसिंह का उत्तराधिकारी था, के साथ संधि कर ली। नए राणा को जज़िया के बदले अपने कुछ परगनों को देना पड़ा और निष्ठा तथा इस वचन के बदले में कि वह अजीतसिंह का साथ नहीं देगा, उसे 5000 का मनसब प्रदान किया गया। अजीतसिंह के मामले में औरंगज़ेब ने इस बात का आश्वासन दिया कि जब वह वयस्क हो जायेगा तो उसे मनसब तथा राज्य वापस दे दिया जायेगा।

इस संधि तथा अजीतसिंह को दिये गये वचन से राजपूत संतुष्ट नहीं हुए। मुग़लों ने मारवाड़ पर अपना नियन्त्रण बनाए रखा और 1698 तक छिटपुट युद्ध होते रहे। अंत में अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक मान लिया गया। इसके बावजूद मुग़लों ने जोधपुर पर अपना नियन्त्रण ढीला नहीं किया। मुग़लों को अपने परगने देने के कारण मेवाड़ का राणा भी असन्तुष्ट बना रहा और जब तक 1707 में औरंगज़ेब की मृत्यु नहीं हो गई, इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

मारवाड़ तथा मेवाड़ की औरंगज़ेब की नीति बराबर ग़लतियों की रही और इससे मुग़लों को किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचा। इसके अलावा इस क्षेत्र में मुग़लों की असफलता से उनके सैनिक सम्मान को भी धक्का पहुँचा। यह सही है कि 1681 के बाद मारवाड़ के युद्धों में मुग़लों की तरफ़ से छोटी-छोटी सेनाएँ ही लड़ीं और इनका कोई विशेष सामरिक महत्व भी नहीं था। यह भी सही है कि हाड़ा तथा कछवाहा जैसे कई राजपूत सरदार मुग़लों की सेवा में बने रहे लेकिन औरंगज़ेब की मारवाड़ नीति का अनुमान केवल इससे नहीं लगाया जाना चाहिए। मारवाड़ तथा मेवाड़ से संघर्ष के कारण एक बहुत महत्वपूर्ण समय में मुग़लों के राजपूतों के साथ संबंध कमज़ोर पड़ गये। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इससे अपने पुराने और विश्वसनीय मित्रों के प्रति मुग़लों के समर्थन में संदेह उत्पन्न हो गया। यद्यपि इस नीति से औरंगज़ेब की कट्टरता और उसकी ज़िद का पता चलता है तथापि, जैसा कि आरोप लगाया जाता है, ऐसा नहीं लगता कि औरंगज़ेब हिन्दुओं का नाश देखना चाहता था क्योंकि 1697 के बाद बड़ी संख्या में मराठों को राजदरबार में स्थान दिया गया जिससे हिन्दू सरदारों की संख्या बढ़कर 33 प्रतिशत हो गई जबकि शाहजहाँ के शासनकाल में यह 24.9 प्रतिशत थी।

यद्यपि उत्तर पूर्व में जाटों, अफ़ग़ानों तथा राजपूतों के साथ संघर्ष के कारण साम्राज्य की शक्ति क्षीण हुई तथापि असली संघर्ष का क्षेत्र कहीं और—दक्कन में—था।

प्रश्न-अभ्यास

1. उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनके फलस्वरूप औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा।
2. औरंगज़ेब के धार्मिक विचारों का विवेचन कीजिए। राज्य की नीति पर उनका किन बातों में प्रभाव पड़ा?

3. जज़िया से क्या अभिप्राय है ? उन बातों का विवेचन कीजिए जिनके कारण औरंगज़ेब ने इसको फिर से लागू किया।
4. औरंगज़ेब के शासनकाल में मुग़ल साम्राज्य के ख़िलाफ़ हुए जाटों और अफ़ग़ानों के विद्रोहों के कारणों का विवेचन कीजिए।
5. औरंगज़ेब के काल में मुग़ल राज्य और सिक्खों के आपसी संबंधों का विवेचन कीजिए। इस काल में सिक्ख आंदोलन में क्या परिवर्तन हुए ?
6. औरंगज़ेब के शासनकाल में मुग़लों और राजपूतों के आपसी संबंधों के इतिहास की व्याख्या कीजिए। क्या इस काल में मुग़लों की नीति में कोई बुनियादी परिवर्तन हुए ? विवेचन कीजिए।

मुग़ल साम्राज्य का चर्मोत्कर्ष तथा उसका विघटन—II

मराठों का उदय

हम देख चुके हैं कि जब मुग़ल दक्कन की ओर बढ़ रहे थे, तब अहमदनगर तथा बीजापुर में मराठे प्रशासन तथा सैनिक सेवाओं में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त थे तथा राज्य के काम काज में उनका प्रभाव और उनकी शक्ति बढ़ती जा रही थी।

दक्कन के सुल्तानों तथा मुग़लों, दोनों ने, मराठों का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा की। मलिक अम्बर ने अपनी सेना में बड़ी संख्या में मराठों की भर्ती की। यद्यपि मोरे, घटगे तथा निंबालकर जैसे कुछ प्रभावशाली मराठा परिवारों ने कुछ क्षेत्रों में प्रभाव क़ायम कर लिया था तथापि मराठे राजपूतों की तरह बड़े तथा सुसंगठित राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हुए थे। साम्राज्य की स्थापना का श्रेय शाहजी भोंसले तथा उनके लड़के शिवाजी को है। जैसा कि हम देख चुके हैं कुछ समय तक शाहजी ने मुग़लों को चुनौती दी। अहमदनगर में उसका इतना प्रभाव था कि शासकों की नियुक्ति में भी उनका हाथ होता था। लेकिन 1636 की संधि के अंतर्गत शाहजी को उन क्षेत्रों को छोड़ना पड़ा जिन पर उसका प्रभाव था। उसने बीजापुर के शासक की सेवा में प्रवेश किया और अपना ध्यान कर्नाटक की ओर लगाया। उस समय की अशांत स्थिति का लाभ उठाकर शाहजी ने बंगलौर में अर्द्ध-स्वायत्त राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। इसके पहले गोलकुंडा का एक प्रमुख सरदार मीर जुमला कोरोमंडल तट के एक क्षेत्र पर अपना अधिकार क़ायम करने में सफल हो गया था। इसके अलावा कुछ अबीसीनियाई सरदार पश्चिम तट पर अपना शासन क़ायम करने में सफल हो गये थे। पूना के आस पास के क्षेत्रों में अपना शासन स्थापित करने के शिवाजी के प्रयासों की यही पृष्ठभूमि थी।

शिवाजी का प्रारंभिक जीवन

शाहजी पूना की जागीर अपनी उपेक्षित पटरानी जीजाबाई तथा छोटे लड़के शिवाजी को सौंपकर चला गया था। 1645 तथा 1647 के बीच अठारह वर्ष की आयु में पूना के निकट राजगढ़, कोंडण तथा तोरणा के क़िलों पर क़ब्ज़ा करके शिवाजी ने अपनी बहादुरी का प्रमाण दिया था। 1647 में अपने अभिभावक दादाजी कोंणदेव की मृत्यु के बाद शिवाजी पूरी तरह आज़ाद हो गया था और अपने पिता की सारी जागीर उसके नियंत्रण में आ गई थी।

शिवाजी ने अपना असली विजय अभियान 1656 में आरम्भ किया जब उसने मराठा सरदार चंद्रराव मोरे से जावली छीन लिया। जावली का राज्य तथा वहाँ मोरों का खज़ाना बहुत महत्वपूर्ण था और शिवाजी ने इस पर षड़यंत्र रचकर क़ब्ज़ा किया। जावली की विजय से वह

मावल क्षेत्र का शासक हो गया और सतारा तथा कोंकण तक का रास्ता उसके लिए साफ हो गया। मावल के पैदल सैनिक शिवाजी की सेना के प्रमुख अंग बन गये। उनकी सहायता से शिवाजी ने पूना के निकट और भी कई पहाड़ी क़िलों को जीतकर अपनी स्थिति खूब मज़बूत कर ली।

1657 में बीजापुर पर मुग़लों के आक्रमणों के कारण शिवाजी बीजापुर के जवाबी हमले से बच गया। उसने औरंगज़ेब के साथ पहले बातचीत का तरीक़ा अपनाया तथा औरंगज़ेब से उन सभी बीजापुरी क्षेत्रों, जो उसके अधिकार में थे, के अलावा कोंकण में दभौल बंदरगाह तथा अन्य क्षेत्रों की माँग की। लेकिन इसके बाद शिवाजी ने अपना रुख़ बदल लिया और मुग़ल क्षेत्रों पर ही आक्रमण कर बड़ी मात्रा में धन लूटा। जब औरंगज़ेब का बीजापुर के नये शासक के साथ समझौता हो गया तब उसने शिवाजी को भी क्षमा कर दिया। लेकिन औरंगज़ेब को अभी भी शिवाजी पर भरोसा नहीं था और उसने बीजापुर के शासक को सलाह दी कि वह शिवाजी को उन सभी बीजापुरी क्षेत्रों से निकाल दे जिन पर शिवाजी ने क़ब्ज़ा कर रखा था। औरंगज़ेब ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि बीजापुर का शासक शिवाजी को अपनी सेवा में रखना चाहे भी तो उसे मुग़ल सीमा के पार कर्नाटक में रखे।

औरंगज़ेब जैसे ही उत्तर में लौटा, शिवाजी ने एक बार फिर बीजापुर के क्षेत्रों के ही विरुद्ध अभियान आरम्भ कर दिया। उसने कोंकण के पहाड़ तथा समुद्र के बीच के तटीय क्षेत्र पर हमला किया तथा उत्तरी भाग पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया। उसने कई अन्य पहाड़ी क़िले भी जीते। बीजापुर के शासक ने शिवाजी के खिलाफ़ अब कड़ी कार्रवाई करने की सोची। उसने बीजापुर के प्रमुख सरदार अफ़ज़ल खाँ को दस हज़ार सैनिकों के साथ शिवाजी के खिलाफ़ भेजा। अफ़ज़लखाँ को आदेश था कि वह किसी भी तरीक़े से शिवाजी को बंदी बना ले। उन दिनों षड्यंत्र तथा धोखाधड़ी आम बात थी और अफ़ज़ल खाँ तथा शिवाजी, दोनों ने कई अवसरों पर ऐसे तरीक़े अपनाये थे। शिवाजी की सेना खुले मैदान में युद्ध करने की आदी नहीं थी और वह इस शक्तिशाली सेना से खुले मैदान में लड़ाई करने से हिचकिचा रही थी। अफ़ज़लखाँ ने शिवाजी को व्यक्तिगत भेंट के लिए एक संदेश भेजा और इस बात का वायदा किया कि वह बीजापुर दरबार से उसे क्षमा दिलवा देगा। शिवाजी को विश्वास था कि यह धोखा है। वह उस भेंट के लिए पूरी तरह तैयार होकर गया और चालाकी तथा साहस से खान की हत्या कर डाली (1659)। इसके बाद शिवाजी ने उसकी नेतृत्वहीन सेना को तितर बितर कर दिया तथा सारे साज़ोसामान और तोपखाने पर क़ब्ज़ा कर लिया। इस विजय से मराठा सेना की हिम्मत बढ़ गई और उसने पन्हाला के मज़बूत क़िले पर भी क़ब्ज़ा कर लिया तथा दक्षिण कोंकण और कोल्हापुर के ज़िलों में कई क्षेत्रों पर विजय प्राप्त की।

अपने अभियानों के कारण शिवाजी का नाम घर-घर में फैल गया और लोग उसकी जादुई शक्तियों के बारे में चर्चा करने लगे थे। मराठा क्षेत्रों से बड़ी संख्या में लोग उसकी सेना में भर्ती होने के लिए आने लगे। यहाँ तक कि पेशेवर अफ़ग़ान सैनिक, जो पहले बीजापुर की सेवा में थे वे भी शिवाजी की सेना में भर्ती हो गये। उधर मुग़ल सीमा के इतने नज़दीक मराठों की शक्ति को बढ़ता देख औरंगज़ेब चिंतित था। 1636 की संधि के अंतर्गत पूना तथा आसपास के क्षेत्रों, जो पहले अहमदनगर राज्य का हिस्से थे, को बीजापुर को दे दिया गया था। अब मुग़लों ने इन क्षेत्रों पर अपना दावा किया। औरंगज़ेब ने दक्कन के नये मुग़ल प्रशासक शाइस्ता ख़ाँ जो औरंगज़ेब का संबंधी भी था, को शिवाजी के क्षेत्रों पर आक्रमण करने का आदेश दिया। बीजापुर के शासक आदिल शाह से भी सहयोग देने के लिए कहा गया। आदिल शाह ने अबीसीनियाई सरदार सिद्दी जौहर को भेजा। उसने पन्हाला में शिवाजी को घेर लिया। शिवाजी यहाँ से भाग निकलने में सफल हुआ लेकिन पन्हाला पर बीजापुर के सैनिकों का क़ब्ज़ा हो गया। आदिल शाह शिवाजी को पूरी तरह नष्ट नहीं करना चाहता था, इस लिए उसने शिवाजी के खिलाफ़ अपने संघर्ष को आगे बढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। इसके विपरीत उसने शीघ्र ही शिवाजी से एक गुप्त समझौता कर लिया। अब शिवाजी मुग़लों का मुक़ाबला करने के लिए स्वतंत्र था।

आरंभ में शिवाजी को विशेष सफलता नहीं मिली। शाइस्ता खाँ ने 1660 में पूना पर क़ब्ज़ा कर लिया और

उसे अपना मुख्यालय बनाया। इसके बाद उसने शिवाजी के चंगुल से कोंकण को छुड़ाने के लिए वहाँ अपनी सेना भेजी। मराठों की बहादुरी तथा शिवाजी के छापामार हमलों के बावजूद मुग़ल उत्तरी कोंकण पर क़ब्ज़ा करने में सफल हो गये। और कोई चारा न देख शिवाजी ने एक अत्यंत साहसपूर्ण क़दम उठाया। वह रात के अंधेरे में पूना में शाइस्ता ख़ाँ के ख़ेमें में घुस गया और जब वह हरम में था, उस पर हमला कर दिया (1663)। उसने शाइस्ता ख़ाँ के लड़के तथा उसके एक सेनाध्यक्ष को मार डाला तथा खान को भी ज़ख़्मी कर दिया। इस साहसपूर्ण हमले के बाद शाइस्ता ख़ाँ की इज़्ज़त घट गई और उधर शिवाजी की प्रतिष्ठा एक बार फिर क़ायम हो गई। औरंगज़ेब ने गुस्से में आकर शाइस्ता ख़ाँ को बंगाल भेज दिया। यहाँ तक कि उस समय की प्रथा के विपरीत बदली के समय औरंगज़ेब ने खान से मिलने से भी इन्कार कर दिया। इस बीच शिवाजी ने एक और साहस का काम किया। उसने मुग़लों के मुख्य बन्दरगाह सूरत पर आक्रमण किया (1664), तथा उसे पूरी तरह लूटा। इस हमले में उसके हाथ अपार सम्पत्ति लगी।

पुरन्दर की संधि और शिवाजी का आगरा आगमन

शाइस्ता ख़ाँ की असफलता के बाद औरंगज़ेब ने अपने प्रमुख तथा विश्वसनीय सलाहकार, आमेर के राजा जयसिंह को शिवाजी का मुक़ाबला करने भेजा। राजा जयसिंह को सभी प्रकार के सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकार दिये गये जिससे उसको दक्कन के मुग़ल प्रशासक पर निर्भर नहीं रहना पड़े और वह सीधे सम्राट के साथ अपना संपर्क रख सके। अपने से पहले के मुग़ल सरदारों की तरह राजा जयसिंह ने मराठों की शक्ति का अनुमान लगाने में ग़लती नहीं की। उसने पूरी तरह से राजनीतिक तथा सैनिक तैयारियाँ कीं और शिवाजी के सभी विरोधियों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि शिवाजी को पूर्णतः अकेला कर देने के लिए उसने बीजापुर के सुल्तान को भी अपने पक्ष में करने की चेष्टा की।

राजा जयसिंह ने शिवाजी के प्रमुख अड्डे—पुरंदर का क़िला जिसमें शिवाजी अपने परिवार के साथ रहता था और जहाँ उसका ख़ज़ाना था—पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने 1665 में पुरंदर के क़िले की घेराबंदी कर ली तथा घेरे को उठाने के मराठों के सभी प्रयासों को विफल कर दिया। अपनी पराजय तथा कहीं से कोई सहायता न आती देख शिवाजी ने जयसिंह से बातचीत करने का निश्चय किया। बहुत विचार विमर्श के बाद निम्नलिखित बातों पर संधि हुई :

(क) शिवाजी को अपने 35 क़िलों में से चार लाख हून प्रति वर्ष के लगान वाले 23 क़िलों तथा उसके आसपास के क्षेत्रों को मुग़लों को सौंपने पड़ते। शिवाजी के पास एक लाख हून वाले 12 क़िले बच जाते और उसे सम्राट के प्रति सेवा और निष्ठा का वचन भी देना पड़ा।

(ख) कोंकण में चार लाख हून प्रति वर्ष की आय वाले क्षेत्र जिन पर शिवाजी का पहले ही अधिकार था, शिवाजी को रखने दिया जाना था। इसके अलावा बालाघाट में पाँच लाख हून प्रति वर्ष आय वाले इलाक़े जिन्हें शिवाजी ने बीजापुर से जीतना था, भी उसे दिए गए। इनके बदले में शिवाजी को मुग़लों को चालीस लाख हून किश्तों में देना था।

शिवाजी ने व्यक्तिगत रूप से सेवा करने से छूट माँगी। इसके बदले उसके स्थान पर उसके छोटे पुत्र संभाजी को 5,000 मनसब की पद्वी प्रदान की गई। शिवाजी ने यह वचन दिया कि वह दक्कन में मुग़लों के अभियानों में उनका साथ देगा।

जयसिंह ने बड़ी होशियारी से शिवाजी तथा बीजापुर के शासक के बीच झगड़े के बीज को बो दिया। लेकिन इस योजना की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि मुग़लों को हर्जाना भरने के लिए बीजापुर के क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा करने के शिवाजी के प्रयास में मुग़ल कितना साथ देते हैं। बाद में यह योजना असफल भी इसी कारण से हुई। औरंगज़ेब अभी भी शिवाजी के बारे में पूरी तरह विश्वस्त नहीं था और बीजापुर पर मुग़ल तथा मराठों के मिले-जुले हमले को आशंका की नज़र से देखता था। उधर जयसिंह के विचार बिल्कुल अलग थे। उसके अनुसार बीजापुर तथा सारे दक्कन पर विजय प्राप्त करने के

लिए शिवाजी की मैत्री प्राप्त करना पहला क़दम था। यदि एक बार इस बात में उन्हें सफलता मिल गई तब शिवाजी को मुग़लों का मित्र बने रहने के अलावा और कोई चारा नहीं रहता था। जैसा कि जयसिंह ने औरंगज़ेब को लिखा 'हम शिवा को एक वृत के केन्द्र की तरह बाँध लेंगे।'

इसके बावजूद बीजापुर के विरुद्ध मुग़ल तथा मराठों का मिला-जुला अभियान असफल रहा। शिवाजी को पन्हाले के क़िले पर क़ब्ज़ा करने का काम सौंपा गया लेकिन वे भी इस कार्य में असफल रहे। अपनी योजना को इस तरह ढहता देख जयसिंह ने शिवाजी को आगरा जाकर सम्राट से मिलने पर राज़ी कर लिया। जयसिंह ने सोचा कि यदि शिवाजी तथा औरंगज़ेब में किसी प्रकार का समझौता हो जाए तब बीजापुर पर एक बार पुनः आक्रमण करने के लिए औरंगज़ेब को अधिक साधन उपलब्ध कराने पर राज़ी किया जा सकता है। लेकिन उसकी यह योजना भी बुरी तरह असफल रही। शिवाजी जब आगरा आये तब उसे 5,000 मनसब की श्रेणी में रखा गया। शिवाजी को यह बात अत्यंत अपमानजनक लगी क्योंकि यह पद्वी उसके नाबालिग़ लड़के को दी गई थी। इसके अलावा औरंगज़ेब का जन्म दिवस मनाया जा रहा था और उसे शिवाजी से बातचीत करने का समय नहीं मिला। शिवाजी ने गुस्से में आकर मुग़ल सेवा में भरती होने से इन्कार कर दिया और वहाँ से बाहर निकल आया। इस प्रकार की घटना राजदरबार में पहले कभी नहीं घटी थी और राजदरबार के एक प्रभावशाली दल ने औरंगज़ेब पर ज़ोर दिया कि वह सम्राट की मर्यादा बनाये रखने के लिए शिवाजी को कड़े से कड़ा दंड दे ताकि अन्य लोग भी इससे उदाहरण लें। शिवाजी क्योंकि जयसिंह के आश्वासन पर आगरा आया था, इसलिए औरंगज़ेब ने जयसिंह को ही लिखकर उसकी सलाह माँगी। जयसिंह ने शिवाजी से नरम बर्ताव करने पर ज़ोर दिया। लेकिन इसके पहले कि कोई फ़ैसला किया जाता शिवाजी (1666 में) कारावास से निकल भागा। वह भाग निकलने में किस प्रकार सफल हुआ इसे सब अच्छी तरह जानते हैं और इसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं।

शिबाजी के निकल भागने के लिए औरंगज़ेब ने स्वयं अपनी लापरवाही को ज़िम्मेदार ठहराया। इसमें संदेह नहीं कि शिवाजी की आगरा यात्रा के बाद ही मुग़लों तथा मराठों के संबंधों में एक बड़ी खाई पैदा हुई। शिवाजी वापस लौटने के दो साल बाद तक चुप बैठा रहा। इस घटना से यह सिद्ध हो गया कि जयसिंह की आशा के विपरीत औरंगज़ेब शिवाजी के साथ अपनी मैत्री को अधिक महत्व नहीं देता था। उसके लिए शिवाजी एक छोटे भूमिया (ज़मींदार) से अधिक नहीं था। जैसा कि बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है, औरंगज़ेब द्वारा शिवाजी के महत्व की अनदेखी करना और उसकी मैत्री को हासिल करने का प्रयास नहीं करना, औरंगज़ेब की बहुत बड़ी राजनीतिक भूल थी।

शिवाजी के साथ संबंध विच्छेद—शिवाजी का प्रशासन और उनकी उपलब्धियाँ

यद्यपि बीजापुर के विरुद्ध अभियान की असफलता से पुरंदर की संधि का कोई महत्व नहीं रह गया था फिर भी इस संधि के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाने के कारण एक प्रकार से औरंगज़ेब ने शिवाजी को अपना विजय अभियान एक बार फिर शुरू करने के लिए मजबूर सा कर दिया। शिवाजी अपने 23 किलों तथा 4 लाख हून की आय वाले क्षेत्रों को मुग़लों के हाथों में देखना सहन नहीं कर सकता था विशेषकर जबकि बीजापुर की तरफ से उसे कोई लाभ नहीं हुआ था। उसने मुग़लों के खिलाफ़ अपना संघर्ष फिर जारी किया तथा 1670 में दूसरी बार सूरत को लूटा। अगले चार वर्षों के दौरान उसने पुरंदर सहित कई क़िले मुग़लों से वापस ले लिए तथा बिरार तथा ख़ानदेश सहित अन्य मुग़ल क्षेत्रों पर भी हमले किए। इस समय मुग़ल उत्तर पश्चिम में विद्रोही अफ़ग़ानों से जूझ रहे थे इसलिए शिवाजी की ओर विशेष ध्यान नहीं दे सके। शिवाजी ने बीजापुर के साथ भी अपना संघर्ष फिर आरम्भ किया तथा रिश्वत देकर पन्हाला और सतारा को हासिल कर लिया और कनारा क्षेत्र में भी आक्रमण किए।

1674 में औपचारिक रूप से राजगढ़ में शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ। उसकी शुरुआत पूना के एक साधारण जागीरदार के रूप में हुई थी और वह अब सबसे शक्तिशाली मराठा सरदार था। अपने राज्य के विस्तार और सैनिक

शक्ति के कारण वे दक्कन के सुल्तानों जैसी हैसियत रखता था। शिवाजी के औपचारिक राज्याभिषेक से कई उद्देश्यों की प्राप्ति हुई। सबसे पहले तो इससे वह किसी भी अन्य मराठा सरदार के मुक़ाबले में अधिक शक्तिशाली तथा श्रेष्ठ रूप में उभर कर आया। इनमें से कुछ सरदार अभी भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। अपनी सामाजिक स्थिति को मज़बूत करने के लिए शिवाजी ने ख़ानदानी मराठा परिवारों (जैसे मोहित्ते तथा शिर्के वग़ैरह) में शादियाँ कीं। राज्याभिषेक के अवसर पर एक पंडित गंगाभट्ट, जो समारोह का अध्यक्ष था, ने घोषणा की कि शिवाजी एक उच्चवर्गीय क्षत्रिय हैं। इसके अलावा एक स्वतन्त्र शासक के रूप में, न कि पहले के विद्रोही के रूप में, शिवाजी के लिए अब दक्कन के सुल्तानों के साथ बराबरी की हैसियत से सन्धि करना संभव हो गया। मराठा राष्ट्र भावना के विकास में भी यह एक और महत्वपूर्ण क़दम था।

1676 में शिवाजी ने एक नया साहसपूर्ण क़दम उठाया। हैदराबाद में मदन्ना तथा अखन्ना दो भाइयों की सहायता से उसने बीजापुरी कर्नाटक पर आक्रमण करने का फैसला किया। क़ुतुब शाह ने अपनी राजधानी में उसका भव्य स्वागत किया और दोनों के बीच एक सन्धि हुई। क़ुतुब शाह ने शिवाजी को एक लाख हून प्रति वर्ष (पाँच लाख रुपयों के बराबर) देना स्वीकार किया तथा अपने दरबार में एक मराठा राजदूत को रहने की इजाज़त दी। दोनों में यह फ़ैसला हुआ कि कर्नाटक की संपत्ति तथा क्षेत्रों का वे आपस में बंटवारा कर लेंगे। क़ुतुब शाह ने शिवाजी को तोपख़ाने तथा सेना की टुकड़ी भी दी। इसके अलावा शिवाजी की सेना के ख़र्च के लिए धन भी दिया। यह सन्धि शिवाजी के पक्ष में बड़ी लाभदायक रही और इसके कारण वह बीजापुर के अधिकारियों से जिंजी तथा वैलोर छीनने में सफल हो गया। उसने अपने सौतेले भाई एकोजी के भी कई क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया। यद्यपि शिवाजी ने हैंदव धर्मोधारक (हिंदू धर्म की सुरक्षा करने वाला) की पदवी ग्रहण की थी पर इसके बावजूद उसने इस क्षेत्र की हिंदू आबादी को बड़ी निष्ठुरता से लूटा जब वह इस बड़े खज़ाने के साथ वापस लौटा तब उसने क़ुतुब शाह के साथ इसका बंटवारा करने से इन्कार कर दिया और इस तरह उससे अपने संबंध बिगाड़ लिए।

कर्नाटक अभियान शिवाजी का अन्तिम महत्वपूर्ण अभियान था। उसने जिंजी में जो अड्डा स्थापित किया था वह बाद में मराठों के खिलाफ़ औरंगज़ेब के हमलों के दौरान उसके लड़के राजाराम के लिए सुरक्षा अथवा शरणस्थल बन गया।

कर्नाटक अभियान से लौटने के कुछ ही समय बाद 1680 में शिवाजी की मृत्यु हो गई। लेकिन इसी बीच उसने एक मज़बूत प्रशासन व्यवस्था की नींव रख दी थी। शिवाजी का प्रशासन बहुत हद तक दक्कन के राज्यों की प्रशासन व्यवस्था पर आधारित था। यद्यपि उन्होंने आठ मंत्रियों की नियुक्ति की और इन्हें अष्टप्रधान की संज्ञा दी फिर भी इसे एक मंत्रिमण्डल नहीं कहा जा सकता। हर मंत्री सम्राट के प्रति ज़िम्मेदार था। सबसे मुख्य मंत्री थे पेशवा जो राज्य के प्रशासन तथा अर्थ-व्यवस्था को देखता था। तथा **सरी-ए-नौबत** (सेनापति) दूसरी पदवी एक सम्मानित पद्वी थी जो किसी प्रमुख मराठा सरदार को दी जाती थी। लेखाकार को **मजमुदार** कहा जाता था और **वाकया-नवीस** घरेलू मामलों तथा गुप्तचर विभाग के लिए ज़िम्मेदार था। **सुरुनवीस** अथवा **चिटनिस** राजा को पत्र व्यवहार में मदद करते थे। **दबीर** राजा को विदेशी मामलों में सहायता करता था। न्याय तथा अनुदानों के विभाग **न्यायाधीश** तथा **पंडित राव** के अधीन था।

इन नियुक्तियों से अधिक महत्वपूर्ण शिवाजी की सेना का संगठन तथा कर व्यवस्था थी। शिवाजी अपने सैनिकों को नक़द वेतन देना पसंद करता था, यद्यपि कुछ सरदारों को कर अनुदान (सरंजाम) भी दिये जाते थे। सेना में कड़ा अनुशासन था। अभियानों के दौरान स्त्रियों तथा नर्तकियों को सेना के साथ ले जाने पर मनाही थी। हमलों के दौरान लूटी गई सम्पत्ति का हर सैनिक को ब्यौरा देना पड़ता था और इसका हिसाब बड़ी सावधानी से रखा जाता था। उनकी नियमित सेना (पागा) में तीस से चालीस हज़ार घुड़सवार थे और उनका नेतृत्व हवलदारों के हाथों में था जिन्हें निर्धारित वेतन मिलता था। इनके अलावा सेना में और लोग थे जो नियमित सेना का भाग नहीं थे और जिन्हें **सिलहदार** कहा जाता था। क़िलों की देखरेख सावधानी से की जाती थी और उनके लिए मावल प्यादों तथा तोपचियों की नियुक्ति की जाती

थी। कहा जाता है कि षड्यंत्रों तथा धोखेधड़ी से बचने के लिए हर क़िले में एक ही पद के तीन अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

ऐसा लगता है कि शिवाजी की कर व्यवस्था मलिक अम्बर की व्यवस्था पर आधारित थी। 1679 में अन्नाजी दत्तो ने ज़मीन का नये सिरे से सर्वेक्षण के आधार पर लगान तय करने का कार्य पूरा कर लिया था। यह सोचना सही नहीं है कि शिवाजी ने ज़मींदारी (देशमुखी) प्रथा को समाप्त कर दिया था। न ही उसने अपने अधिकारियों को जागीरें (मोकासा) देना बंद किया। लेकिन मिरासदारों अर्थात भूमि पर वंशागत अधिकार रखने वाले व्यक्तियों पर कड़ाई से नज़र रखी जाती थी। इस व्यवस्था का उल्लेख करते हुए अठारहवीं शताब्दी के लेखक सभासद ने लिखा है कि यह वर्ग राज्य को अपनी आय का बहुत कम हिस्सा देते थे। "इसके परिणामस्वरूप मिरासदारों ने गांवों में क़िलों के निर्माण तथा तोपचियों और सैनिकों को भर्ती कर अपनी शक्ति बढ़ा ली थी···यह वर्ग अनुशासनहीन हो गया था और इसने सारे क्षेत्र पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया था।" शिवाजी ने उनके किलों को नष्ट कर उन्हें घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया।

शिवाजी ने पड़ोस के मुग़ल क्षेत्रों से लगान उगाह कर अपनी आय बढ़ाई। यह भूमि पर लगाए गए लगान का चौथा हिस्सा था और इसे **चौथाई** या **चौथ** कहा जाता था।

शिवाजी न केवल एक कुशल सेनाध्यक्ष तथा कुशल राजनीतिज्ञ सिद्ध हुआ बल्कि उसने देशमुखों की शक्ति पर अपना नियंत्रण रख एक शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। उसकी नीतियों की सफलता में उसकी सेना का बहुत बड़ा हाथ था। यह कहीं भी बड़ी शीघ्रता से ले जाई जा सकती थी। सैनिकों के वेतनों के लिए अधिकतर पड़ोसी क्षेत्रों को लूटा जाता था। लेकिन केवल इसी कारण हम इस राज्य को लड़ाकू राज्य नहीं कह सकते। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक क्षेत्रीय राज्य था लेकिन यह निश्चय ही लोकप्रियता पर आधारित था। इस हिसाब से शिवाजी एक लोकप्रिय शासक था जो इस क्षेत्र में मुग़लों के विस्तार के ख़िलाफ़ जनसाधारण की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था।

औरंगज़ेब तथा दक्कन के राज्य (1658-87)

दक्कन राज्यों के साथ औरंगज़ेब के संबंधों को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है। पहला चरण 1668 तक था जिसके दौरान मुग़लों का प्रमुख लक्ष्य अहमदनगर राज्य के उन क्षेत्रों को बीजापुर से वापस लेना था जो 1636 की संधि के अंतर्गत बीजापुर को मिल गये थे। दूसरा चरण 1684 तक चला जिसके दौरान दक्कन में सबसे अधिक ख़तरा मराठों को समझा गया और मुग़लों ने शिवाजी तथा उसके पुत्र शंभाजी के ख़िलाफ़ बीजापुर तथा गोलकुंडा को अपने पक्ष में मिलाने के प्रयास किये। साथ ही मुग़लों ने दक्कन के राज्यों के क्षेत्रों पर भी हमले शुरू किये और उन्हें पूरी तरह मुग़लों के अधीन लाने का प्रयत्न किया। अंतिम चरण उस समय शुरू हुआ जब मराठों के ख़िलाफ़ बीजापुर तथा गोलकुंडा का सहयोग हासिल करने से निराश होकर औरंगज़ेब ने बीजापुर तथा गोलकुंडा को ही पूरी तरह अपने क़ब्ज़े में करने का निश्चय किया।

प्रथम चरण (1658-68)

1636 की संधि के अंतर्गत मराठों के ख़िलाफ़ बीजापुर तथा गोलकुंडा के समर्थन को प्राप्त करने के लिए शाहजहाँ ने रिश्वत के रूप में अहमदनगर राज्य के एक तिहाई क्षेत्र को उन्हें देने के अलावा यह वचन दिया था कि वह कभी-कभी बीजापुर तथा गोलकुंडा पर क़ब्ज़ा नहीं करेगा। लेकिन इस नीति का शाहजहाँ ने स्वयं ही त्याग कर दिया था। 1657-58 में गोलकुंडा तथा बीजापुर के राज्यों को मिटा देने की धमकी दी गई। गोलकुंडा को बहुत बड़ा हर्जाना देना पड़ा तथा बीजापुर को 1636 में मिले निज़ामशाही क्षेत्रों को समर्पित करना पड़ा। मुग़लों ने इस कार्य को इस आधार पर उचित ठहराया कि बीजापुर तथा गोलकुंडा ने कर्नाटक के विस्तृत क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा कर लिया था और वे इसके लिए मुग़लों को हर्जाना देने पर इसलिए बाध्य थे क्योंकि ये दोनों राज्य मुग़लों के अधीन थे तथा उनकी विजय मुग़लों की तटस्थता के कारण ही संभव हो सकी थी। इसके अलावा दक्कन में मुग़ल सेना का ख़र्चा बहुत अधिक था और दक्कन के राज्यों से प्राप्त राशि इसके लिए पूरी नहीं पड़ती थी। बहुत समय

तक यह खर्चा मालवा तथा गुजरात के ख़ज़ानों की राशि से पूरा किया जाता रहा।

दक्कन में सीमित रूप से आगे बढ़ने की मुग़लों की नीति के दूरगामी प्रभाव पड़े जिसे न तो शाहजहाँ और न ही औरंगज़ेब उस समय पूरी तरह समझ सके। इस नीति के कारण हमेशा के लिए मुग़लों की सन्धियों तथा उनके वायदों के प्रति अविश्वास हो गया और इसके कारण मुग़ल, मराठों के विरुद्ध अन्य शक्तियों को संगठित नहीं कर सके। औरंगज़ेब ने 25 वर्षों तक इस नीति की सफलता के लिए प्रयास किए लेकिन उसे विशेष सफलता नहीं मिली।

औरंगज़ेब के सम्राट बनने के समय दक्कन में दो समस्याएँ थीं : एक शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति थी और दूसरी समस्या बीजापुर को इस बात के लिए राज़ी करना था कि वह 1636 की संधि के अंतर्गत प्राप्त क्षेत्रों को मुग़लों को वापस कर दे। 1657 में कल्याणी तथा बिदार को वापस ले लिया गया। 1660 में रिश्वत देकर परंदा भी हासिल कर लिया गया था। लेकिन शोलापुर अभी भी बचा था। औरंगज़ेब ने यह आशा की थी कि इन प्रतिकूल परिस्थितियों से बाध्य होकर आदिल शाह शिवाजी के विरुद्ध मुग़लों के अभियान में सहर्ष साथ देगा। पर यह आशा ग़लत साबित हुई। 1636 में शाहजी के विरुद्ध आदिल शाह का समर्थन प्राप्त करने के लिए शाहजहाँ ने उसे बहुत बड़ी रिश्वत दी थी। औरंगज़ेब आदिल शाह को 1636 में प्राप्त क्षेत्रों के अलावा और कुछ दे भी नहीं सकता था। इसके विपरीत औरंगज़ेब ने आदिल शाह द्वारा अपनाये गये असहयोग के रवैये से क्रोधित होकर शिवाजी तथा आदिल शाह दोनों को सबक़ सिखाने के लिए राजा जयसिंह को दक्कन भेज दिया। इससे स्पष्ट है कि औरंगज़ेब को मुग़ल सेना की शक्ति तथा अपने विरोधियों की कमज़ोरी पर पूरा भरोसा था। लेकिन जयसिंह बहुत कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसने औरंगज़ेब से कहा "इन दोनों मूर्खों पर एक साथ हमला करना मेरी नासमझी होगी।"

उस समय जयसिंह ही अकेला मुग़ल राजनीतिज्ञ था जिसने दक्कन में पूरी तरह आगे बढ़ने की नीति का समर्थन किया था। जयसिंह का विश्वास था कि दक्कन में बिना पूर्ण आक्रामक नीति के मराठों की समस्या नहीं सुलझाई जा सकती। औरंगज़ेब इसी निष्कर्ष पर बीस वर्ष बाद पहुँचा।

बीजापुर के विरुद्ध अभियान की तैयारी करते समय जयसिंह ने औरंगज़ेब को लिखा था "बीजापुर-विजय सारे दक्कन तथा कर्नाटक के विजय की भूमिका है।" लेकिन औरंगज़ेब इतना साहसपूर्ण क़दम उठाने से हिचकिचा रहा था। हम इसके कारणों का केवल अंदाज़ा लगा सकते हैं : उस समय उत्तर पश्चिम में ईरान के शासक का ख़तरा बना हुआ था। उधर दक्कन का अभियान बड़ा लंबा तथा कठिन होता और वहाँ सम्राट को स्वयं रहना पड़ता क्योंकि इतनी बड़ी सेना किसी सरदार या किसी राजकुमार के नेतृत्व में नहीं छोड़ी जा सकती थी। महत्वाकांक्षी शाहजहाँ ने इस बात को अनुभव किया था और इसलिए जब तक शाहजहाँ जीवित था, औरंगज़ेब किसी दूर के अभियान पर कैसे जा सकता था?

सीमित साधनों के कारण जयसिंह के बीजापुर अभियान (1665) को असफल होना ही था। इस अभियान के कारण दक्कन के राज्य मुग़लों के ख़िलाफ़ संगठित हो गये और क़ुतुब शाह ने बीजापुर की सहायता के लिए एक बड़ी सेना भेजी। दक्कन के राज्यों ने छापामार नीति अपनाई। उन्होंने जयसिंह को बीजापुर के दूर-दराज़ क्षेत्रों में आक्रमण करने दिया ताकि मुग़लों को वहाँ बाद में कोई रसद प्राप्त न हो सके। अब जयसिंह को महसूस हुआ कि वह शहर पर हमला नहीं कर सकता था क्योंकि वह अपने साथ बड़ी तोपों को लाया नहीं था और शहर की घेरेबंदी असंभव थी। पीछे लौटना भी उसे बड़ा महंगा पड़ा। जयसिंह के इस अभियान से मुग़लों को न तो धन और न ही किसी क्षेत्र की प्राप्ति हो सकी। इस निराशा तथा औरंगज़ेब की नाराज़गी के कारण ही जयसिंह की अकाल मृत्यु हो गई (1667)। इसके अगले वर्ष, 1668 में, मुग़लों ने रिश्वत देकर शोलापुर को हासिल किया और इस प्रकार प्रथम चरण समाप्त हुआ।

दूसरा चरण (1668-1684)

1668 तथा 1676 के बीच मुग़ल चुपचाप दक्कन की स्थिति को भांपते रहे। इस अवधि में गोलकुण्डा में मदन्ना

तथा अखन्ना के शक्तिशाली होने से दक्कन की राजनीति में एक नया तत्व पैदा हो गया था। ये दोनों योग्य भाई 1672से लेकर1687 में इस राज्य की समाप्ति तक, वहाँ के राजा जितने शक्तिशाली बने रहे। इन भाइयों ने गोलकुंडा, बीजापुर तथा शिवाजी को मिलाकर एक त्रिगुटीय शक्ति स्थापित करने का प्रयास किया। यह नीति बीजापुर के दरबार के आंतरिक झगड़ों तथा शिवाजी की असीम महत्वाकांक्षा के कारण सफल नहीं हो सकी। बीजापुर के विभिन्न वर्गों से यह आशा की भी नहीं जा सकती थी कि वे एक स्थिर नीति पर क़ायम रहें। अपने तात्कालिक हितों के अनुसार वे कभी तो मुग़लों का साथ देते और कभी उनके ख़िलाफ़ हो जाते थे। शिवाजी भी कभी बीजापुर को लूटता और कभी मुग़लों के विरुद्ध संघर्ष में उसका साथ देता। यद्यपि औरंगज़ेब दक्कन में मराठों की बढ़ती शक्ति से चिंतित था फिर भी वह दक्कन में मुग़ल विस्तार पर रोक लगाना चाहता था। इसलिए उसने कई बार बीजापुर की गद्दी पर ऐसे शासक को बैठाने के प्रयास किए जो शिवाजी के विरुद्ध मुग़लों का साथ दे और गोल-कुंडा से प्रभावित न हो।

इस नीति के अंतर्गत मुग़लों ने बीजापुर में कई बार हस्तक्षेप किया। पहली बार उन्होंने 1676 में हस्तक्षेप किया जब वहाँ के प्रतिशासक खवास खाँ को जिसने रिश्वत लेकर शिवाजी के ख़िलाफ़ मुग़लों का साथ देने का वचन दिया था, उखाड़ फेंका गया। मुग़लों ने खवास खाँ को अपने अफ़ग़ान प्रतिद्वंदियों को समाप्त करने के लिए मदद दी। लेकिन इस प्रयास में मुग़लों को बीजापुर तथा गोलकुंडा की संगठित शक्ति का सामना करना पड़ा। यद्यपि मुग़लों ने रिश्वत का रास्ता अपनाकर नालदुर्ग तथा गुलबर्ग को हासिल कर लिया, वे मराठों के विरोधी तथा अपने पक्ष के किसी शासक को गद्दी पर बैठाने के मूल लक्ष्य को पूरा नहीं कर सके।

अब औरंगजेब ने एक नया तरीक़ा अपनाया। उसने मुग़ल प्रशासक बहादुर ख़ाँ को वापस बुलाकर उसकी जगह ऐसे अफ़ग़ान सरदार और सैनिक, दिलेर ख़ाँ, को भेजा जिसके बीजापुर के अफ़ग़ानों के साथ बड़े अच्छे संबंध थे। दिलेर खाँ ने अफ़ग़ान नेता बहलोल ख़ाँ पर गोलकुंडा के ख़िलाफ़ मुग़ल अभियान में साथ देने के लिए ज़ोर डाला। गोलकुंडा के शासक ने अपनी राजधानी में शिवाजी का खुले दिल से स्वागत किया था क्योंकि वहाँ वास्तविक शक्ति मदन्ना तथा अखन्ना के हाथों में थी। इन्हीं भाइयों के कारण मुग़लों तथा बीजापुर का मिला-जुला अभियान (1677 में) असफल हो गया। बीजापुर के अफ़ग़ान अब मुसीबत में पड़ गये और उन्हें आदिल शाही साम्राज्य को बचाने के लिए क़ुतुब शाह की सहायता माँगनी पड़ी। क़ुतुब शाह ने सहायता के बदले कुछ शर्तें रखी जिन्हें अफ़ग़ानों को मानना पड़ा। इनके अनुसार दक्कनी गुट के नेता सीदी मसूद को प्रतिशासक बनाया गया तथा यह निश्चय हुआ कि सीदी मसूद को अफ़ग़ान सैनिकों का वेतन चुकाने और उसके बाद उन्हें बर्ख़ास्त करने के लिए छः लाख रुपये दिये जाएँगे और बीजापुरी प्रशासन के काम काज में गोलकुंडा से एक सलाहकार भेजा जाएगा। इस सलाहकार पद पर अखन्ना को नियुक्त किया गया। बीजापुर तथा दक्कन की राजनीति में हैदराबाद के प्रभाव का यह चर्मोत्कर्ष था।

कुछ समय तक शिवाजी इस समझौते से अलग रहा। उसने अपने कर्नाटक अभियान के दौरान लूटी गई सम्पत्ति का हिस्सा क़ुतुब शाह को देने से इन्कार कर उसका क्रोध मोल ले लिया था। अब इस बात पर सम-झौता हुआ कि शिवाजी अपनी गतिविधियों को कोंकण तक सीमित रखेगा। इस सारी स्थिति में सबसे अधिक अनिश्चयता शिवाजी के कारण ही बनी हुई थी जो अपनी भूमिका अकेले ही निभाना चाहता था। कर्नाटक से लौटकर उसने निष्ठुर हिंसा की नीति जारी रखी और बीजापुर को अपने पक्ष में करने का षड्यंत्र रचा। सीदी मसूद ने शिवाजी को लिखा "हम पड़ोसी हैं। हम एक ही नमक खाते हैं। राज्य के कल्याण में आपकी और हमारी समान दिलचस्पी है। हमारा दुश्मन (अर्थात् मुग़ल) हमें तबाह करने के लिए दिन-रात प्रयत्न कर रहा है। हम दोनों को साथ मिलकर विदेशियों को निकाल देना चाहिए।"

मसूद मुग़ल सरदार दिलेर ख़ाँ से भी मिला। शान्ति प्रयास के रूप में आदिल शाह ने अपनी बहन, जिसकी बहुत प्रतिष्ठा थी, की शादी औरंगज़ेब के पुत्र से करने का वायदा किया। मसूद ने औरंगज़ेब की आज्ञा-पालन तथा शिवाजी का साथ न देने का भी वचन दिया। लेकिन

इसी बीच सीदी मसूद तथा शिवाजी के बीच चल रही बातचीत की ख़बर मुग़लों के कानों तक पहुंच गई और उन्होंने (1679 में) बीजापुर पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुग़लों के राजनीतिक तथा सैनिक प्रयासों का परिणाम यही हुआ कि उन्होंने अपने ख़िलाफ़ तीनों दक्कनी शक्तियों को संगठित हो जाने का अवसर दिया। बीजापुर को क़ब्ज़े में करने का दिलेर ख़ाँ का आखिरी प्रयास (1679-80) भी असफल रहा क्योंकि किसी भी मुग़ल प्रशासक के पास ऐसे साधन नहीं थे जिससे वह दक्कन के राज्यों की संगठित शक्ति का मुक़ाबला कर सकता। इसके अलावा इस संघर्ष में कर्नाटक के पैदल सैनिकों ने भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बीजापुर पर डाले गये मुग़ल घेरे को उठाने के लिए विराद के शासक प्रेम नाइक ने 30,000 सैनिक भेजे। शिवाजी ने भी बीजापुर की सहायता के लिए एक बड़ी सेना भेजी तथा चारों तरफ मुग़लों के क्षेत्रों पर आक्रमण आरंभ कर दिया। इस प्रकार दिलेर ख़ाँ के हाथों कुछ न लगा। इसके विपरीत मुग़ल क्षेत्र मराठों के आक्रमणों के लिए खुल गए। औरंगज़ेब ने दिलेर ख़ाँ को भी वापस बुला लिया।

तीसरा चरण (1684-87)

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1676 और 1680 के बीच दक्कन में मुग़लों को कोई विशेष सफलता हासिल नहीं हुई। अपने विद्रोही पुत्र, राजकुमार अकबर का पीछा करते हुए औरंगज़ेब 1681 में जब दक्कन पहुँचा तब उसने अपनी सारी शक्ति शिवाजी के लड़के तथा उत्तराधिकारी शंभाजी के ख़िलाफ़ लगा दी। बीजापुर तथा गोलकुंडा को मराठों का साथ छोड़ देने पर राज़ी करने के प्रयास किए गए। लेकिन उसके प्रयासों का भी वही फल हुआ जो पहले के मुग़लों सरदारों की चेष्टाओं का हुआ था। मुग़ल के ख़िलाफ़ मराठे ढाल के समान थे और दक्कन के राज्य यह नहीं चाहते थे कि उनकी यह सुरक्षा समाप्त हो जाए।

अब औरंगज़ेब न ठोस क़दम उठाने का निश्चय किया। उसने आदिल शाह को अपने अधीन राजा होने के कारण आदेश दिया कि वह मुग़ल सेना को रसद दे, मुक्त रूप से अपने क्षेत्र से होकर गुज़रने दे तथा मराठों के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए 5,000 से 6,000 घुड़सवार दे। उसने मुग़लों का विरोध करने वाले प्रमुख बीजापुरी सरदार शरज़ाख़ाँ को भी बर्ख़ास्त करने की माँग की। इससे आदिल शाह और मुग़लों के बीच का मतभेद उभर कर सामने आना ही था। आदिल शाह ने गोलकुंडा तथा शंभाजी, दोनों से सहायता का अनुरोध किया और उसे यह सहायता तुरन्त मिली। लेकिन इसके बावजूद दक्कन राज्यों की यह संगठित सेना भी मुग़ल सेना की शक्ति का मुक़ाबला नहीं कर सकी और विशेषकर जब, जैसा हम पहले भी देख चुके हैं, इसका नेतृत्व स्वयं मुग़ल सम्राट अथवा एक उत्साही राजकुमार के हाथों में हो। इसके बावजूद मुग़लों को अठारह महीनों तक घेरा डालकर पड़ा रहना पड़ा। इसके अंतिम चरणों में सेना का नेतृत्व औरंगज़ेब ने स्वयं अपने हाथों में लिया। अंत में (1686 में) बीजापुर को हार माननी पड़ी। जिस कठिनाई से यह अभियान सफल हुआ, उससे पहले के जयसिंह (1665) तथा दिलेरख़ान (1679-80) के अभियानों की असफलता की बात समझ में आती है।

बीजापुर के पतन के बाद गोलकुंडा पर मुग़लों का आक्रमण निश्चित था। क़ुतुब शाह के इतने 'पाप' थे कि क्षमा नहीं किये जा सकते थे। उसने ग़ैर-मुसलमानों, मदन्ना तथा अखन्ना के हाथों में इतनी शक्ति दे दी थी तथा अनेक अवसरों पर शिवाजी का साथ दिया था। विश्वासघात का उसका अन्तिम कार्य, औरंगज़ेब की चेतावनी के बावजूद बीजापुर की सहायता के लिए चालीस हज़ार सैनिक भेजना था। 1685 में कड़े मुक़ाबले के बाद मुग़ल गोलकुंडा पर क़ब्ज़ा करने में सफल हो गये। सम्राट ने बहुत बड़े हर्जाने, कुछ क्षेत्रों, तथा मदन्ना और अखन्ना की बर्ख़ास्तगी के बदले क़ुतुब शाह को क्षमा प्रदान करना स्वीकार किया। क़ुतुब शाह भी इस बात पर राज़ी हो गया। मदन्ना और अखन्ना को घसीटकर सड़क पर लाया गया और वहाँ उनकी हत्या कर दी गई (1686)। लेकिन यह अपराध भी क़ुतुबशाही राज्य को नहीं बचा सका। बीजापुर के पतन के बाद औरंगज़ेब ने क़ुतुब शाह को दंड देने का निश्चय किया। 1687 में उसने अपना अभियान आरंभ किया और छः महीने के बाद रिश्वत तथा

धोखाधड़ी से क़िले पर क़ब्ज़ा करने में सफल हुआ।

औरंगज़ेब विजयी तो हो गया था लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि बीजापुर तथा गोलकुंडा का पतन उसकी कठिनाइयों की शुरुआत ही थी। अब औरंगज़ेब के ज़ीवन का आखिरी और सबसे कठिन चरण आरम्भ हुआ।

औरंगज़ेब, मराठे तथा दक्कन—अन्तिम चरण (1687-1707)

बीजापुर तथा गोलकुंडा के पतन के बाद औरंगज़ेब ने अपनी सारी शक्ति मराठों के ख़िलाफ़ लगा दी। बुरहानपुर तथा औरंगाबाद पर आक्रमणों के अलावा नये मराठा शासक शंभाजी ने औरंगज़ेब के विद्रोही पुत्र राजकुमार अकबर को शरण देकर औरंगज़ेब को एक बड़ी चुनौती दी थी। औरंगज़ेब को इस बात का अत्यन्त भय था कि मराठों के समर्थन का बल पाकर मुग़ल क्षेत्रों में राजकुमार अकबर के आक्रमणों से एक लंबा गृहयुद्ध शुरू हो जाएगा। लेकिन उधर शंभाजी ने राजकुमार अकबर को पूरा समर्थन न देकर अपनी शक्ति पुर्तगालियों तथा सिदियों के ख़िलाफ़ व्यर्थ की लड़ाई में लगा दी। इससे राजकुमार अकबर का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। जब औरंगज़ेब बीजापुर तथा गोलकुंडा के ख़िलाफ़ संघर्षों में व्यस्त था, उस समय भी शंभाजी ने राजकुमार अकबर को बड़ी मात्रा में सहायता देना अस्वीकार कर दिया था। इसी कारण 1686 में मुग़ल क्षेत्रों पर राजकुमार अकबर के आक्रमणों को आसानी से असफल किया जा सका था। निराश होकर राजकुमार अकबर समुद्र के रास्ते भागकर ईरान चला गया जहाँ उसने ईरान के राजा से पनाह माँगी।

बीजापुर तथा गोलकुंडा के पतन के बाद भी शंभाजी अपने व्यसनों में तथा अपने आंतरिक प्रतिद्वंद्वियों से निबटने में व्यस्त रहा। 1689 में अपने गुप्त अड्डे, संगमेश्वर में, एकाएक मुग़लों के आक्रमण से शंभाजी अचंभित रह गया। उसे औरंगज़ेब के सामने लाया गया और विद्रोही तथा काफ़िर ठहरा कर उसकी हत्या कर दी गई। यह औरंगज़ेब की निस्संदेह एक और बड़ी राजनीतिक ग़लती थी। मराठों से समझौता कर औरंगज़ेब बीजापुर तथा गोलकुंडा पर अपनी विजय को पक्का कर सकता था। शंभाजी की हत्या कर न केवल उसने इसका मौक़ा गंवा दिया बल्कि मराठों को अपना संघर्ष और तेज़ करने का बहाना दे दिया। किसी एक शक्तिशाली नेता के अभाव में मराठा सरदारों ने खुले आम मुग़ल क्षेत्रों में लूटपाट आरंभ कर दी। मुग़ल सेना को देखते ही वे इधर-उधर छिप जाते थे। मराठों को समाप्त करने के बदले औरंगज़ेब ने इन्हें सारे दक्कन में अपनी गतिविधियों को बढ़ाने का अवसर दिया। शंभाजी के छोटे भाई राजाराम का राज्याभिषेक तो हुआ लेकिन राजधानी पर मुग़लों का आक्रमण होता देख वह वहाँ से भाग निकला। राजाराम ने भाग कर पूर्वी तट पर जिंजी में शरण ली और वहाँ से मुग़लों के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष को जारी रखा। इस प्रकार मराठों का विद्रोह पश्चिम से लेकर पूर्वी तट तक फैल गया।

कुछ समय तक औरंगज़ेब अपने सारे शत्रुओं को समाप्त कर अपनी शक्ति के शिखर पर पहुँच गया था। उसके कुछ सरदार इस राय के थे कि उसे उत्तर भारत लौट जाना चाहिए और मराठों के ख़िलाफ़ संघर्ष का काम दूसरों पर छोड़ देना चाहिए। इसके अलावा ऐसा लगता है कि एक और पक्ष भी था जिसे युवराज शाह आलम का समर्थन प्राप्त था और जिसकी राय थी कि कर्नाटक का राज्य बीजापुर तथा गोलकुंडा के अधीनस्थ शासकों पर छोड़ दिया जाना चाहिए। औरंगज़ेब ने इन सभी प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। यहाँ तक कि दक्कन के शासकों से बातचीत करने के लिए शाह आलम को बंदी बना लिया। उसका विश्वास था कि वह मराठों की शक्ति को कुचलने में सफल हो गया है। इस कारण 1690 के बाद औरंगज़ेब ने कर्नाटक के विशाल तथा समृद्ध क्षेत्र को क़ब्ज़े में करने पर ध्यान दिया। लेकिन यह औरंगज़ेब के बस के बाहर की बात थी। उसने बीजापुर तथा गोलकुंडा के राज्यों में स्थिर प्रशासन क़ायम करने के बदले दूर-दूर तक आक्रमण किए जिससे विभिन्न क्षेत्रों में सम्पर्क साधन दूर-दूर तक फैल गए जिनकी रक्षा करना कठिन था और जिन पर मराठों ने हमले करने शुरू कर दिए।

1690 तथा 1703 के बीच औरंगज़ेब मराठों से समझौता न करने की अपनी ज़िद पर अड़ा रहा। उसने जिंजी में राजाराम पर घेरा डाल दिया जो बहुत दिनों तक चला। 1698 में जिंजी का पतन हुआ लेकिन

राजाराम वहाँ से निकल भागने में सफल हो गया। उधर मराठों का संघर्ष और तेज़ हो गया और इससे कई अवसरों पर मुग़लों को बड़ी हानि उठानी पड़ी। मराठों ने कई क़िलों को वापस ले लिया और राजाराम भी सतारा लौटने में सफल हुआ।

इन पराजयों से औरंगज़ेब हतोत्साहित नहीं हुआ। उसने सभी मराठों के क़िलों पर पुनः क़ब्ज़ा करने की ठानी। 1700 से 1705 के साढ़े पाँच वर्षों तक औरंगज़ेब अपने रुग्ण शरीर को एक क़िले से दूसरे क़िले तक ढोता फिरा। बाढ़, महामारी तथा मराठों के छापामारों ने मुग़ल सेना को तबाह कर डाला। अनेक सैनिक मारे गये। सैनिकों तथा सरदारों के बीच असंतोष तथा उनकी थकावट बढ़ती गई। उनका साहस भी धीरे-धीरे ख़त्म होता गया। यहाँ तक कि कई जागीरदारों ने मराठों के साथ गुप्त समझौते कर उन्हें चौथ देना स्वीकार कर लिया ताकि मराठे उनकी जागीरों को शान्ति से रहने दें।

आखिरकार 1703 में औरंगज़ेब ने मराठों के साथ बातचीत शुरू की। वह शंभाजी के पुत्र साहू को रिहा करने पर तैयार हो गया जो सतारा में अपनी माँ के साथ बंदी बना लिया गया था। साहू के साथ अच्छा बर्ताव किया गया। उसे राजा की पद्वी तथा 7,000 का मनसब प्रदान किया गया था। बड़ा होने पर उसकी शादी प्रतिष्ठित मराठे परिवारों की दो लड़कियों के साथ की गई थीं। औरंगज़ेब साहू को शिवाजी का स्वराज्य तथा दक्कन में सरदेशमुखी का अधिकार देकर उसकी विशेष हैसियत को मान्यता प्रदान करने के लिए तैयार था। साहू का स्वागत करने के लिए 70 से अधिक मराठे सरदार इकट्ठे हुए। लेकिन औरंगज़ेब ने अंतिम क्षण में मराठों के उद्देश्यों के प्रति आशंकित होकर इन सभी तैयारियों को रद्द कर दिया।[1]

1706 में औरंगज़ेब को विश्वास हो गया कि मराठों के सभी क़िलों पर क़ब्ज़ा करना उसके बस के बाहर की बात है। उसने धीरे-धीरे अहमदाबाद की ओर लौटना शुरू किया पर रास्ते में मराठों के आक्रमण होते रहे।

इस प्रकार 1707 में औरंगाबाद में औरंगज़ेब ने जब आख़िरी सांस ली तब वह अपने पीछे एक ऐसा साम्राज्य छोड़ गया जो क्षीण पड़ गया था और जिसमें तरह-तरह की आंतरिक समस्याएँ उभर कर सामने आ रहीं थीं।

मुग़ल साम्राज्य का पतन – औरंगज़ेब की ज़िम्मेदारी

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद मुग़ल साम्राज्य का तेज़ी से पतन होने लगा। मुग़ल दरबार सरदारों के बीच आपसी झगड़ों और षड़यंत्रों का अड्डा बन गया और शीघ्र ही महत्वाकांक्षी तथा प्रान्तीय शासक स्वाधीन रूप में कार्य करने लगे। मराठों के हमले दक्कन से फैलकर साम्राज्य के मुख्य भाग, गंगा घाटी, तक पहुँच गए। साम्राज्य की क़मज़ोरी उस समय विश्व के सामने स्पष्ट हो गई जब 1739 में नादिरशाह ने मुग़ल सम्राट को बंदी बना लिया तथा दिल्ली को खुले आम लूटा।

प्रश्न उठता है कि मुग़ल साम्राज्य के पतन के लिए औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद की घटनाएँ किस हद तक ज़िम्मेदार थीं और किस हद तक औरंगज़ेब की ग़लत नीतियाँ? इस बात को लेकर इतिहासकारों में काफ़ी मतभेद रहा है। हालाँकि औरंगज़ेब को इसके लिए ज़िम्मेदार होने से पूर्णतया मुक्त नहीं किया जाता, अधिकतर आधुनिक इतिहासकार औरंगज़ेब के शासनकाल को देश की तात्कालिक आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक तथा बौद्धिक स्थिति और उसके शासनकाल के पहले और उसके दौरान की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

मध्ययुगीन भारत की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का पूरा मूल्यांकन किया जाना अभी बाक़ी है। पहले के अध्याय में हम देख चुके हैं कि सत्रहवीं शताब्दी के दौरान भारत में वाणिज्य तथा व्यापार का बहुत विकास हुआ तथा हस्तकला के माध्यम से निर्मित वस्तुओं की माँग भी बढ़ती गई। इस माँग को तभी पूरा किया जा सकता

[1] कहा जाता है कि औरंगज़ेब ने साहू को इस शर्त पर राज लौटाना स्वीकार किया था कि वह मुसलमान हो जायेगा लेकिन तात्कालिक वृत्तान्त इस बात का समर्थन नहीं करते। अगर औरंगज़ेब साहू को मुसलमान बनाना चाहता था तब वह उस समय कर सकता था जब साहू 13 वर्षों तक उसका बंदी रहा था।

था जब कपास तथा नील जैसे कच्चे माल का भी उत्पादन साथ-साथ बढ़ता रहे। इस काल में मुग़ल सरकारी आँकड़ों के अनुसार उन क्षेत्रों का जहाँ ज़ाब्ती अर्थात् भूमि की नपाई के आधार पर बनाई गई व्यवस्था, का विस्तार हुआ। इस बात के भी कुछ सबूत मिलते हैं कि कृषि योग्य भूमि का भी विस्तार हुआ। यह आर्थिक परिस्थितियों के अलावा मुग़लों की प्रशासनिक नीतियों के कारण ही संभव हुआ। हर सरदार तथा ऐसे धार्मिक नेता जिसे भूमि अनुदान में मिलती थी से आशा की जाती थी कि वह कृषि के विस्तार और विकास में व्यक्तिगत रुचि लेगा। कृषि सम्बन्धित दस्तावेज़ों को सावधानी से रखा जाता था। इतिहासकारों को इन विस्तृत ब्योरों को देखकर आश्चर्य होता है। इनमें हर गाँव के न केवल हलों, बैलों तथा कुंओं की संख्या दी गई है बल्कि किसानों की संख्या भी दर्ज की गई है।

इसके बावजूद ऐसा विश्वास करने के कारण भी हैं कि वाणिज्य तथा व्यापार और कृषि उत्पादन उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ रहा था जितना कि स्थिति और आवश्यकता के अनुसार बढ़ना चाहिए था। इसके कई कारण थे। मिट्टी की घटती हुई उपजाऊ शक्ति को पूरा करने के लिए कृषि के नये उपायों के बारे में लोगों को कोई जानकारी नहीं थी। लगान की दर बहुत ऊँची थी। अकबर के समय से, यदि हम ज़मींदारों तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों के हिस्से को शामिल करें तब यह कुल उत्पादन का क़रीब-क़रीब आधा हिस्सा होती थी[1]। यद्यपि राज्य का हिस्सा अलग-अलग क्षेत्रों के अनुसार अलग-अलग था, अर्थात् राजस्थान तथा सिंध जैसे कम उपजाऊ राज्यों में कम तथा कश्मीर में केसर उत्पादन करने वाले उपजाऊ क्षेत्रों में अधिक था, आमतौर पर लगान इतना अधिक नहीं था कि इसके कारण किसान खेती छोड़ दें। वास्तव में पूर्वी राजस्थान के आँकड़ों से पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में नये गाँव बराबर बसते गये (इससे पहले की अवधि के आँकड़े हमें प्राप्त नहीं हैं)। ऐसा लगता है कि सामाजिक, तथा कुछ हद तक प्रशासनिक, कारणों से कृषि का उतना अधिक विकास नहीं हो पाया। अनुमान लगाया जाता है कि इस काल में देश की आबादी साढ़े बारह करोड़ थी। इसका अर्थ यह हुआ कि कृषि भूमि बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध थी। लेकिन इसके बावजूद हमें कई गाँवों में ऐसे किसानों के बारे में सुनने को मिलता है जिनके पास कोई ज़मीन नहीं थी। इनमें से अधिकतर लोग अछूत वर्ग में समझे जाते थे। खेती करने वाला वर्ग तथा ज़मींदार, जो अधिकतर उच्च जातियों के थे न तो चाहते थे कि अछूत नये गाँव बसायें और इस प्रकार ज़मीन की मिल्कियत हासिल करें और न ही इस बात को कोई प्रोत्साहन देते थे। उनका हित इसी में था कि ये लोग गाँव में अतिरिक्त श्रमिक के तौर पर ही रहें और उनके लिए मृत जानवरों की खाल उतारने तथा चमड़े की रस्सियाँ बनाने जैसे छोटे काम करते रहें। भूमिहीन अथवा ग़रीब (जिनके पास बहुत कम ज़मीन थी) लोगों के पास न तो ऐसा संगठन था और न ही इतनी पूँजी थी कि वे अपने बल पर नई ज़मीन पर खेती कर सकें अथवा नये गाँव बसा सकें। कभी-कभी नयी ज़मीन पर खेती करने के कार्य में राज्य पहल करता था। लेकिन 'अछूत' इसका पूरा लाभ नहीं उठा सकते थे क्योंकि राज्य को इस काम में स्थानीय ज़मींदारों तथा गाँव के मुखियों (मुक़द्दमों) का सहयोग लेना ही पड़ता था और ये, जैसा कि हम देख चुके हैं, दूसरी जातियों के होते थे और अपने ही वर्ग के हितों के प्रति जागरूक थे।

इस प्रकार उत्पादन तो धीरे-धीरे बढ़ा परन्तु शासक वर्ग की आशाएँ तथा उनकी माँगें तेज़ी से बढ़ती गईं इस प्रकार मनसबदारों की संख्या 1605 में जहाँगीर के सम्राट बनने के समय में 2,069 से बढ़कर शाहजहाँ के शासनकाल में 1637 में 8,000 तथा औरंगज़ेब के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में 11,456 हो गई। सरदारों की संख्या इस प्रकार पाँच गुनी हो गई लेकिन साम्राज्य की आय इस अनुपात में नहीं बढ़ी। इसके बाव-

---

[1] अकबर के शासनकाल में आमतौर पर लगान औसत उत्पादन का एक तिहाई हिस्सा था लेकिन इसमें ज़मींदारों तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों का हिस्सा सम्मिलित नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के बाद राज्य का हिस्सा बढ़कर कुल उत्पादन का आधा भाग हो गया लेकिन इसमें ज़मींदारों तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों (जिनमें गाँव के मुखिया इत्यादि शामिल थे)का हिस्सा भी शामिल था।

जूद शाहजहाँ के शासनकाल में एक भव्य काल की शुरूआत हुई। मुग़ल सरदारों के वेतन विश्व में सबसे ऊँचे थे ही। इस काल में उनकी अमीरी और विलासिता और भी अधिक बढ़ गई। यद्यपि कई सरदार वाणिज्य तथा व्यापार में, परोक्ष रूप से अथवा ऐसे व्यापारियों के माध्यम से जो उनके लिए कार्य करते थे, हिस्सा लेते थे फिर भी वाणिज्य तथा व्यापार से होने वाली आय ज़मीन से होने वाली आय का पूरक मात्र थी। इस कारण वे किसानों तथा ज़मींदारों को चूसकर ज़मीन से होने वाली आय को ही बढ़ाने में दिलचस्पी रखते थे।

हमें ज़मींदारों की संख्या तथा उनके रहन-सहन के स्तर के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। ज़मींदारों के प्रति मुग़ल नीतियाँ अलग-अलग थीं। एक ओर तो यह माना जाता था कि राज्य की आँतरिक स्थिरता के लिए सबसे बड़ा ख़तरा ज़मींदार ही हैं, दूसरी ओर स्थानीय प्रशासन को चलाने के लिए बड़े पैमाने पर इनकी नियुक्ति होती थी। इनमें से कइयों—राजपूतों, मराठों तथा अन्य को – मनसब प्रदान किए जाते थे और साम्राज्य के आधार के विस्तार के लिए राजनीतिक पदों पर इनकी नियुक्ति की जाती थी। इस प्रक्रिया में ज़मींदारों का वर्ग बहुत शक्तिशाली हो गया था और वह अब सरदारों की ग़ैरक़ानूनी माँगों को मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं था। न ही किसानों पर लगान का बोझ बढ़ाना आसान था। विशेषकर जबकि उपजाऊ भूमि बड़ी मात्रा में उपलब्ध थी और ज़मींदारों तथा गाँव के मुखियों में अधिक खेतिहरों को अपने यहाँ काम करने के लिए लाने की होड़ लगी रहती थी। ऐसे किसान जो रोज़गार की खोज में एक गाँव से दूसरे गाँव जाते रहते थे उन्हें पाही अथवा ऊपरी कहा जाता था। मध्ययुगीन ग्रामीण समाज के ये एक प्रमुख अंग थे लेकिन इनके अध्ययन पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज़मींदार ज़मीन से अधिक से अधिक कमाना चाहते थे और कई बार ऐसे तरीक़े अपनाते थे जो राज्य द्वारा स्वीकृत नहीं थे। इस कारण मध्ययुगीन ग्रामीण समाज के सभी आन्तरिक संघर्ष उभर कर सामने आ गये। कुछ क्षेत्रों में किसानों के बीच गंभीर असंतोष फैला तथा अन्य क्षेत्रों में ज़मींदारों के नेतृत्व में विद्रोह तक हो गये। कई अवसरों पर इन ज़मींदारों ने स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्य स्थापित करने के प्रयास भी किए। प्रशासनिक स्तर पर भी सरदारों के बीच व्यापक असंतोष तथा भेदभाव फैला और इससे जागीरदारी व्यवस्था में गंभीर संकट पैदा हो गया। अधिकतर सरदारों का यह प्रयास रहता था कि वे अधिक आमदनी वाली जागीर हथिया लें और इस कारण मुग़ल प्रशासन व्यवस्था में भ्रष्टाचार बढ़ता गया। औरंगज़ेब ने ख़ालिसा, अर्थात् राजकीय व्यय के लिए सुरक्षित भूमि, की सीमा को बढ़ाकर इस संकट को और गंभीर कर दिया। उसने दिनों दिन बढ़ते प्रशासनिक खर्चे तथा युद्धों के खर्चे, जो उसके शासनकाल में बराबर होते रहे, के लिए ख़ालिसा को बढ़ाया था।

मुग़लों द्वारा विकसित सरदारों की व्यवस्था मुग़ल काल की सबसे प्रमुख विशेषता थी। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार बिना जातिभेद के मुग़ल योग्य से योग्य व्यक्तियों को अपनी सेवा में आकर्षित करने में सफल हुए थे। इनमें से देश के विभिन्न क्षेत्रों के लोग थे और कुछ विदेशी भी थे। व्यक्तिगत आधार पर बने मुग़लों के प्रशासनिक ढाँचे के अन्तर्गत सरदारों ने बड़ी सफलता से काम किया और देश को काफ़ी हद तक सुरक्षा तथा शान्ति प्रदान की। सरदारों की यह भूमिका सम्राट के प्रति मात्र सेवा भाव थी और ये अधिकतर अपने ही हितों का ध्यान रखते थे। कुछ इतिहासकारों का यह तर्क ग़लत है कि सरदारों का संगठन औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद इसलिए कमज़ोर पड़ गया क्योंकि मध्य एशिया से कुशल लोगों का आना रुक गया। वास्तव में औरंगज़ेब के सिंहासनारूढ़ होने तक अधिकतर मुग़ल सरदार ऐसे व्यक्ति थे जिनका जन्म भारत में हुआ था। ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि इनकी योग्यता का ह्रास भारतीय जलवायु के कारण हुआ। यह तर्क अंग्रेज़ इतिहासकारों ने जातिभेद के आधार पर इसलिए दिया है जिससे वे ठंडे देशों के लोगों द्वारा भारत के आधिपत्य को उचित ठहरा सकें। लेकिन ये तर्क अब नहीं स्वीकार किए जा सकते।

यह भी कहा गया है कि क्योंकि सरदारों का वर्ग ऐसे लोगों का बना था जिसमें कई जातियों के लोग सम्मि-

लित थे, इसलिए उनमें कोई राष्ट्रीय चेतना नहीं थी और उन्होंने राष्ट्रविरोधी कार्य भी किए। लेकिन राष्ट्रीयता की भावना का, उस अर्थ में जिसे हम आज समझते हैं, मध्ययुग में कोई अस्तित्व नहीं था। इसके बावजूद नमक हलाली की भावना इतनी प्रभावशाली थी कि इसी के कारण सरदार मुग़ल वंश के प्रति वफ़ादार बने रहे और उनमें एक प्रकार से देशभक्ति जीवित रही। जैसा कि हम देख चुके हैं, विदेशों से आने वाले सरदारों का अपने स्वदेश से कोई विशेष सम्पर्क नहीं रहता था और उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण मुग़ल भारतीय ही हो जाता था।

मुग़लों ने प्रशासनिक व्यवस्था के हर स्तर पर सावधानी से ऐसे तरीक़े लागू किए जिनसे विभिन्न जाति अथवा धर्म के लोगों के बीच ऐसा संतुलन बना रहे ताकि महत्वाकांक्षी सरदारों अथवा उनके दलों पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखा जा सके। सरदार स्वाधीनता की कल्पना तभी करने लगे जब औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों ने जागीरदारी व्यवस्था में उत्पन्न संकट के कारण प्रशासनिक व्यवस्था को धीरे-धीरे कमज़ोर होने दिया। इस प्रकार मुग़लों का शीघ्रता से विघटन मुग़ल प्रशासनिक व्यवस्था की कमज़ोरी का कारण नहीं बल्कि परिणाम था। यह अवश्य कहा जा सकता है कि मुग़ल प्रशासन बहुत हद तक केंद्रित था और इसकी सफलता अंततः सम्राट् की योग्यता पर निर्भर करती थी। योग्य सम्राटों के अभाव में वज़ीरों ने उसका स्थान लेने की चेष्टा की पर असफल रहे। इस प्रकार इस व्यवस्था के पतन तथा व्यक्तिगत असफलता की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया हुई।

राजनीतिक क्षेत्र में औरंगज़ेब ने कई गंभीर ग़लतियाँ कीं। हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि किस प्रकार वह मराठों के आंदोलन के सही स्वरूप को नहीं समझ सका और शिवाजी को मित्र बनाने की जयसिंह की सलाह अनदेखी कर दी। संभाजी की हत्या उसकी एक और बड़ी ग़लती थी। इसके बाद मराठों का ऐसा कोई प्रभावशाली नेता नहीं बच गया जिससे औरंगज़ेब बातचीत या समझौता कर सकता। उसे विश्वास था कि बीजापुर और गोलकुंडा को अपने क़ब्ज़े में करने के बाद मराठे उससे दया की भीख माँगेंगे और उसकी शर्तों को स्वीकार करने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं रह जायेगा। औरंगज़ेब मराठों के स्वराज्य[1] को छोटा करना और उनसे निष्ठा का वचन चाहता था। जब औरंगज़ेब ने अपनी ग़लती महसूस की और मराठों से बातचीत शुरू की तब चौथ तथा सरदेशमुखी की माँग आड़े आ गई। बहुत हद तक इस बाधा को भी दूर किया गया। 1703 में मराठों और औरंगज़ेब के बीच समझौता क़रीब-क़रीब हो ही गया था लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं औरंगज़ेब शाहू तथा मराठा सरदारों के प्रति अंत तक अविश्वासी बना रहा।

इस तरह औरंगज़ेब मराठों की समस्या का समाधान ढूँढ़ने में असफल रहा और अन्त तक इसका शिकार बना रहा। उसने कई मराठा सरदारों को मनसब प्रदान किए। यहाँ तक कि उच्चतम स्तर पर राजपूत सरदारों की अपेक्षा मराठा सरदारों के पास अधिक मनसब थे। लेकिन इसके बावजूद मराठा सरदारों पर पूरी तरह विश्वास नहीं किया गया। राजपूतों की तरह उन्हें ज़िम्मेदारी अथवा विश्वास का कोई पद नहीं सौंपा गया। इस प्रकार मराठे मुग़ल राजनीतिक व्यवस्था के अभिन्न अंग कभी नहीं बन सके। यदि औरंगज़ेब शिवाजी, संभाजी या शाहू से भी कोई राजनीतिक समझौता कर लेता तो बहुत बड़ा फ़र्क़ पड़ता। मराठों के खिलाफ़ दक्कनी राज्यों को संगठित करने की असफलता के लिए औरंगज़ेब की आलोचना की जाती है। यह भी कहा जाता है कि उन्हें जीतकर औरंगज़ेब ने अपने साम्राज्य को इतना बड़ा कर लिया था कि यह अपने ही भार के कारण ढह गया। शाहजहाँ के ही काल में 1636 की संधि भंग होने के बाद औरंगज़ेब तथा दक्कनी राज्यों के बीच गाढ़ी एकता असंभव थी। सम्राट बनने के बाद औरंगज़ेब दक्कन में पूर्ण विजय की नीति अपनाने से हिचकिचा रहा था। उसने दक्कनी राज्यों की विजय का निर्णय जब तक संभव था, टाला। मराठों की बढ़ती शक्ति, गोलकुंडा के मदन्ना तथा अखन्ना द्वारा शिवाजी को दिए गए समर्थन और इस भय से कि बीजापुर पर शिवाजी तथा गोलकुंडा (जिस पर मराठों का प्रभाव था) का प्रभुत्व क़ायम हो जायेगा, औरंगज़ेब दक्कन में

[1] इस शब्द का प्रयोग मराठी लेखक शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य के लिए करते हैं।

अभियान चलाने पर मजबूर हो गया था। बाद में राजकुमार अकबर को पनाह देकर संभाजी ने औरंगज़ेब को एक प्रकार से बड़ी चुनौती दी थी। औरंगज़ेब ने शीघ्र ही महसूस किया कि बीजापुर तथा गोलकुंडा को क़ब्ज़े में किये बिना मराठों से टक्कर लेना आसान नहीं है।

गोलकुंडा, बीजापुर तथा कर्नाटक में मुग़ल प्रशासन के विस्तार से मुग़ल प्रशासनिक सेवा टूटने लगी थी। मुग़लों के संपर्क साधन भी मराठों के हमलों के लिए खुले थे। यहाँ तक कि इस क्षेत्र के मुग़ल सरदारों के लिए अपनी जागीरों से निर्धारित लगान उगाहना भी असंभव हो गया और कई बार उन्हें मराठों के साथ गुप्त संधियाँ करनी पड़ीं। इसके परिणामस्वरूप मराठों की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ी और उधर साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा। संभवतः औरंगज़ेब यदि अपने सबसे बड़े लड़के शाह आलम की यह राय मान लेता कि बीजापुर तथा गोलकुंडा के साथ समझौता किया जाना चाहिए और उनके कुछ ही क्षेत्रों को साम्राज्य में मिलाया जाना चाहिए तो औरंगज़ेब के लिए बहुत लाभदायक होता। शाह आलम इस पक्ष में भी था कि बहुत दूर होने के कारण कर्नाटक पर प्रभावशाली नियंत्रण रखना असंभव है इसलिए उसे वहीं के अधिकारियों के हाथों में छोड़ दिया जाना चाहिए।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के दक्कनी तथा अन्य युद्धों और उत्तरी भारत से बहुत समय के लिए औरंगज़ेब का ग़ैरहाज़िर होना भी बहुत महत्वपूर्ण कारण थे। औरंगज़ेब ने कई ग़लत नीतियाँ अपनाई थीं और उसमें कई व्यक्तिगत कमज़ोरियाँ भी थीं जैसे, वह अत्यधिक संदेही तथा संकीर्ण विचारों का था। लेकिन इसके बावजूद मुग़ल साम्राज्य बहुत शक्तिशाली था तथा उसकी सैनिक और प्रशासनिक व्यवस्था ठोस थी। मुग़ल सेना दक्कन के पहाड़ी क्षेत्रों में मराठा छापामारों के हमलों का सामना करने में भले ही असफल रही हो और मराठों के क़िलों पर मुश्किल से क़ब्ज़ा कर सकी हो और क़ब्ज़ा कर लेने के बाद उन्हें अधिक काल तक अपने अधीन रखने में असफल भी रही हो लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि उत्तरी भारत के मैदानों तथा कर्नाटक के विस्तृत पठार में मुग़ल तोपख़ाना अभी भी सबसे अधिक प्रभावशाली था। औरंगज़ेब की मृत्यु के चालीस साल बाद भी जब मुग़ल तोपख़ाने की शक्ति और क्षमता घट गई, मराठे खुले मैदान में उसका मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। लंबे समय तक अराजकता, युद्ध तथा मराठों के हमले से दक्कन की आबादी भले ही कम हुई हो और वहाँ का व्यापार, उद्योग तथा कृषि जड़भूत हो गया हो, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि साम्राज्य के मुख्य भाग उत्तरी भारत में, जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था, मुग़ल प्रशासन अत्यंत प्रभावशाली बना हुआ था। यहाँ तक कि ज़िलों के स्तर पर मुग़ल प्रशासन इतना कारगर सिद्ध हुआ कि इसके कई तत्व ब्रिटिश प्रशासन में सम्मिलित किए गए।

सैनिक पराजयों और औरंगज़ेब की ग़लतियों के बावजूद राजनीतिक तौर पर लोगों के दिलो-दिमाग़ पर मुग़ल वंश का प्रभाव छाया रहा।

जहाँ तक राजपूतों का सवाल है हम देख चुके हैं कि मारवाड़ से मुग़लों का संघर्ष इसलिए आरंभ नहीं हुआ था कि औरंगज़ेब ने इस बात का प्रयास किया कि हिंदुओं का कोई प्रभावशाली नेता न रहे बल्कि इसलिए कि नासमझी के कारण उसने दो मुख्य प्रतिद्वन्द्वियों के बीच मारवाड़ के राज्य को विभाजित कर दोनों की दुश्मनी मोल ले ली। इसके अलावा इस क़दम से मेवाड़ का शासक भी उससे क्षुब्ध हो गया क्योंकि वह मुग़ल हस्तक्षेप को बहुत बड़ा ख़तरा समझता था। इसके बाद मारवाड़ तथा मेवाड़ के साथ जो लंबा संघर्ष चला उससे मुग़ल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का पहुँचा। यह बात और है कि 1681 के बाद इस संघर्ष का कोई विशेष सामरिक महत्व नहीं रहा। इस बात में संदेह है कि 1681 तथा 1706 के बीच यदि दक्कन में अधिक संख्या में राठौर राजपूत नियुक्त किये जाते तो मराठों से होने वाले संघर्ष में कोई विशेष अंतर पड़ता। जो भी हो, पहले की तरह राजपूत अधिक मनसब और अपने क्षेत्रों की वापसी की माँग करते रहे। इन माँगों को औरंगज़ेब की मृत्यु के छः साल के अंदर-अंदर स्वीकार कर लिया गया और इसके साथ ही मुग़ल साम्राज्य के लिए राजपूतों की समस्या समाप्त हो गई। इसके बाद साम्राज्य के विघटन

में उन्होंने न तो कोई भूमिका निभाई और न ही वे उसके पतन की प्रक्रिया को रोक सके।

औरंगज़ेब की धार्मिक नीति भी तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखी जानी चाहिए। औरंगज़ेब स्वभाव से बड़ा कट्टर था और इस्लाम के क़ानून के अंतर्गत ही काम करना चाहता था। लेकिन इस क़ानून का विकास भारत के बाहर बिल्कुल विभिन्न परिस्थितियों में हुआ था और यह आशा नहीं की जा सकती थी कि यह भारत में भी कारगर सिद्ध होगा। औरंगज़ेब ने कई अवसरों पर अपनी ग़ैर-मुसलमान प्रजा की भावनाओं को समझने से इन्कार कर दिया। मंदिरों के प्रति अपनाई गई उसकी नीति और इस्लाम के क़ानून के आधार पर जज़िया को दुबारा लागू करके न तो वह मुसलमानों को अपने पक्ष में कर सका और न ही इस्लाम के क़ानून पर आधारित राज्य के प्रति उनकी निष्ठा प्राप्त कर सका। दूसरी ओर इस नीति के कारण हिंदू भी उसके ख़िलाफ़ हो गये और ऐसे वर्गों के हाथ मज़बूत हो गये जो राजनीतिक तथा अन्य कारणों से मुग़ल साम्राज्य के ख़िलाफ़ थे। वास्तव में इस सारी प्रक्रिया में अपने आप में सवाल धर्म का नहीं था। औरंगज़ेब की मृत्यु के छः वर्षों के अन्दर जज़िया को समाप्त कर दिया गया तथा नये मंदिरों के निर्माण पर लगी पाबंदी को उठा लिया गया लेकिन इससे भी साम्राज्य के पतन और विघटन की प्रक्रिया पर कोई असर नहीं पड़ा।

अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुग़ल साम्राज्य का पतन और विघटन आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा संगठनात्मक कारणों के कारण हुआ। अकबर की नीतियों से विघटन के तत्वों पर कुछ समय तक प्रभावशाली नियंत्रण रखा जा सका। लेकिन समाज व्यवस्था में कोई मूलभूत परिवर्तन करना उसके भी बस के बाहर की बात थी। जब तक औरंगज़ेब ने सिंहासन संभाला विघटन की सामाजिक और आर्थिक शक्तियाँ उभर कर और शक्तिशाली हो गई थीं। इस व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन करने के लिए न तो औरंगज़ेब में राजनीतिक योग्यता और न ही दूरदर्शिता थी। वह ऐसी नीतियों के पालन में भी असमर्थ रहा जिनसे परस्पर विरोधी तत्वों पर कुछ समय के लिए रोक लगाई जा सकती।

इस प्रकार औरंगज़ेब न केवल परिस्थितियों का शिकार था बल्कि उसने स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने में योग दिया जिनका वह स्वयं शिकार बना।

प्रश्न-अभ्यास

1. शिवाजी के नेतृत्व में मराठों के उत्थान का वर्णन कीजिए। मराठों की शक्ति को रोकने में औरंगज़ेब को कितनी सफलता मिली?
2. शिवाजी द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन कीजिए। इस व्यवस्था ने मराठा राज्य को सुदृढ़ बनाने में जो योगदान किया, उसका विवेचन कीजिए।
3. दक्कनी राज्यों के प्रति औरंगज़ेब की नीति की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं? मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने की आवश्यकता का इस नीति पर कितना प्रभाव था?
4. सत्रहवीं सदी में किसानों पर बढ़ते हुए शोषण के क्या कारण थे?
5. औरंगज़ेब के काल में ज़मींदारों की स्थिति और उनकी भूमिका का विवेचन कीजिए।
6. औरंगज़ेब की मुख्य कमज़ोरियाँ क्या थीं? मुग़ल साम्राज्य के पतन में उनका कितना हाथ था?

अध्याय 19

मूल्यांकन तथा पुनरीक्षण

आठवीं शताब्दी के आरंभ से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक के हज़ार वर्षों में देश के राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। परिवर्तन सामाजिक जीवन में भी हुए लेकिन ये उतने महत्वपूर्ण नहीं थे।

इस काल में जाति प्रथा को इस्लाम ने बड़ी चुनौती दी। इसके अलावा राजपूत शासकों की राजनीतिक शक्ति का भी ह्रास हुआ जो वर्णाश्रम धर्म, जिसमें समाज की चार वर्गीय व्यवस्था को भी बनाये रखना शामिल था, के पालन को अपना कर्त्तव्य समझते थे। यद्यपि नाथ पन्थी जोगियों तथा भक्ति आंदोलन के सन्तों ने जाति प्रथा की कड़ी आलोचना की तथापि उनका कोई विशेष असर नहीं हुआ। कालांतर में समाज में एक समझौता सा हो गया। इन संतों द्वारा की गई जाति प्रथा की आलोचना, कुछ एक को छोड़कर, रोज़मर्रे के जीवन पर लागू नहीं थी और दूसरी ओर ब्राह्मणों ने इस बात को स्वीकार कर लिया कि भक्ति मार्ग के माध्यम से सभी जातियों के लोग, और विशेषकर शूद्र, मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ब्राह्मणों ने विशेषाधिकारों का अपना दावाए बनाए रखा तथा धर्म-प्रसार तथा शिक्षा इन्हीं का क्षेत्र बना रहा।

जाति प्रथा के अंतर्गत हिंदू धर्म में कई क़बीलाई वर्गों के शामिल हो जाने से नई-नई उपजातियों का जन्म हुआ। इसका कारण यह भी था कि नए रोज़गारों को लेकर नये-नये वर्ग बन गये थे तथा प्रांतीय और क्षेत्रीय भावनाओं ने और ज़ोर पकड़ लिया था। इसके अलावा आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति के अनुसार जातियों की प्रतिष्ठा घटती बढ़ती रहती थी। इस संदर्भ में राजपूत, मराठे तथा खत्री उल्लेखनीय हैं।

सूफ़ी तथा भक्ति मार्ग के संतों ने हिंदू धर्म और इस्लाम के मूलभूत तत्वों को और अच्छी तरह समझने में मदद दी और इस बात पर ज़ोर दिया कि दोनों धर्मों के बीच कई समानताएँ हैं। इससे सहिष्णुता तथा मेल-जोल की भावना बढ़ी यद्यपि संकीर्ण तथा असहिष्णुता की भावनाओं को फैलाने वालों का भी ज़ोर बना रहा। ये कभी-कभी राज्य की नीतियों को भी प्रभावित करते रहे लेकिन आमतौर पर ऐसे अवसर कम थे।

सूफ़ी तथा भक्ति मार्ग के संतों ने धर्म के प्रति विचारधारा में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में सहयोग दिया। उन्होंने रीति रिवाजों की अपेक्षा सच्चे विश्वास पर अधिक ज़ोर दिया। उन्होंने प्रांतीय भाषाओं तथा साहित्य के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। यह अवश्य था कि धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर अत्याधिक ज़ोर देने के कारण विज्ञान के विकास में बाधा पड़ी।

कुल मिलाकर स्त्रियों की स्थिति और बिगड़ी। पर्दा प्रथा अधिक मज़बूत हुई। हिंदू महिलाएँ मुसलमान स्त्रियों की तरह पुनर्विवाह तथा अपने पिता की जायदाद में हिस्से

का दावा नहीं कर सकती थीं। यहाँ तक कि मुसलमान स्त्रियों के भी यह अधिकार धीरे-धीरे घटते गये।

राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन, तुर्कों और बाद में मुग़लों द्वारा स्थापित देश की राजनीतिक एकता थी। यद्यपि तुर्की तथा मुग़ल प्रशासन व्यवस्था अधिकतर उत्तरी भारत तक ही सीमित रही, अपरोक्ष रूप से भारत के अन्य भाग भी इससे प्रभावित हुए। चाँदी के आधार पर ढाले गये सिक्कों की व्यवस्था, सड़कों तथा सरायों के निर्माण, तथा शहरी जीवन की ओर लोगों के आकर्षण का व्यापार तथा हस्तकलाओं पर अत्यंत प्रभाव पड़ा। व्यापार तथा हस्तकलाएँ सत्रहवीं शताब्दी में अपने चरमोत्कर्ष पर थीं। मुग़लों ने राजनीतिक एकता के साथ-साथ ऐसे शासक वर्ग की स्थापना की चेष्टा की जिसमें हिंदू तथा मुसलमान दोनों शामिल थे। इसके बावजूद शासक वर्ग अधिकतर ऊँचे घरानों तक ही सीमित था तथा निम्न वर्गों के बहुत कम लोग योग्यता के आधार पर उन्नति कर सकते थे। मुग़ल शासक वर्ग का वर्गीकरण बड़ा सुसंगठित था और यह अंततः सम्राट पर निर्भर था। इस वर्ग की आय ऐसी ज़मीन से होती थी जिस पर किसान-मालिक खेती करते थे। लगान उगाहने के लिए शासक वर्ग अपनी सेना या फिर ज़मींदारों की शक्ति पर निर्भर रहता था। उधर ज़मींदारों के समर्थन के लिए राज्य की ओर से उनके अधिकारों या विशेषाधिकारों को संरक्षण प्रदान किया जाता था। यही कारण है कि कई इतिहासकार मध्ययुगीन भारत के राज्य को बुनियादी तौर पर सामंतवादी समझते हैं।

तुर्कों की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में देश को मंगोलों के आक्रमणों से बचाना थी। बाद में भी 200 वर्षों तक मुग़ल भारत की पश्चिम सीमा को विदेशी आक्रमणों से बचाने में सफल रहे। इस उद्देश्य से वे मध्य तथा पश्चिम एशिया की राजनीति पर कड़ी नज़र रखते थे तथा उसमें कभी-कभी सक्रिय हिस्सा भी लेते थे।

मसालों के देश के रूप में भारत की प्रसिद्धि, पूर्वी विश्व में, जिसमें पूर्वी अफ्रीक़ा भी शामिल था, तथा कपड़ा उद्योग में इसकी प्रमुखता के कारण यूरोप के देशों ने भारत के साथ सीधा व्यापार संबंध स्थापित करने की चेष्टा की। यद्यपि पूर्वी व्यापार की कुछ वस्तुओं पर पुर्तगालियों के एकाधिकार तथा समुद्र मार्ग के व्यापार पर उनके अधिकार से भारतीय वाणिज्य तथा व्यापार को नुक़सान पहुँचा, बाद में डच तथा अंग्रेज़ व्यापारियों ने पुर्तगालियों के इस एकाधिकार को तोड़ दिया। इस तरह उन्होंने कपड़ा, नील तथा शोरे के लिए यूरोपीय बाज़ारों को तैयार किया। ये चीज़ें इसके पहले यूरोप नहीं जाती थीं। इस प्रकार भारत का तेज़ी से बढ़ते हुए यूरोपीय बाज़ार के साथ और निकट का संबंध हो गया। इसके बावजूद शक्तिशाली नौसेना तथा सुसंगठित व्यापारिक बेड़े के अभाव में भारतीय व्यापारी तथा निर्माता इस नये व्यापार के मुनाफ़े का अधिक लाभ नहीं उठा सके। दूसरी ओर पूर्वी व्यापार से होने वाले फ़ायदे को देखकर यूरोपीय राष्ट्रों का लालच बढ़ता गया। क्योंकि उनके पास पूर्व से आयात होने वाली वस्तुओं के बदले में देने के लिए मध्य तथा दक्षिण अमेरिका के खानों से निकाले गए सोने-चाँदी के अलावा कोई विशेष चीज़ें नहीं थी, इन यूरोपीय व्यापारियों ने अपनी सरकारों की मदद से भारत के आंतरिक व्यापार में हस्तक्षेप करने की चेष्टा की। कई अवसरों पर वे भारतीय क्षेत्रों पर नियंत्रण करने की इच्छा रखते थे ताकि यहीं की आय से ही वे भारतीय वस्तुओं का मूल्य चुका सकें। जब तक मुग़ल साम्राज्य शक्तिशाली था, यूरोपीय राष्ट्र अपने इन दोनों उद्देश्यों में सफल नहीं हो सके। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल साम्राज्य के पतन तथा भारत में महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन (जैसे नादिरशाह और बाद में अफ़ग़ानों के आक्रमण) के अलावा यूरोपीय देशों में तेज़ गति से होते हुए आर्थिक विकास (जिससे औद्योगिक क्रांति आरंभ हुई) के कारण इन देशों के लिए भारत तथा कई अन्य एशियाई देशों पर अपना प्रभुत्व क़ायम करना संभव हो गया।

यद्यपि विद्वानों ने मुग़ल साम्राज्य के पतन तथा विघटन के कारणों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है, इस बात पर अधिक अध्ययन और अनुसंधान की आवश्यकता है कि भारत तथा अन्य एशियाई देश भी यूरोपीय देशों की तरह आर्थिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में तेज़ी से क्यों नहीं प्रगति कर सके। हम देख चुके हैं कि नौसैनिक क्षेत्र में

अपनी कमज़ोरी के कारण किस प्रकार भारत अपने आंतरिक व्यापार की वृद्धि का पूरा लाभ नहीं उठा सका। तुर्की तथा मुग़ल शासक वर्गों की समुद्र व्यापार में कोई दिलचस्पी नहीं थी और न ही इसकी कोई परंपरा थी। यद्यपि मुग़लों ने विदेश व्यापार के महत्व को बहुत जल्दी समझ लिया था, और इस कारण उन्होंने यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों को संरक्षण तथा प्रोत्साहन भी प्रदान किया था, तथापि राष्ट्र के आर्थिक विकास में नौसेना के महत्व को वे नहीं समझ सके।

नौसैनिक क्षेत्र में भारत की कमज़ोरी इस बात का सूचक थी कि भारत विज्ञान तथा तकनीक के सभी क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ था। यहाँ तक कि यांत्रिक घड़ी से, जिसके कारण गतिविज्ञान में इतने आविष्कार संभव हो सके, भारत सत्रहवीं शताब्दी तक परिचित नहीं हो सका। तोप और बारूद के क्षेत्र में यूरोपीयों की श्रेष्ठता मानी हुई बात थी। यहाँ तक कि जहाज़ निर्माण जैसे कुछ क्षेत्रों में जब भारतीय कारीगरों ने यूरोपीय की नक़ल करने की चेष्टा भी की, उन्होंने नये आविष्कारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस संदर्भ में शासक वर्ग के दृष्टिकोण की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। इसके अलावा सामाजिक व्यवस्था, ऐतिहासिक परंपराएँ तथा समाज के अन्य वर्गों का दृष्टिकोण भी बहुत महत्वपूर्ण था। अतीत के ज्ञान पर बहुत ज़ोर दिया जाता था और इसके ज्ञाताओं—ब्राह्मणों तथा मुल्लाओं—की बड़ी प्रतिष्ठा थी। अकबर ने पाठ्यक्रम में विज्ञान तथा अन्य आधुनिक विषयों को शामिल कर उसे आधुनिक रूप देने की चेष्टा की पर उसे इन धार्मिक तत्वों के सामने हार माननी पड़ी। क्योंकि भारतीय कारीगर बड़े कुशल थे और बड़ी संख्या में उपलब्ध थे, इसीलिए भी उत्पादक कार्यों में मशीनों के प्रयोग को प्रोत्साहन नहीं मिला।

इस प्रकार विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्रों में भारत अन्य देशों से पिछड़ता गया और मुग़ल शासक वर्ग इस प्रक्रिया से बिल्कुल अनजान बना रहा। जैसा कि पतन होने वाले सभी राज्यों में होता है, इस काल का मुग़ल शासक वर्ग भी उन्हीं बातों में दिलचस्पी रखता था जो उसके तात्कालिक महत्व तथा विलास की थीं। भविष्य को निर्धारित करने वाली बातों के प्रति उसकी कोई रुचि नहीं थी।

इसके बावजूद हमें इस काल में विभिन्न क्षेत्रों में भारत के विकास की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। इस दौरान राजनीतिक एकता के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक एकता भी मज़बूत हुई। भारतीय समाज विश्व के उन बहुत कम समाजों में था जो जाति, धर्म तथा भाषा की विभिन्नता के बावजूद एक समान संस्कृति का विकास कर सका था। यह सांस्कृतिक एकता इस काल की रचनात्मक कलाओं के ज़बरदस्त विकास से स्पष्ट है। जिसके कारण ही इस युग को द्वितीय क्लासिकी युग कहा जाता है। दक्षिण में विजयनगर राज्य ने चोल शासकों की परम्पराओं को जीवित रखा। विभिन्न क्षेत्रों में सांस्कृतिक विकास में बहमनी साम्राज्य तथा उसके उत्तराधिकारी राज्यों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत के क्षेत्रीय राज्यों की सांस्कृतिक उपलब्धियों का मुग़लों ने नये सांस्कृतिक स्वरूप के साथ समन्वय किया। यह अवश्य है कि इस सांस्कृतिक एकता को दोनों धर्मों के संकीर्ण दृष्टिकोण वाले कट्टर पंथियों ने आघात पहुँचाया। इसके अलावा शासक वर्ग के सदस्य जो अपने हितों के प्रति ही जागरूक थे, उन्होंने भी इस प्रक्रिया में बाधा डाली। लेकिन इन बाधाओं के बावजूद यह परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक जीवित रही और यह उन सभी संतों, विद्वानों तथा योग्य शासकों की महान उपलब्धि थी जिनके कारण यह परम्परा ढली।

यह काल आर्थिक विकास की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण था। व्यापार तथा निर्माण के प्रसार के अलावा कृषि का भी प्रसार हुआ। लेकिन विभिन्न अवधियों में और विभिन्न क्षेत्रों में विकास एक जैसा नहीं था। गंगाघाटी क्षेत्र में मुग़ल, कर द्वारा उगाहे गये साधनों का अधिकतर हिस्सा खर्च करते थे इसलिए इस क्षेत्र का विकास स्वाभाविक था। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में जिन अन्य क्षेत्रों का विकास हुआ उनमें गुजरात, कोरोमाण्डल तट तथा बंगाल प्रमुख थे। शायद यही कारण है कि ये क्षेत्र आधुनिक काल में, और विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर काल में, देश के आर्थिक विकास में सबसे अधिक आगे रहे हैं।

यदि मुग़ल साम्राज्य का पतन नहीं होता तो क्या भारत की आर्थिक प्रगति अधिक होती रहती और क्या यहाँ औद्योगिक क्रान्ति हुई होती ? इस प्रश्न के उत्तर के बारे में केवल अनुमान लगाया जा सकता है। शायद मुग़ल साम्राज्य तब तक अपने विकास के शिखर पर पहुँच गया था। साम्राज्य के सामन्ती स्वरूप तथा शासक वर्ग द्वारा विज्ञान तथा तकनीक की अनदेखी से देश की आर्थिक प्रगति पर शायद पहले ही सीमा बंध चुकी थी। लेकिन बरतानवी शासन के अधीन भारत का जिस प्रकार से विकास हुआ, उसकी गति और उसके स्वरूप का विश्लेषण आधुनिक भारत पर इतिहास की पुस्तक में होगा।

प्रश्न-अभ्यास

1. भारत में मध्यकाल में हुए सामाजिक परिवर्तनों का विवेचन कीजिए।
2. भक्ति सम्प्रदाय के संतों और सूफ़ियों का मुख्य योगदान क्या था ?
3. तुर्क सुल्तानों और मुग़ल बादशाहों की मुख्य राजनीतिक उपलब्धियाँ क्या थीं ?
4. मध्यकाल में विज्ञान और प्राद्योगिकी के क्षेत्र में भारत के पिछड़ेपन के क्या परिणाम हुए ? विवेचन कीजिए।

मानचित्र

भारत सोलहवीं सदी के शुरू में

मुग़ल साम्राज्य 1605 ई० में
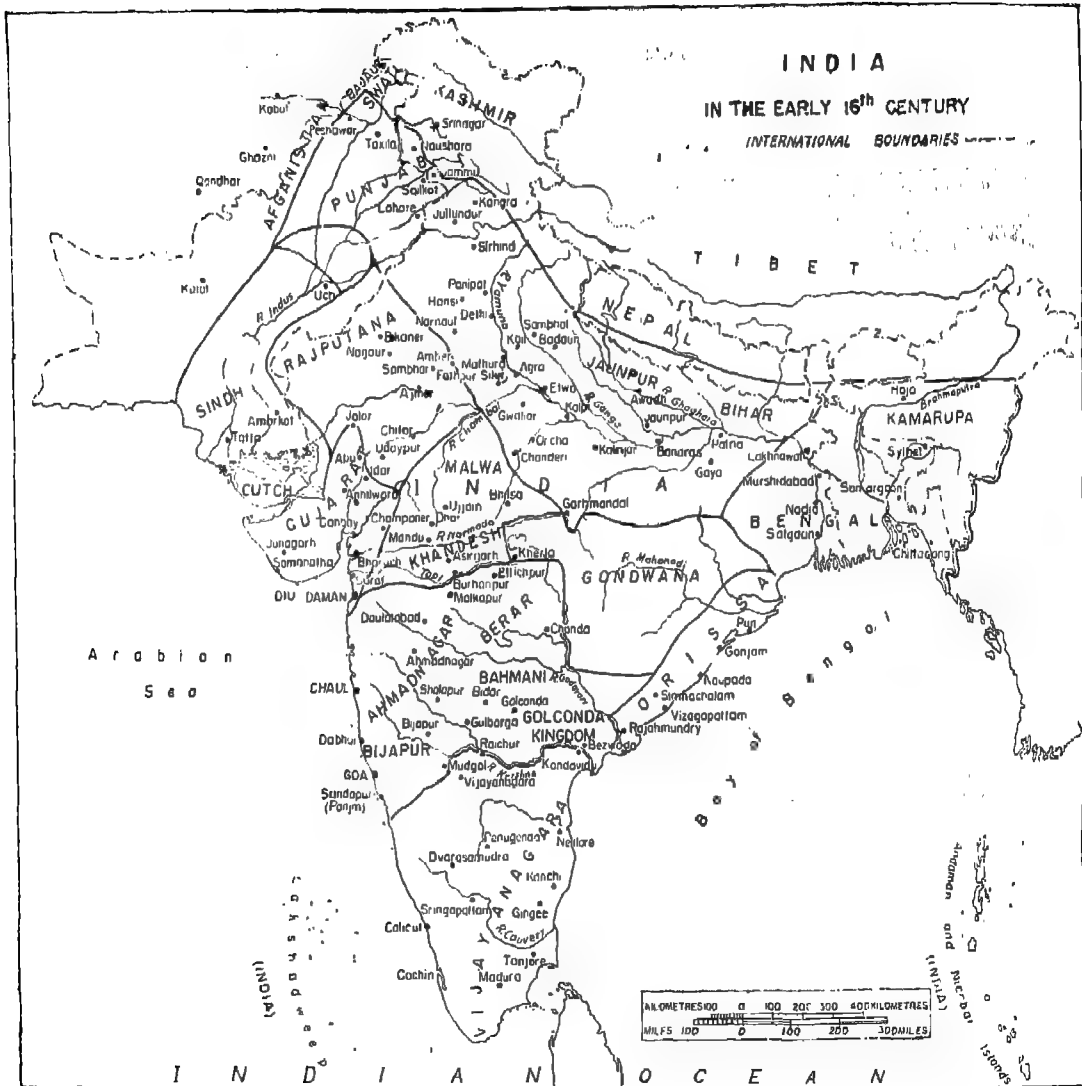
Based upon Survey of India map with the permission of the Surveyor General of India.

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

मुगल साम्राज्य, सत्रहवीं सदी के अन्त में

at your desk at home, where you can refer to them in preparing examinations, or for other years. But don't let your book get too fat. You don't want to lug paper every week.

(4) *Coming.* After this divider you keep a half-dozen blank pages for quick notations in class: when they voted to have a tea, to have a committee meeting Anything that arises in class which you will want to know quickly, is swiftly jotted here. This may not be the neatest part of your notebook, but it will often be the handiest. If you make a promise, even a little one, jot it down, and be sure to look at this page when preparing It will settle lots of arguments. It will help you remember materials: "New paste. Nat'l Geog. on Siam Letter from M. Gold stars. 2 scissors." Here will be written any assignments, too: pupil's name and what he agreed to do or bring. Above all, jot down any long-range matters which seem shaping up in the project manner: "More information about making the panel." "Date at Orphans' Home for our visit" "Get a parent to help on exhibit"

Don't trust your memory, in the busy confusion of being "on location" with your children. Jot anything down in the "Coming" pages.

(5) *Memory Work.* Memory items are scattered all through the lessons. No matter how inadequate may be your printed texts, they call for *something* to be memorized. And since you cannot often accomplish on the set day the exact or whole item required, you can keep your materials here, for drill when convenient. Some schools and a few dioceses set up a complete year's schedule of required memory work for each grade, and if that is your case, you will wish this material ready at hand Have all memory items typed completely in this last section of your notebook. Then you can turn to a given item—the psalm, the prayer, the portion of catechism, or whatever—at an instant's notice, and start a drill without delay.

You might allow each child to write his name on the margin of the page in your book, as a proud record (and convenient for you, too) of his achievement. Of course, your goal is to have *every* pupil learn every prescribed item, not just hit at it, by the end of the year Your children will be interested in memorizing if you go back to it repeatedly, if only for a few moments each week.

The foregoing plan, with its five divisions, is the "standard teacher's notebook," as I have worked it out in my parishes. Sometimes it has been provided for all teachers, ready to use. But it is better—if you take a tip from the educational methods advocated throughout this book—for each teacher to decide to set up his own notebook, and then to figure out the details in his own way. The best ones will, anyway. The poor ones don't even know how to use crutches.

There are possibilities of divisions beyond these five. For example. For My Own Growth (lists of books you want to get) Pictures. Cartoons Inspirational Clippings Stories which Illustrate Strong Quotations. Poems that Inspire Christian Leaders Wholesome Humor. Prayers. Such a scheme makes of your book almost a working file, but it will not be a burden if you feel the urge.

Personally, I think it is enough to have a mysterious back section or folder called "Reserve Ammunition." Here you may look, when, in some hard-pressed moment to hold the line of interest, you want something vital, different—and you want it *now*

Will you consider starting a good, workable notebook now? You will be teaching for many years, you know. Each lesson period is a small front-line battle. Do you wish to advance to it barehanded, without any weapons, your gear all snarled up? Or will you be fully prepared to establish a beachhead and be ready to advance into the fray when opportunity presents itself?

10. YOUR LESSON OUTLINE

Mrs. Van, a new teacher, showed me her lesson outline for next Sunday She laughed a little apologetically as she handed me merely a small white card on which were a few headings in her own small, clear hand I read:

Sun. aft Epiph—Jan. 7

1. Lord's Prayer with pauses.
2. Six phrases for poster (on blackboard)
3. Hallowed. Discuss "Wonderful things"
   (Read to them. I Wonder . .)
4. Saying Thank You Ps 67·3-4, 98 4-6.
5. Grace at meals Drill
6. Start writing our Litany.
   (Drill on season Epiph yesterday)

"I have the second grade," she reminded me, "and last Sunday we started on a new Christian Education Unit called *We Talk With God*. It's nice to start on an entirely different topic after Christmas."

When asked to explain further the mysterious code on her card, she told me, "It's just a final summary, to help me in class so I won't forget what I've planned to do. I make it out after I have prepared my lesson"

"You see," she went on, "the children decided last week to make posters about the Lord's Prayer I thought we would open by saying the Prayer together, but pausing to mark the different sections That's number one on the card Then, right after they are seated, I plan to follow up that idea, asking how we might divide the Prayer for posters. I intend to go to the board (they write so poorly) and write the Prayer, separating it into six parts, each one to be the subject of a separate poster. We'll number them, and begin to study each for ideas that we could show in some picture or symbol But we won't start work on the posters this Sunday.

"The rest of the outline is the same. Just enough to help me remember my plan. If I don't have it before me, we might not get anywhere before the time is up."

The only other material this teacher had was a sheet on which she had copied a poem, some verses from the psalms, and sample of a short Litany Thus equipped, she could have her hands free, need not fumble with any books and markers, and could hold the attention of every child, every minute

Before you come to class, you must not only have been through your lesson carefully, but must have *thought it through*, in your own mind, as a plan of action What shall I do first? What next? When shall I introduce some activity? Your lesson, as finally enacted around the class table, will be a continuous performance in which either the teacher stage-manages well, or the pupils (demoniac possessed) run away with the show. There will be no repeat performance. This one hour (much less, in most parishes) is yours out of eternity. In this short time, impressions may be made, steps taken, and thoughts started, which may change the whole course of many lives. Theory, and fine moralizing? But it's true. *This hour is yours*

The outlines or "session plans" provided in some published texts can never anticipate the conditions of your class, this Sunday. The editor is, in a sense, an irresponsible party, quite academic He doesn't have to meet with *your* boys. He is far from the firing line Such printed outlines help, if only as a start for your own plan For one thing, you will have to reject certain items And your own ingenuity (you have plenty of it, I hope) will always cause you to put in ideas and material from your own experience bins After all, the editor is only a human being who has been asked, (or, in these latter days, more likely has rushed in) to write the script for the course or unit What has become of the sincere challenge in the printed line which used to appear in the title page of all the Christian

Nurture Series, "For trial use, in the hope that the experience of teachers, through the leading of the Holy Spirit, may constantly enrich and improve the course"? The earnest teacher, in her class, is the real test-pilot for any printed text You, too, can edit a course Any thoughtful and sincere teacher can make up a good lesson—and should, more often than is the case.

But a little more about working outlines. The teacher who comes to the class period with no clear plan or intention only courts another failure or mediocre lesson. Either he has an outline on paper, or a memorized plan in his head A few people, it is true, accustomed to public appearance, can so marshall their materials mentally that they know exactly what they will do, and in the performance will carry through almost exactly as planned. They have made the inward decision, "I will do this first, then tell this story, and leave time for that activity at the end."

Yet for most teachers a written outline is necessary. It is the evidence of one's preparation—a weapon ready at hand in all unforeseen surges of the class movement It gives balance and proportion to the timing Kept in one's notebook, it serves as a reminder for improvement, and a ready record of preceding Sundays. Your outline will be your own, in your own manner. One teacher, being eye-minded, used colored pencils and symbols to catch his eye on his outline. Here is another sample, which stresses *places* and *movement* about the class-room. (It is from Christian Nurture, 7th grade.)

Standing, silent. Pause Then class prayer together.
Seated in circle (a) call for reports: John size of Sea of Gal Wilbur, def of a miracle
(b) Tell, "A Busy Day" [Outline on other side of card]
(c) Discussion. What makes us well? Health Knowledge. Why could our Lord heal? His power over nature (the storm)
Go to table Work on lantern slides.

It is clear that this teacher had discovered the advantage of a change of place and position to relieve restlessness and increase interest. Besides the usual elements, he thought out carefully the handling of his group, like a squad at drill

Another teacher, having seen his finest efforts wasted by the time running out, planned everything to the minute. He claimed that he could stick to his schedule almost exactly. Here is one of his outlines It is on Church History, based on Bishop Wilson's *The Divine Commission.*

9.50—Open Discuss What is a monk? a nun?
A young Egyptian 250 yrs before Christ (Anthony). Discuss Anthony's decision. Have a pupil read S Matt 19 16-23 (Rich Young Ruler).
Is this a call for everyone? Tell story St Martin & cloak. Story of St Anthony and his followers
10 05—Pass out workbooks Study and write p 45
10 20—Close workbooks. Discuss life in a monastery. prayers—work—manuscripts—teaching Then write p 47.
10·40—Memory drill.

Notice how this teacher thought out just when to give out the workbooks, when and what to write in them, and when to close them for a time of talking He knew, perhaps from sad experience, how having workbooks in hand can prevent effective teaching, and make class activity monotonous, with much resultant restlessness. It is the great curse of workbooks that they defeat the very objects they were invented to accomplish, and they notoriously make lazy teachers, who do little preparing But as solid material for a variation of manual work (writing) and some self-expression, they may have their place. But that place is only now and then, and for part of a page. And never, never Sunday after Sunday.

"Must I always make an outline?" asks the new teacher. The answer might well be, "Yes, every Sunday for at least two years." After that, your experience may carry you through a

studied variation of these elements: listen; discuss; make, act; write; drill—each in the right proportion and order. Outlines are best *always,* if you ask me, till death do us part And that means a *fresh* outline, even on a familiar course—not using last year's cold card If I catch you with the textbook in your hand, I'm almost certain you did not prepare; if you have your outline, I'm sure you did

Possibly the greatest value of a plan, whether written or formed mentally, is that you must make up your mind—*your* mind for *your* pupils Those precious forty minutes are the one time in a whole week, when the Church, through you, has her chance Textbooks are increasingly suggestive, less and less worked out into the last detail. Editors more and more require that the teacher shall adapt, digest, select, condense, arrange, and invent material. In the planned presentation he must use every device which imagination, experience, ingenuity, and charm can devise. *That* is teaching!

Your outline, then, is a little script for a well prepared drama, with a limited cast, and a minimum of discordant sound-effects. Better to say, "It says here," than, "I wish you'd behave!"

11. THE FINISHING TOUCH

The last section gave some practical suggestions about making your working outline to use in class. This is on the side of teaching skill and efficiency. Yet ours is not ordinary teaching, as in the secular school classroom. This is for eternity This is "for keeps" St. Paul, a keen student and speaker, but a better pastor, knew that knowledge shall vanish away. He had found that only the living touch of love endures.

The Church teacher is the living exponent of Christian love. Somehow, with whatever tools he is given or can contrive, he

must *get through* to the heart of his pupils. And in this he does not have to work alone But he must learn how to work with God, how to allow his Lord to stand at his shoulder. After all your ordinary preparation, you must vitalize it with your personal desire to accomplish *some spiritual impression.* Study over, outline made, boiled down, ready to pour, ask yourself, "Why am I teaching this? What will be the tone and quality of this class period?"

May I make a suggestion—rather timidly, for it is rather personal? It is this: When you are saying your night prayers on Saturday, *pray your lesson* for tomorrow to God It is so simple, and natural.

You can pray, "Dear Father, here is our lesson, filling my mind. There is so much to it, and I'm dreadfully keen to have them respond. Is this the right way? First, we'll say the Lord's Prayer together. Then we'll talk about the posters . . . then about all the wonderful things in the world. . . . I must find *their* words to express the idea that *admiration* passes into wonder and worship And I must have them say (not just tell them) that You made them all. I'm going to read them that verse in the textbook about 'I wonder so at many things' . . then the points on saying Thank you . . . and the drill on grace at meals If we have time, we'll start the new litany . and mention Epiphany.

"But, dear Father, keep it all simple and real. Keep me keen and alert. (Help me not to lose patience with Eddie!) And help me to love them all, for Jesus' sake. Amen."

Then a little miracle will happen, as you relax, feeling "quite good in bed, kissed, and sweet, and your prayers said" (in the words of Francis Thompson). During the night, as you sleep, God will iron out the kinks in your outline, and touch it alive through your dedicated mind. When you get to class, everything will go well. For it is His lesson, and they are His children.

V. SPECIAL PROBLEMS

1 THE BAD CHILD

At a staff meeting the teachers are comparing notes.

"This year, mine are all angels, for some reason "

"That's because that Schwartz child moved away. I had him last year, and believe me, the class was one long nightmare," said another teacher.

"Well, I'm getting Freddie tamed," adds another "But it takes most of my attention. I make him sit right beside me, and I grab him if he moves." So speaks a determined man teacher, who has at last been touched in his pride, realizing that an eight-year-old boy has practically defeated him (a World War captain) and made him appear weak if not ridiculous.

It is such pupils who take the fun out of teaching. They also serve as barometers of our work. We might "get by" with commonplace teaching and casual preparation most of the year, giving the appearance of success with a group of quiescent children. But the troublesome child exposes us. He shows, by his extreme vitality, that we have been merely passing the time, not really teaching.

Yet, allowing for a few of the most extreme cases, *a good teacher can teach any child*. He can, because that is teaching You are not invited to put on a performance before a prim little audience. You are given, each term, a handful of personalities Each child is your problem, and each can be solved There is no answer in the back of the book, but there is a solution somewhere. The finding of it may take more time,

experiment, and wisdom than you are able or willing to give. This is one of the challenges of teaching

There are several types of problem children who cause their teachers annoyance and chagrin. Each calls for a different treatment Some cases are serious, deep rooted. Some are superficial, readily cured by a swift touch of adult purpose and direction. We can readily distinguish several types of troublesome children

(1) *The overactive child*—Activity is the most normal characteristic of childhood, and with that we must deal all the time. But there are the few who, by temperament or native nervous constitution, seem to be always in motion. They seem to be over-stimulated, driven always by some consuming urge to do and to be, to demand and to talk, to show off, to compel attention. A few are just extremely "nervous," but many of this type probably lack self-discipline and are on the way toward becoming emotional problems later in life. As teachers, we can only be very patient with them in class, giving them activities that will hold their interest while winning their respect. At the right moments we may have to use strong discipline, starting some self-control by showing the pattern of some stronger will, and a better purpose. For these pathological children the school may have to find expert psychiatric guidance, and close co-operation with the parents.

(2) *The overnoticed child*—Some would call him simply spoiled He has had too much attention, and has learned to enjoy it and to seek it Not securing the notice he craves, he may work for attention in all sorts of unpleasant ways. This is often a superior child, with sensibilities misdirected. He needs activities of service, to make him aware of the needs and reactions of others, and the wholesome satisfactions of praise for worthy achievements. He needs quiet and earnest handling, to be led into feeling his place in the group life, and the deeper

joys of real achievement and well earned praise. When naughty, his case may be only accentuated by too much attention. He may need only a definite job, such as class secretary, and the experience of responsibility.

(3) *The malicious child*—You may argue that there is no such creature, that children act from impulse. But we who have taught know of cases which, at least at the moment, can only be accounted as malicious and ill willed They may have been started off on the wrong attitude toward the teacher and the school. They may have discovered, early in their times at Sunday School, the fun of doing tricks and plaguing the adult leaders, until they were definitely in a position of active enemies of the administration

Now and then we find a child who does unpleasant things, and we know these call for swift and decisive measures Usually he has enough intelligence to respond wholesomely to just punishment Yet the better way, it must be admitted, is to win his good will and co-operation. And that, brethren, takes real leadership, time, and love Miss Morton said, "I'm going to get that boy *on my side*, and then I'll have a marvelous class!" And she did, within two months.

(4) *The overbright child*—Let the interest lag, let the simple lesson run out, and your bright child becomes the trouble-maker He has done the writing, copied the prayer, filled in the blanks, or pasted the picture. "What'll I do now?" He provides the answer by getting into mischief. To balance the tempo of your class movement between these super minds and the dullest is a feat often taxing the skill, patience, and zeal of a veteran

In all the foregoing, the rule is: Work at difficult cases *outside of class*. Make your special plans; anticipate the troublesome, individual misconduct. "If he starts it this Sunday, I'll send him straight to the superintendent, and he will be prepared to spend

some time with him " Above all, work with the parents, who are truly eager to have their children turn out well, or at least to make a good impression. A frequent talk with a mother over the phone is a great comfort, and produces surprising results

In any event, work for a solution, do not allow the misconduct to continue, undermining the tone of your class, and wasting all your nervous force. The bad child may have to be removed from the class, by being given some invented task or sphere of activity, in order to save everything. But he is *your problem*, and if, by now, you are the teacher I think you are, you will solve it—or him.

2 THE PERSONAL CONFERENCE

A new word that has burst upon the educational horizon is *guidance*. Returning servicemen are to have guidance. Students are to be studied as cases, and given guidance. The method employed is largely the device of the personal interview in which the adviser and the student or veteran go through a prescribed routine, and notes are taken for the file.

The weak point in the scheme is apt to be the person of the leader, who is entrusted with the delicate task of drawing out the other, and presumably helping him make some constructive decisions He is supposed to provide information, wisdom, and inspiration Whether the system will work only time can tell But certainly individuals need personal attention, whether mechanized or informal, and it is now recognized that teachers should provide this for their pupils.

This may well be the special rôle of the consecrated and mature Church teacher. He knows his sheep, and they know him The week-by-week companionship of the class circle has

paved the way for intimate moments of talk. At moments both unexpected and planned, the teacher has opportunity to enter into the special personal problems of his little group.

We have had a large emphasis on the class. We have prepared for the lesson, we calculate the timing of the class-period, the group activity, the project arising from the common mind, and completed by joint efforts.

Many a teacher will arrive just in time for the class, and dash away immediately after its close All this has tended to make teachers forget that all the time they are dealing with lone individuals. The group method of teaching is an economy, and in some ways a necessity for teaching. But all the time it is Tommy and Helen and Wilbur and Carolyn who go back to their own homes, and whose growing character is our real problem.

Consider the special opportunity of the Church teacher. The public school teacher has thirty to fifty, while he has only ten or a dozen. The former cannot follow up individuals. But the Church teacher can single out his children for special moments, can deal with their personal needs as they arise.

A good way is to start taking notes about your pupils Some day, when preparing your lesson, try composing a character sketch of each child Just attempting this you will begin to realize how dimly and how impersonally you have perceived the personalities of many of them. You start to jot down: "Milton—rather nervous, very poor writer, never can unfasten own overshoes I can't seem to win his affection Never scuffles with the other boys. Is the quickest to find places in Bible. Has a stamp collection. Only child. His mother overconcerned about his health."

You knew this already, and much more. But the writing of it down helps you clarify and often to see an underlying problem that you would miss in the swift movement of the class period. Moreover, your rough notes, reviewed now and then,

help you to plan and build for that child. You realize you must take the trouble to talk about that point, to get his confidence.

And that means some moments found apart with him, no matter how arranged One method for taking notes is to have a rough outline to fill in for such areas as these. Physical, nervous, social conduct, skills, needs help in ———, home situation, special interests, dislikes, achievements.

Some of these special moments come unplanned. You arrive at church early, and there is your boy In a short, direct talk you try to get across your special point for him. It may be something which calls for a special interpretation. But most guidance must be done by the sought out personal interview Then, in a leisurely talk, without interruptions, you can start ideas, and develop attitudes. It isn't easy Only love and practice and patience will begin to get results.

I recall a woman who did a unique work of personal guidance through a junior altar guild. The plan was simply for a girl to meet with her and sew on altar things. As they sewed they talked. Though seemingly casual, the themes were things that mattered. "I learned more from Mrs. Atterby than in any class I can remember," a young woman told me in after years.

"Teaching is guidance" is the new slogan Groping lives must be helped to find their own right way There are adjustments to community life to be made, home handicaps to be overcome, personality patterns to be untangled. No two are alike—the fat, the skinny, the homely, the frail. There is self-consciousness, timidity, quick anger, defeatism, vanity, showing off, compensations of all sorts.

Personality persists, yet may be slowly modified. Hence the need for your notes, and your prayers, your planning and persistence. If you would think of the class period as only the beginning, of personal contacts as the real opportunity, you would have a new conception of your work The rector has

assigned you these few sheep of the flock, not for a crowded hour on Sunday morning, but all through the year. It is your deep joy to lead them. You are accountable to the Shepherd of them all, who gave His life for each

3 CONSTRUCTIVE DISCIPLINE

"Isn't Mr. Winter's class terrible!" Everybody in the school is saying it. Just when classes were going nicely last Sunday, there was a crash and shrieks of laughter from the alcove. A boy, who had been balancing on the back legs of his chair, had at last fallen backwards. The superintendent, ever vigilant as an officer for maintaining quiet, had rushed in, to find Mr Winter apologetically trying to stop the confusion and hearty laughter. He was trying to smooth it over, to get them back into reasonable quiet again

He had never thought to punish the boy, nor to check him when he first began to teeter in his chair. It was, to him, just one of many forms of boyish restlessness, which he frankly does not know how to manage.

It is true that poor Mr. Winter doesn't have much chance with the makeshift arrangements in the parish house There is a screen in front of the alcove he must use for his circle of fifteen small boys. He has no table for them to work at, only a small blackboard, which sometimes falls down. He knows that five other adjoining classes can hear his class, and have complained frequently. This makes Mr. Winter terribly self-conscious He is more concerned now with keeping them quiet than anything else. He will bribe, promise, cajole He lives in a momentary dread of a fresh outburst of a shout, a laugh, or a crash Although he labors to prepare his lessons, he just doesn't seem to be able to get "good discipline" Yet the teachers

within earshot have little trouble in maintaining order, and in conducting peaceful and attentive classes Why?

We must analyze Mr. Winter for a bit. He actually expects bad order. He counts on it, dreads it, but does not know how to head it off. It is true he does not desire it. But he has long had so much noise that he is content if he can now get through the period without too much clamour He is desperate, but resigned. Frankly he has no picture of the good order he really wishes. He has no plans for real discussion, knows few devices for activity

He does not check the first outbreak of disorder. Several voices join in the talk, the pitch of the teacher is raised to be heard, and almost in a moment all are talking loudly (This is the normal noise-hunger of growing children, which flares up instantly at the slightest suggestion They like noise) Instead, he must learn to demand, every time there is a violation, "Only one person talks at a time in our class!"

If I were Mr. Winter, I think I would spend one whole Sunday session straightening out the class attitude. The approach would be the club idea, that we might organize, with officers, and rules. We would elect the usual four officers, and then would come the question, How can we improve our class? Soon, there would be one boy at the blackboard putting down things we all agreed to. With very little suggestion they would soon have some things like the following agreed upon:

Class Rules

1 Not to chew gum
2 Not to kick each other.
3. Not to tip back in your chair.
4. If tardy, come in quietly, and explain to class why you are late.
5. Bring your book
6. Do not talk without permission.
7. Only one person talks at a time Do not interupt
8. Do something every Sunday to help the school

So the list is accepted, and the class starts out with a new character, formulated by the boys themselves. The teacher will see that the list is kept posted, and enforced. If violated, the class may be appealed to to decide the punishment Everything is done to make the group conscious of itself as a group, not just a mob of individuals, and which has a mind and purpose and tradition of its own. Soon they will readily accept such affirmations as, "Our class is always helpful"

The last rule has in it all sorts of possibilities It includes things like ushering, helping younger children with coats, picking up books, or whatever needs to be done It leads to their realizing that the other classes are quiet to help *them*, and they will play the game, too.

With a fresh start thus made, Mr. Winter would be ready for some fine Sundays, provided he immediately learns some of the devices of planning activity. He will by now begin to realize that the good conduct of a class is the result of good teaching. Teachers who know their lessons, and know how to teach, confidently yet easily, have no disciplinary problems. The very word "discipline," indeed, has in it the idea of constructive teaching. It meant, and still means, "discipleship." The children are the teacher's disciples That changes everything. They have been called—here they are, the leader's faithful dozen, separated from the world for the moment, ready and willing to do anything suggested. And Mr. Winter only tries to keep them from making too much noise! The good teacher rises to the opportunity, is inspired, works, prays, struggles, and wins.

Constructive discipleship, in which the teacher accepts his rôle of personal worker for our Lord, begins with the intense resolve not to fail, and continues in the weekly effort to get definite response and results. The teacher who has "good discipline" has a plan, and finds methods. Instead of having to

stifle childhood vitality, he knows how to use it. Talk there must be, but always skilfully planned for just this age, this group. And always the talk is only preliminary to action.

Think of the many kinds of activity which may be managed, even under the inadequate conditions of the average parish. The following list will help to illustrate the things you may call upon, and should, for variety of interest:

Directed talk Discussion, debates, reports, recitation, choral reading, Bible reading, quiz tests, reviews, memory drill

Handwork can be used, provided it is planned for the conditions of Sunday space and time, and related to the teaching unit· Art work, not too pretentious. Crayoning, lantern slides, posters, manuscript writing, scrap books, clay modeling, flannelgraphs, sandtable.

Movement for such things as a game, contest, drill, or dramatization.

Writing, if for a real purpose, not just to fill in blanks in an editor's scheme, and of course not too difficult nor too long.

Trips or pilgrimages into the church for study of some special matters, such as the altar, font, or the vestments

Outcomes of projects started in class: packing the box, decorating for a party, painting chairs, delivering baskets, selling things, visiting an orphanage, etc. These things, although done on a weekday, react on next Sunday's joyous class feeling.

Worship is a real activity, and may be injected into any period

The activity method is possibly the best short way to happy teaching. It may be overdone, to the detriment of teaching the content of the lesson But there is far greater danger that classes degenerate into mere talk, and that mostly by the teacher, with restlessness and boredom the inevitable sensation of the children. Fix your mind on this, as you prepare your lesson: What shall I have them do, what shall I start them

wanting to do, in this period, or as a result of it? The truth is, Mr. Winter doesn't know what he wants. He expects nothing but "youthful energy," and knows none of the ready ways of directing it. He may be beyond repair. Yet, if he can only have a few Sundays of happy, purposeful activity, and a feeling of class unity, he will begin to learn. He will repeat his successes, and will grow in his methods and his achievements. From being a failure, on the way out, he will have become a success, on the way up. It will change his whole outlook, perhaps his whole life. He will begin to brag about his class, tell others of the stunts he has invented.

He will have met his problem, won through to the good will and following of his pupils. *That* is teaching. How can we get Mr. Winter started on the use of activities in teaching?

4. BUILDING A CURRICULUM

"My pupils don't like this course," a teacher tells me, and I know she is only covering up the fact that she can't teach the course. It is natural to blame someone else. And yet we can't blame the teacher entirely, for we have all found that certain courses are difficult to present, or weak at some points. Most often, the method and outlook of the text do not chime with the attitude and training of the teacher. It is just the wrong course for her.

No printed lessons are perfect, it is true, because they are the efforts of a writer or a board to organize materials and techniques which must, in real use, pass through the personality of each teacher, and to the personalities of real children. These are of all sorts, and largely incalculable. You never can be sure how anybody will act in response to the ideas and plans of others.

When a teacher, really trying, cannot put over the materials which have been given to him for the year, it is reasonable to ask what can be done about it. To waste a whole year in futility, annoyance, and with a diminishing class seems needless. Yet to switch to some other text is surely no guarantee of correcting the trouble All courses have some flaws, and there is no course so perfect that it relieves the teacher from patient effort, ingenuity, and adaption

The clergy, who have the responsibility for the success of their schools, are notoriously weak in this solution. They will try any new course offered, with only the most casual examination, always hoping that this is at last the perfect system, which they have only to order, hand out, and forget about for a year That so many of them do just this may explain so many weak schools and poorly taught children.

For the present, we must work along this line· We must teach our children, week by week And we must work with the materials at hand, until something better appears But the real trouble, all through, lies in the assumption in the minds of both clergy and teachers that the printed material is the most important thing. Yet if we will consider, for a moment, the whole problem of curriculum, we may get a new approach Broadly, the curriculum is the whole plan for teaching—what to teach and when to teach it. A committee undertakes to answer the large question, "What shall we teach our pupils from the first years they can understand to the end of their school days—from about four years to twenty?" The usual way is for the committee to start making a list of yearly topics.

What shall we teach in kindergarten? What in the fourth grade? To sophomores? The result, after several sessions of the committee, is a neat list of topics, sometimes obscured by romantic titles, for each year's main objective It is sometimes discovered that this was all done, back in the 1890's, in the

Standard Curriculum, which is still the norm if we assume the topical or content approach.

Next, each year's theme is farmed out to a likely writer or group of experts, and they eventually produce a textbook to be used as the material for teaching about thirty lessons Now it comes to the class teacher. In effect he is told, "Your subject for the year, for these children, is the Ten Commandments, or the life of Christ, or whatever the curriculum calls for. Here is the printed book to use. Make the most of it Have a good year."

If every teacher would look upon this ceremony of receiving the book each year as the acceptance of his marching orders, and would then try to adapt them to his own skills, and the fluid response of his pupils, we would have better teaching. To every teacher, then, the rector says, "Stick to this subject all year, as much as you can. There are other books you will need. Some of the suggestions will work, some won't. But you are the teacher, not a mechanic watching an automatic loom This is a memorandum, not a blueprint. See that your children memorize some information, practice some worship and service, and live with you together for a year as Christian friends"

Content and method meet in the person of the teacher. He must digest the content, the substance of the Christian tradition, and then find devices by which his pupils will, as inheritors of that tradition, make it their own. No curriculum can do this for him, or them.

5. INTERRUPTIONS IN CLASS

Every teacher, old or new, at some time or other has been distressed by interruptions in the class work. This may be felt to be especially annoying when one has prepared particularly well and its eager to put over some special line of thought or

project. You have your outline, your plan You start out perfectly, and the class responds about as expected. All is going splendidly, when—bang! some word is spoken, or an accident happens, or a wrong note is struck, and the whole class period seems to have been destroyed.

You may be the intense, eager type, one of those who want things to happen just right, and truly desire results. To you such sudden breaks in the class attention come with especial annoyance and may for you spoil the whole period. They may cause you to feel frustration and despair, to say, "What's the use of trying?"

Some of the interruptions are purely external, from outside the class The worst is the secretary (or his youthful assistant) who barges in without apology and in the middle of some hard-won attention demands a count (or a recount), or envelopes, or whatever The children don't mind. They rather enjoy the intrusion, for it may call for some activity on their part But, although the intruder is gone in a moment, the thread of attention is snarled. You have to recreate the tone and common thought of your group. And you are not in as good a frame of mind to do it, being now a little strained and exasperated.

Then there are those many sounds which fill a parish house or church basement at Church School time. A fraction of one percent of our parishes have separate and sound proof class rooms—the rest camp all over the premises. Some of these sounds may be dimmed by the devices of portable partitions, curtains, and other "temporary" arrangements. But for the most part they remain as a distracting background. At any moment there may be a sudden burst of laughter from a distant class, the crash of some falling chair, or even a paper dart sailing over the partition from some teacherless or unmanageable class

In addition, there are visitors, well-meaning and usually

worth having, if only as an excuse for displaying drill. But any one, and all together, they represent those strains on the teacher's nerves which must be withstood The solution? For each immediate case, *fight through immediately* to your former attention, keeping your calm and good nature as well as you can. For the large problem of space and rooms, stop grumbling and *kick*—often, and to the right people

But the real problems come from your pupils themselves A pupil arrives late. In the midst of a sentence you may have to stop and administer discipline. Or, a question is asked that seems to call for an immediate answer. For instance, you have been developing the thought of being a good soldier of Christ. You are getting along swimmingly: soldiers must be trained, endure hardships, be obedient, respect their leaders, etc. And then, Judith, who is a "deep one," remarks, "If we had peace we wouldn't have any more soldiers, would we?" You had been wondering a little about that yourself, and now you grasp at the question, developing the thought It is one of those lucky breaks that give you a special opportunity for teaching not in the text book, but often far more valuable.

But the worst intrusion is the remark, arising from the mysterious ramifications of the child mind, which has nothing to do with the subject Suddenly, with no connection, David says, "We're going to get our new car tomorrow." The others chime in about their cars, and you have to wangle attention back onto the main track again. Evidently you had been talking to a wandering mind.

The solution? The same for all problems of human leadership: be your best self always—adaptable, ingenious, alert, patient. Part of your preparation may be to anticipate this. ("If they start to get away, I'll switch to this story.") But always, know your main goal, and stick to your main planned procedure.

Remember this. If children's minds wander, it is largely the teacher's fault Therefore, be alert, be prepared. The more material you have on tap, the more ammunition you have for the emergency Above all, keep your poise, your temper Other teachers are doing it, and so can you These annoyances are only part of the general problem of dealing with living people

6 CHECKING FOR RESULTS

Some teachers never seem to be interested in rounding out the year's study. They have developed the attitude of the school being a Sunday-by-Sunday matter. As long as they are there, have a lesson, or provide a substitute, they have done their duty. Now, in late Spring, the school year is running out, and they are secretly a little relieved that it will "soon be over." They have stuck to the end, to be sure, and are to be accounted faithful teachers.

But what about the year's work as a whole? You were given the year's topic. Life of Christ, the Commandments, Prayer Book, Virtues, House of God, or whatever You received your textbook and other aids "way back there in September." Ever since, you have been trudging ahead, a lesson each Sunday. Now, it is about time each teacher began to do some checking up, both on himself and on his pupils The sincere teacher really wants to know if he has accomplished anything. All schools have some form of final examinations, toward which much of the teaching and drill is pointed

If there is no final test required by the school, the thorough teacher may desire now, the remaining Sundays, to round out the work by some thoughtful reviewing and drill of his own. Just to ask questions about past lessons, skimming through the book casually, is only to create boredom and little result.

You would hate to think (even though nobody else discovered it) that you had wasted your own time and your pupils' for a whole year You will admit to yourself that they remember terribly little from week to week, and almost nothing from last fall Just how much they know or don't would surprise you—it really would! In starting to test your pupils' knowledge, first plan the areas you wish to explore. There will be three, and each will call for different ways of testing.

(1) *General ideas, attitudes, and motives*—For this, you will think out carefully some questions, mostly in the form of imaginary problems in human conduct, hoping for response from individuals. Thus: "A boy runs noisily through the church. If you were there, what could you do about it?" "Is it possible to love the Germans?" "Why is teasing mean?" "If God made us, and everything we have, what should we do about it?" These questions should arise from topics earlier in the course and be aimed to start going the process of recollection. This will go best as an informal discussion For older ages a short written examination on such points will require each pupil to make up his own mind and express himself in words.

(2) *Facts*—The student who says, "I never could remember dates," is typical of the thousands who look upon schooling as the quantitative lodging of facts in human skulls, ready for instant use ever after This common resistance of some minds to definite learning of facts has to be gotten around—by steady drill and persistence, if necessary; by the contagion of enthusiasm thrown around the theme in general, and much humanizing and vitalizing of the course, if possible.

For every year's course there are certain essential facts that can now, in the closing Sundays, be drilled. Here is a call for games and contests to make it fun. The real hazard is the teacher: he must see the importance, and work at it in his lesson

preparation. If his lessons have been well prepared through the rest of the year, this will now come easily. If not, he will have to wrestle with the front pages of his text, and spend some extra time on these Spring Saturdays, or else let the whole matter go by default Therefore, go through your book and list a score or more of facts that should be known names, definitions, terms, locations, numbers, dates, characteristics. Spend some time on this list each Sunday from now on

(3) *Skills*—Can the children find places in Prayer Book, Bible, or whatever the theme? Do they say their morning prayers? Make the sign of the cross? Pray on entering church? These may be matters of general discussion earlier, but now the teacher wants to know if every child has added these accomplishments, and may well have personal interviews, with an informal checklist to make sure Above all, does *each child* actually know all the prescribed memory work for the year?

The closing Sundays in the Spring are your great opportunity to make up for a weak year, or to round out brilliantly a good year. Partly, you are testing yourself as you test your children. But you are mostly clinching the nails you drove in other lessons. The total impression of the year, and how its work shall linger in the lives of your pupils, depends a lot on how you manage these closing sessions.

7. WORKING FOR ATTENDANCE

A visiting speaker at a parish supper complimented the local rector on the large turn-out. "You evidently have, Sir, a most loyal and interested parish" The rector smiled gracefully, for he knew his people did care, on the whole. But he realized that this large gathering was no accident, but the result of hours of telephoning and a skilfully built-up barrage of post-

cards, announcements, and newspaper items It had been hard work for several people

Attendance must be worked for, and is worth working for. People will ultimately do what is expected of them, but in a world of many vivid appeals the Church must make its own call strong and clear. There is general publicity, but we can never relax the need for personal reminders There comes to mind the teacher of a young men's Bible class who wrote a personal note to every one of the members every week, until the class reached nearly 200.

To secure regular attendance, the parish school in general can give certain helps. There are the varied attendance contests, which bring up group competition and make much of the fun of all being there The individual is reached with the appeal that he is important, if only to make up the total. There has been much discussion of attendance devices and some of the following are conclusions from experience.

Systems which use pins and badges, on an increasing scale, are not only expensive, but commit the school to a year-after-year, unchanging method If they got the results desired, they might be justified, but they tend to stimulate 100% attendance, over a long period, for a relatively few pupils—and these usually the ones who would attend regularly without any scheme, anyway

A contest is often called for when there has been a noted slump in attendance, or an increase in tardiness. Then a short term contest will often revive good habits, and its effects last long after.

Such contests should be designed to bring out the special points that need strengthening in the school's habits. Thus, if many teachers are irregular or often tardy, allow a heavy score for the teacher's record His non-performance will bring down the class total, and the children will attend to the rest. Perhaps

you wish to stress better attendance at Church, or home-work done, or the like. Then allow more points for these.

Class contests, apart from the rest of the school, are often helpful. The unit for these is the month, or perhaps the quarter. Supply houses provide pictures with 13 stickers for a quarter Better always, design your own scheme and chart, and let the children have a hand in making and developing it.

Tardiness is something that is like a slowly advancing disease, which paralyzes first individuals, then the whole group. It must be dealt with firmly and promptly. A good secretary does more than merely record and make curves of attendance. He will try to telephone the home of every missing child, before the school is over, or at least not later than Monday. Sickness is thus often discovered, and the clergy will know what to do. Realizing that the school is definite and expects good and prompt attendance, parents will co-operate. It is flattering to be missed.

But the broader truth must also be appreciated: attendance is the *result* of interest engendered by a vital and stimulating school and teacher. Children just can't stay away from something that is always delightful.

The best device I ever knew to break up chronic tardiness was invented by the teacher who had a fascinating serial story for the opening moments of every period. She started exactly on time, and if any child arrived late she stopped abruptly for that day. The class, thus cheated in mid-story, saw to it that the late one was on time next week

In all this, no matter what the school does, the teacher is still the determining factor: winning individual loyalties, watching every detail, breaking up trends toward carelessness, talking to parents, using cards, notes, charts, contests All these are in his bag of tricks if necessary.

A woman had the wrong attitude who told her priest, when

accepting her position as teacher, "I'll be there every Sunday, but don't expect me to get them out I'll teach them, but I won't chase after them."

To her the rector wisely replied, "But that's your first problem. Attendance is the *mark* given your teaching—100% present regularly means you are an A teacher; an average of 75% present grades you as about a C. If you can't win them and keep them coming, by some means, you are not a success."

Faithful performance is a habit that grows on people with steady practice. It becomes part of their characters. But the institution calls it forth by its own definite character A school that always starts several minutes late, that never looks up missing children, inevitably gets a ragged response. *Expect* regular and punctual attendance, note every failure, and you will get results. And in this all, every single devoted and loyal teacher is an unfailing example and a center of constructive enthusiasm.

8. STIMULATING ORIGINAL WORK

On a screen near the door of the church was a display of children's work, and several parents stopped and examined it with interest. The poster over it read, "Original Work by Sixth Grade Pupils in a Unit on Our Bible." There was a wide diversity. There were posters, scrolls like ancient Bibles, poems, illuminated manuscripts, book binding, prayers, and scrap books. Much of this, no doubt, had been stimulated by the skilful teachers of this group, but the display also revealed the undeveloped abilities of average children

There is a persistent impression held by many parents and some teachers that original work is very rare and comes only from the child who is superior or a genius. Such work, they

say, comes from some hidden urge which they do not understand, and surely cannot start. It's just *there*—"Helen is always doing those things"—and there's nothing we can do Such special performances are acclaimed and exhibited with amazement if not reverence, and are generally held to be so exceptional as to prove the rule. It is simply assumed that most pupils only follow the lesson exactly, do what is expected of them, and nothing more. The one who has done something original is looked upon with interest, but no hope is entertained that more pupils may be led to do creative work.

Teachers need a better point of view on this, and to have higher hopes of response. Indeed, it should be appreciated that if you get *any* response to your teaching, it will be original That is to say, unless you actually dictate the sentences to be written, each pupil will do his part in his own way This does not mean always brilliant results or showy, but original—the child's own expression, his personal and peculiar response to the lesson. Since most of our Church School teaching is tragically limited to talk by the teacher, with more talk expected in reply from the children, we do not often detect originality. Yet almost every week teachers report some unexpected reaction, searching question, or quotable remark

Here is our teaching challenge: Everyone needs the developing experience of creative work. Once, after putting a penny into a "Your-weight-and-your-fate" machine, I received a card which said, "165 lbs. There is something within you which is yearning for expression. To bring it to light will be the supreme joy of your life." My weight was wrong, but the fortune was absolutely correct, not only for me, but for anyone who might have drawn that card. The mere stating of it made me resolve to get out my paint box, or write a poem—or something!

Some people early become expressive, are self-starters, and all

their lives they become noted for the things they do and say. But thousands of others could have this experience, and their lives would be vastly enhanced and made happier if, somehow, they might be launched into some original work. We owe it to our children to try to help them find these hidden springs, to have, early in life, the exhilarating experience of creative achievement—to have felt, or said, "I did it myself!" And thereafter to feel confidently, "I can do things, again and again." Teachers, ordinary teachers, can bring out such moments far more often than they realize. And merely to have seen such a response come, as a result of one's teaching, is a thrilling thing. The teacher can say, "I did it!" And there comes a sense of power—"I can do it again"

A writer has suggested that there are at least four basic experiences which every person should have in order to have lived a full rounded life. These are, plant a tree, write a book, have a son, and build a house. If applied broadly and expanded into their widest meaning, these four might readily be proposed as the perfect quadrilateral of ideal experiences. To plant a tree would include any labor with nature whereby one secured returns in directed growth and harvest. The book could be any personal artistic expression, in writing, music, or the plastic arts. Instead of a son, some will have to find the experience of parenthood through teaching other folks' children, as a functioning god-parent, or as an uncle or other discerning relative. To build a house means just that, plus the deeper meanings of founding a home, and building it into a perfect thing, a corporate work of material and human engineering.

All four will be seen to arise from primitive impulses and to yield life's deepest satisfactions. It is good for a man to have done all these, nay it is necessary. You have missed part of your life if you crawl into your grave without having done the equivalent of these four.

But there is a fifth, which runs all through the others, and demands its expression at every turn *We must find God.* To lead our boys and girls to seek and to find Him, each for himself, is the inner work of the Church teacher Sometimes we can work, for a brief while, directly at the religious experience. More often we can only stimulate it through the other channels of life. But personal response we must work for.

Teachers can get original work more often than they do if they will come to expect it, and make room for it Suggestion and encouragement create an atmosphere in which timid souls reach out experimentally To suggest what others have done, to show examples, and to provide opportunity and time for individual work are essential requirements. In the rushed conditions of our usual Sunday morning this is difficult. Therefore we may have to have extra meetings of the class for activity. Original writing is not often done amidst the confusion of the class period, but suggestions made there will often induce work to be done at home. Certainly every child should not be expected to do exactly the same task, make the same article by the same pattern.

You will feel some day amply repaid for your work when a child hands you his own prayer or poem or article made. Indirectly that will be your creation, the result of your sensitive manipulation of the raw materials of child life. And it will give a joy, let me assure you, akin to the joy of God the Creator

For if we may read the first page of the Bible with insight, we may see God, at the end of each day's mighty work, stepping back from His canvas and saying, "Not bad! . . . That's *good!*" If the great Artist can so rejoice, so does every human creature, made in that same divine image, take pleasure in the work of his own hands To give our children—all of them—this exhilarating experience, is the happy work of the teacher.

9. THE CHRISTIAN VOCABULARY

The story of the child who complained that she could not see the "horse on the line" when the teacher had been explaining a *horizontal line* is doubtless no invention. So, too, must be the one of the child who said that the equator was "a menagery lion running around the earth." The child's meager experience makes it inevitable that he should miss the meaning of many new words, unless they are carefully presented to him at first.

The Church is not perverse nor antiquated in having a special vocabulary, because the ideas and experiences with which she deals are in a different order from those of the secular world. It is true that the early Church literally had no specialized vocabulary, but used the nearest word in the current language. Thus, elder, overseer, diocese, deacon, and others were understood in the meaning of their day. But many such words soon took on a specialized and limited meaning as certain Christian ideas were appreciated and had to be labelled and more closely defined in Church life.

One of the worst forms of "verbalizing" so much attacked today, is the inclination of some teachers to drill on the definitions of certain key words, believing thereby to equip the pupil with an experience of the ideas they stand for. Thus, the Catechism demands that we shall explain what we "mean by this word sacrament." And puts into our mouths a ponderous definition containing at least six words unknown or seldom used by twelve-year-olds.

The proper order is clearly to start with the idea, in simple language, and by illustrations easily grasped. Then the word is given, and used in conversation and sentence-making as the correct and convenient handle for the idea. Thus, the imaginative teacher tells of services in which God does special things

for us. Several of these are demonstrated, visited, and in several ways experienced. Then the teacher speaks of one of these as being a sacrament The children are asked to use the new word in sentences Then, having acquaintance with the word, it is enriched by other associations which are gradually added by the teacher—"outwardly and visibly," "by Christ," "a means of grace," "a promise" (pledge).

Consider the fearfully technical words which we hope our people will some day understand and use accurately: Regeneration, sanctification, salvation, justification, contrition, satisfaction. Or even the apparently simpler words grace, intercession, hallow, trespasses. If we would not worry about giving our scholars these words, but would contrive to lead them to the experiences for which each stands, we might then, at an appropriate moment, provide the word.

Children do not understand many things the teacher says because of several factors, all of which the alert teacher can avoid with thoughtful planning. First, a new word, when it is introduced, should be spoken very clearly and distinctly, and in a context which gives it meaning. Thus. "Baptism is the first *sacrament* we do." (Note the simple verb.)

Second, without pausing to lodge the new word, or expound its inner meaning, pass on to teaching the meaning of Baptism, and then, when the word sacrament comes up again, take time to enlarge on its meaning and use.

Finally, be sure to come back to the new word, and allow its use by the pupils, in their own expressions (not set in a long, required formula) in several subsequent lessons and through the year. We must remember that new ideas etch themselves into our minds slowly That takes time. But they also have to become ours by our own recall and use, until they become our own working tools. Children love word drills, if conducted with skill. "Who will make a sentence using the word grace?"

The primary years—the early grades—are especially the time

for the rapid growth of vocabulary, because experiences are being had which are novel, and which the child is eager to appreciate. His natural curiosity leads him to appropriate new words, not to show off, but as part of his reaching out for life. The teacher should not avoid words with which the child is unfamiliar, but should take care that the words are presented without misunderstanding, and are used frequently and accurately. The length of the word is no difficulty, if thus presented intelligently. But it must be a word for an idea already partially known.

We must be everlastingly alert to the real vocabularies of our pupils Studies of public school word-lists for each grade will help For the Church, there is a grave need for some official word lists—the words which should be known and used at each age level. Thus, when should we introduce the words *angel, inspiration, temptation, responsibility, sin, everlasting, creation, catholic, historic, conversion*, and the many other words used in religion?

A word-book is a splendid activity for a class whose teacher is alert about teaching the right use of new words Early in the term a large blank notebook is secured and labelled and is to be kept in view at all times. When a new word is spoken by anyone, teacher or pupil, anybody may raise his hand and ask that the word be placed in the word-book. The word is placed at the top of a fresh page, often without further comment at the time. Before or after class any child may write in the book below each word a sentence using the word. Some will bring pictures to paste under words such as, *altar*, *chalice*, *surplice*, etc. Others may wish to make a sketch on the page illustrating the words such as *genuflect*, *crucifix*, *procession*, *lectern*. The book grows in interest through the year, and the new words become familiar friends of all.

To be certain you are not using words beyond the under-

standing of your children, the next time you have prepared your lesson, run through your notes and see if you can detect any words you are to use which are doubtful for that age. You may need some advice, perhaps from a critic invited to hear your teaching. But in any case be alert about your language It is possible that your words are not touching the minds of your pupils. And if your minds do not meet, there is not apt to be much teaching

10. INTEREST OR ATTENTION?

A returned soldier, now teaching a class of fourth-grade boys, reported the following experiment. He said, "After a few Sundays I was desperate Finally I gave up trying to teach the lesson and asked, 'Well, what are you interested in, anyway?'

"I discovered that most of them were in a kind of neighborhood gang that played afternoons in a wooded tract and were constantly engaged in a variety of war games They had started it during the war when they were much smaller, and it had remained a pastime.

" 'Next Sunday,' I told them, 'if you will sit very still while I teach you the lesson, I will stop ten minutes early to tell you the best war story I know.'

"I wish you could have seen the class next Sunday! Not a sound from them as I told of the attack on a German position and of the advance of our unit. This has worked so well that I do it every Sunday now Finding intimate war stories is often hard, although I manage to invent or recall enough. But it is not nearly so hard as keeping the class from disturbing others."

Would other teachers care to comment on the following points? Did this teacher have an ideal class—"not a sound

from them?" Was this good teaching—a lesson to silent pupils? How long would you expect this scheme to work? What else could the teacher have done?

Far from being a single case, the above device is adopted in desperation far more frequently than you would suppose. The common form is for the teacher to promise to read from some interesting book, "if you are good and get through our lesson first." The book may be anything—from tales of Robin Hood to selections from the *Book of Knowledge.* Now and then a teacher, with an eye for the classics, will try *Pilgrim's Progress,* but I have never known one to finish it.

The motive of such teachers is not wrong. They are resolved to save the precious period, pitifully short, from being wasted entirely by youthful vitality. The fact that they admit they must "interest" their pupils shows that they have, instinctively, the rudiments of good teaching approach. If the lesson does not hold the attention, then something is wrong. So these teachers use the only way they know—anything to keep them quiet.

Interest is an elusive thing. All persons are interested largely in that with which they have become familiar, by repeated contacts But catching and holding the *attention* of anyone is a special art, often learned only the hard way. Interest is deep and belongs to the depths of character and the long years of cumulative experience. But attention is of the moment, yet calculated to touch the permanent interests, divert them to new channels. Thus, many a teacher may be able to command the attention of his class, but only repeated comradeship, and the long months of fellow-studying produce a deep interest.

Catching the attention usually calls for the use of the striking and the novel, since it must cut across the channels of established interests. Here are some of the devices for winning attention:

Dramatize yourself—tell personal experiences; adopt different roles, (impressive, vivacious, serious, sorry, etc.), use gestures, poses These may be overdone, but there is not much danger, because we are usually far too restrained and speak and move in the same unchanging manner.

Use some striking *new touch*—change of voice, pace, silence; introduce a new object (book, article, cartoon); have pupils stand to recite. *Direct their gaze* to different things—the blackboard, open book, study passages, your gestures, finger-drills, etc. Let them talk about their experiences. This does not mean allowing them, or any one child, to dominate the period, but to bring some of their outside affairs into the class talk

Study their reactions to your teaching If they keep coming back for more, if they discuss the things you wish, accomplish the tasks you propose, then you have not only caught, in the hard-fought moments of teaching, their week-by-week attention, but you have won through to their interest You will receive your reward when some day you hear a parent say, "John just can't miss your class. He says you are so interesting"

How to capture the continuing interest of boys is fundamentally not a bit different from how to interest girls They are simply people, whose interests lie in the full tide of their daily lives, with which the good teacher is familiar and in sympathy. The same age-groups have about the same reactions in all parts of the world. Their attention is caught—or better, won, employed, *directed*—by the teacher who has learned how to stage-manage the class period. Such teachers come to realize that each session is a calculated dramatic performance which cannot depend solely on the inspiration of the moment any more than can a play on the stage. Back of it is much patient rehearsal

11. PROBLEM TEACHERS

A pupil gets to be known as a "problem child" when he does not respond to ordinary handling. Under average conditions, most children do about what is expected of them, and, with variations, literally "do their duty in that state of life unto which it has pleased God to call them." They grow and flourish under conditions often not ideal and come through their schooling with credit to themselves.

Yet we all remember certain few children who, at some stage, stood out from the crowd and were a special problem—not bad enough to be dismissed, but erratic enough to give their superiors anxiety. They are the ones who spoil the fun of teaching, give teachers their moods of despair, annoyance, and exasperation. Such children have driven teachers to desperation, even to the thought of resigning Sometimes they have required such a vast amount of time, patience, and special attention that the teacher has been tempted to declare, "It isn't fair—to me or to the class!" or even "I'm through."

But . . . in a flash of imagination, place yourself in the shoes of the rector or the superintendent of your school. (This is known as applying the Golden Rule) Now look over the list of teachers in your parish school. Most of them are reliable, faithful, and successful—in a word, normal. Some few even are super-normal, the truly wonderful teachers, whom to know is to have a special door into the Christian religion There remain the few who, by their irregular performance, must be classed as problem teachers—not bad enough to be dismissed, but erratic enough to give their superiors anxiety.

In short, there are always some teachers who are a problem to the parish authorities. They fall into a few types, very similar to the types of problem children:

(1) *The spoiled teacher*—He has had everything done for him, resents the slightest inconvenience, finds it difficult to teach unless every condition is exactly right. He blows up if the class next to his is noisy, if his material is not ready, if pupils get out of hand.

(2) *The lazy teacher*—He considers teaching easy, so never gets up his lesson He reads from the book in class, never accomplishes the memory work, never asks for outside work. His box is never tidy, his table left in confusion at the close of the class.

(3) *The sensitive teacher*—He resents the slightest criticism, even when well merited, and wants praise for his most ordinary efforts, wants to be appreciated, he often hints broadly, for his sacrifices.

(4) *The old-fashioned teacher*—This one is still trying to employ the methods he recalls from his childhood parish. He may do one or two things well, but his mind is set against the modern ways of projects, discussions, self-expression, and pupil activity. He refuses to try out new materials

(5) *The discouraged teacher*—He believes it can't be done: the children just don't respond. Parents don't care, he says, and the times are all against us. He has ceased to try very hard any more. Often absent or tardy.

(6) *The talkative teacher*—At first you like his glib enthusiasm, but soon notice that the children are getting restless and bored. The notebooks are found to have the same wording, because the sentences have been dictated. A written test reveals that the pupils have absorbed little.

(7) *The Low Church (or High) teacher*—He is bent on putting over his predilections in opposition to the established norm of the parish Perhaps a splendid teacher, otherwise, but you can never be sure when he may undermine the rector's teaching by a dogmatic assertion of his own.

As with problem children, something can always be done about each one The head of the school (like the teacher of the class) must work out a solution for each case. People can change, although sometimes it seems as though we are not the ones to accomplish it, and life is too short. All the above problem teachers can be transformed by skilful attention. (Possibly the last case is most fraught with difficulty, because the whole subject is tinged with emotion, and the rector cannot himself act dispassionately and objectively. If incurable, the teacher may have to be removed before he abuses his position of authority as a teacher.)

How? Look back over the list: The *spoiled teacher* needs to be given responsibility, the deepening experience of sharing in the school's planning and problems. The *lazy teacher* can be tactfully guided to greater zeal, inspired to better motives, sterner efforts, helped to experience the joy of success The *sensitive teacher* deserves more recognition and will thrive on it. All of them will respond to personal conferences each month, to regular interest in their work, to constructive criticism, instead of being left so completely alone. Everyone who has a preconceived notion about his work can be reached, and his methods modified by tactful approach, by being given the right books. They all need encouragement, better materials, wise guidance, prompt help when they are in a jam, and frequent contact with an experienced and enthusiastic parish leader.

Maybe *you* are a problem teacher, and have recognized yourself in this list. And if alert, you will know part of the solution.

VI. CERTAIN TEACHING SKILLS

1. THE ART OF QUESTIONING

When a teacher complains, "My pupils don't seem to be very responsive," it may well be a sign that he has never caught on to the use of provocative questioning Such a teacher may have slipped into the habit of telling—that is, lecturing It is a habit that may be overcome by deliberately trying to provoke some response, not only from the few bright ones, but from all.

The classic form is the rhetorical question used in all oratory or speech addressed to a group. "Do you wish to be slaves forever?" "I ask you, recall your own youth, and tell me, can you blame this boy?" "Are you willing to give less to your Church than you spend for cigarettes?" The answers to all of these are obvious. They are all calculated to stimulate some response, either by spoken words, or of an inward forming of the reply, "No!"

Teachers should practice the use of questions. One good way is to fix in your mind some stock forms for phrasing a question which may easily be used again and again. Here are a few to have up your sleeve:

"What was the name of the man ———?" (*Factual*)

"If you were (Zachaeus) how would you have felt when Jesus spoke to you?" (*Imaginative interpretation.*)

"This next question is for Helen, but if she cannot answer it, I want hands." (*To draw out the shy, yet hold the attention of the group.*)

"Where could we find out . . . ?" (*Research stimulated; resources from beyond the class.*)

Many lessons have set questions printed at the end. Some teachers think these are to be read aloud, and a complete and satisfactory answer found for each. They had better be considered merely as attempts of the editor to assist the teacher in covering the main points But the teacher may better prepare her own questions in advance, in writing, to make the discussion move better. These will seldom be read out just as they were written, but will be modified as the talk takes shape.

A very important part of lesson preparation should be this thinking out of possible questions While experienced teachers do this easily, and skill comes from experience, some people are so temperamentally alert to the responsiveness of others that their whole conversation bristles with questions, or provocative expressions. That is why some classes are always happily "talking back," while others seem chronically sluggish It is in the subtle difference between sentences that are barbed, stimulating, and that get under the skin, and that flow of words which reaches the ears but never penetrates the mind.

Here are a few suggestions:

Raise a problem: "How would we build a house if we lived in the Holy Land?" Don't tell them Let their suggestions arise. Don't be in a hurry; this takes some time.

Wait for an answer. Some teachers never even expect an answer, and so kill the good of their questioning. Pause after the question. If there is a long silence, you had better rephrase it, or pass to something else.

Meet their minds: The question must be within the knowledge of your children, and in their own vocabulary, and be within their kind of experience. "How many of you have ever seen a live donkey?"

Don't encourage guessing: The teacher who promptly supplies the correct answer, particularly in factual review, is really stifling the interest. But if you keep demanding an answer

when obviously no one knows it, you only start them guessing, which wastes time.

Use the blackboard Often a single question may be written before the class assembles. Thus: "When did the Apostles discover that our Lord was the Son of God?" Teacher calls attention to the question at the start of class, remarking, "We may be able to answer that when we have studied the lesson for today." (Peter's confession at Caesarea Philippi.) The words on the board look down on the class during the development of the story, and finally serve as the summary of the day's thought.

Ask for opinions. Questions may be worded to draw out personal reaction This form may often be requested in writing, and the various compositions of the class read for discussion.

Let the teacher who senses a lack of response from his class try to prepare several carefully worded questions to fit his next week's lesson. Plan to use them through the lesson, not just at the end. It may change one's whole method and success in teaching.

2 THE ART OF DRILL

To drill means to do something over and over until it is known perfectly, and can be done again, when called for. For certain permanent knowledge there is no substitute for drill. We must train our children in certain fundamental skills, movements, attitudes, responses, and definitions if they are to be effective Churchmen, useful soldiers of Christ, when the need comes. The great difficulty in most Church Schools is that there is so little time, with the result that there is a new lesson each week, which is seldom referred to again. Things come to the front of the child's consciousness for a day, are not recalled or used, and so are completely forgotten.

There is an immediate advantage in drill in teaching obedience, attention, and specific information. But we must also keep in our minds that the things we teach our children now are their spiritual equipment for life If they don't learn certain things, now, so thoroughly that those things are a part of them, it is very likely they never will. There is altogether too much vague, inaccurate, and half-remembered knowledge among adults.

Methods of drill in the classroom differ, but they all work to the one end: that every pupil shall know, for life-long use, the essentials of the material being studied. He must be able to *give it back*, in class, and many years later. In spite of discoveries that we can memorize late in life, the truth remains that we seldom do

"I am grateful to my old teacher," remarked a woman, "that she made me learn the 23rd Psalm and the 91st. They have been reservoirs of strength when I needed something definite to say in my devotions"

It is possible to make the repetition of drill a pleasure by ingenious games. This is easier to do than you would suppose, but it does take some advance thought and preparation. The main principle is to use the group for some form of mild competition. Although learning is always a personal matter, yet in class it is done in companionship with others and with the stimulus of display and approval by your group The familiar Step Catechism, by which a page at a time is learned and signed by the leader, is of this type. The following are some kinds and methods of drill that have proved effective. For memorizing long sections, a variety of these methods will make the drill more pleasant:

(1) *Silent study*—having found the item in the book, the class memorizes it until the teacher calls them to attention again, asking individuals to recite. In Church School, with our

precious forty minutes or less, this may be from five to eight minutes.

(2) *Class recites in concert*—This was the general method in all ancient schools, and still has much value It is the way most Churchmen, over the years, learn hymns, psalms, and the words of the Prayer Book.

(3) *Blackboard*—Use a blackboard or memory chart for all to read, either silently or in concert. (A set of such cards, to hang on the wall, containing the prescribed memory work for a given course, may be the next adjunct for an alert publisher to produce.)

(4) *Home study*—The passage is given out to be *learned at home* This saves much class time, and has the advantage of requiring the parents to be a party with the school. After home study, however, it is requisite that time for recitation be given and every individual checked up. Otherwise such home assignments soon fall off, since there is no recognition after the work has been done. It means that the teacher will have to be at church some time before the opening, to hear individual reports and recitation, and often linger after for the same purpose.

It is the responsibility of every teacher to keep a record of the exact learning achievements of each pupil, or results will diminish. Without such a checkup, the marks or rewards that go with it will have small effect For example, every Scoutmaster has his little book in which he checks the progress of every boy: pledge, scout law, flag, etc No Scout passes to the next step until he has done completely each requirement.

Some Useful Drills

On finding places in the Bible (about fourth grade and after). Make it a contest, boys *vs.* girls. Or put the list on the board, requiring each child to find the verse in his Bible, writ-

ing down the first two words of the text to prove he was correct.

On the use of a concordance. For this, Bibles with concordance or topical index must be used, or enough separate concordances supplied for the whole class. Problems are given, and the book, chapter, and verse are to be located. Thus: Find the verse about the burning bush; the story about Jairus' daughter; "my grace is sufficient", St. Paul's address on Mar's Hill, the raising of Lazarus, etc.

On finding "propers" (Collect, Epistle, and Gospel) for the day, in Prayer Book Should be done frequently, without any help, and with perfect accuracy.

On the use of tables in front of Prayer Book: The date of Easter for any given year, and the major feasts for any year. How to use the monthly calendars as perpetual calendars, locating the Sunday letter for any given year. This is loads of fun, once the teacher has learned how himself. For instance, by this you can find out the day of the week on which you were born.

On finding the special psalms for a Sunday, or a special day.

On finding the Bible lessons for any day, morning or evening. Thus, write on board, "Find 2nd lesson in Morning Prayer for the Tuesday after the Fifteenth Sunday after Trinity."

On the order of events or topics in various categories. For this sets of cards or slips are made, to be shuffled and then arranged in the correct sequence. This applies to such as the following:

The order of places in the Prayer Book Set of cards with titles of the different sections—Calendar, Morning Prayer, etc.

The order of the clauses in the creed.

The order of the events in the Life of Christ.

The order of principal events in Church history.

The advantage of all the above is not only in the learning which is accomplished by repetition under pleasant motivation, but in the ease with which such drills can be introduced into

the lesson period Whenever things seem to be going badly, or the material has played out too soon, the teacher who has some of these drills prepared can always turn to them in an instant and save the session.

There are a number of useful card games to be had from publishers, but they are of unequal value. It is far better to make your own card games For example, you decide to make a drill set on symbolism. You secure about twenty 4" x 6" cards, plain white. Some catalogs of Church furnishings houses are brought to class, and pictures of a stole, chalice, lectern, etc., cut out and pasted on one side of each card On the back is printed by hand the name and use of the article. In use, one pupil holds the card toward another, showing the picture. "What is this?" he asks, and the other must reply with the name and its use. Similar sets can be readily made for living missionary bishops, for sets of pictures on the Life of Christ, or for key dates in Church history. Another way to use these is to have the cards bear a number, tack them around the room, and have class go about, identifying each on tally sheet. This is always a pleasant change. Such sets can be loaned to other classes, may be used over and over.

In all drill, the teacher is the real problem. Teachers who are patient and thorough, and who appreciate the great importance of drill, will plan and put some of it into every lesson. Those who are casual, who have no long plan or hopes for their pupils, will probably go on talk-talking to restive pupils, who will have little to show in after life for their year spent in that class.

3. HOW TO LEAD A DISCUSSION PERIOD

When several people talk together for awhile, something happens. Not only does each person express himself (which gives him a certain pleasure and satisfaction), but he contributes something of value—his opinion, and possibly some information. When all have spoken, there comes a stage of assimilation. Everyone gets something from the contributions of the others, either to modify or strengthen his own position. Even the most opinionated is swayed, a little. The shy one finds his theory, his scrap of information, an acceptable contribution to the meeting

But that is not all. Something new is created in a discussion time, even when not planned or anticipated, which could never otherwise have come into being. The result is not simply the total of all information and ideas; it is a new thing, the developing, common mind of a group of persons acting upon each other. This is the great value of discussion, whether in classes, or committees, or congresses. It creates something. It really accomplishes something, and often starts plans and developments not expected.

There are dangers. A discussion, even though you "stick to your subject," may degenerate into a mere expression of prejudices, or a mouthing of the current shallow "public opinion." To go around the circle asking, "And what do *you* think about this?" may prove to be only the pumping of many empty wells. Very much depends on the skill and preparation and purpose of the leader.

To watch a skilled discussion leader drawing out everyone, developing a theme, injecting new material, then leading the talk into a profitable conclusion, may look very simple. But be not misled. This is one of the highest of the arts of teaching,

and, along with story-telling and drill, an essential skill for teachers of any age pupils. You can (and should) employ it from the kindergarten circle through the graduate seminar. Digest these rules and techniques, practice them for a while, and you will begin to enjoy exhilarating results.

(1) Establish personal contact quickly. Put your class or group at ease. This applies especially to older groups, when the leader may be slightly self-conscious. Never speak about yourself, and never apologize for having accepted the place as leader; dive right in and *be* the leader. Make your first words attractive, vivacious, confident. Plan your opening well. The more selfless you are, the quicker will the meeting develop a self of its own.

The poor leader does it this way: "Now, I hope you'll all feel free to ask questions . . . I'm new at this, you know . . . I'm just the leader. I hope you'll all talk right up . . ." Then he talks vaguely for another ten minutes, and still no one says a word. He is getting rattled. It's terrible. What shall he do?

(2) It is best here to state the main topic of the meeting or class-period briefly. "Today we are going to talk about family budgeting. You will all have something to contribute, I'm sure. And we have an expert present who can give us some information about trends in prices. At the end of the discussion, perhaps we may reach some interesting conclusions" That's about enough. Perhaps a few more sentences, just to make sure the stage is set and there is no misunderstanding. But by all means avoid a long preliminary statement.

(3) Now, to start talk from the floor, pose a simple question, and ask for a solution or opinion This has to be very carefully thought out. It should not call for a mere yes-or-no answer. State the question clearly, and then *pause*. In the pause, let your eye run along the faces in the front rows. (If you keep on talking, you only kill the chance for a response) If no one

speaks up voluntarily, which is most likely, point suddenly to some likely looking person in front and say, "You" The person is bound to give some reply, and your discussion is under way. This first question should not be the main theme, just a subsidiary one, probably very obvious. Don't linger long over it. It is intended only to point their minds, and get started.

A variation of this is to walk at once to the blackboard and write something provocative, such as, "Qualities Required in a Successful Missionary." Turn, face group, chalk poised. Look in every eye—pause. Call on an individual, or give chalk to some one. Don't prolong this, but use as a starter for response.

(4) Work to get several more individuals talking, as soon as possible. One over-talkative person may have to be put down politely, to get the more timid ones into it. Keep asking leading questions, or changing the wording. Even some disagreement at this stage is a lucky break, because it develops the topic

(5) You must now get beyond mere opinions and introduce some concrete information, some facts to chew on Therefore, read a short statement, or call for a few pre-arranged reports. "I have asked Lucia to summarize a clipping on the work of Quakers during the war." Or, "Harry is going to tell us how many churches and communicants we have in Puerto Rico."

(6) Have an agenda, memorized or on a card But don't reveal it too rapidly. You might have a rough timing noted, to guide you. The meeting must *seem* to take its own lead, to be spontaneous and original.

(7) Let the meeting pursue any side issues that arise, but, as the leader, keep calling them back to your main objective.

(8) Have plenty of reserve ammunition—stories, anecdotes, cases, quotations, statistics. Don't use these unless necessary. Matter contributed from the group is often much more vital.

(9) At an early stage, appoint a secretary to note down any point you wish to call up later. This is often better than the

blackboard. Note any outcomes that begin to arise, referring them to the secretary as "things we might decide to do about this." This is the "project" method The secretary's notes are reviewed near the end, and if one or two plans are approved, a person or committee may be asked to carry them further.

(10) All through the discussion, you must never antagonize, never argue You must be an impartial leader, not a private individual putting over your own notions Your sole purpose is to lead persons to vibrate to a theme. Sometimes the violent disagreement of one person will clinch most effectively the right view of all the rest You may win your one maverick later, or in private After all, truth is not a voting matter, but one of discovery, realization, and assimilation.

(11) As you see that your time is running out, summarize briefly, and try to get something started, some individuals to promise to do something before next time.

(12) Stop the meeting while it is still interesting A few may remain to talk further, but the formal meeting should be dismissed You want the group to have a pleasant impression, and to come back for more, don't you?

Make these twelve rules your own. Practice them intelligently and often, and you will find that your classes and meetings always are vital. You may become known as the great leader.

4. GAMES IN CLASS

Decent novelty will save any class from settling down into a boresome monotony. If you will always remember the point of view of the children, you will frequently plan for differing kinds of activity in class Some teachers temperamentally are ingenious, sense the dramatic, and know when to switch to something that is more fun.

Here are five games and drills which may be used in class at almost any time, provided they are well thought-out, launched with the right preliminaries.

(1) *Places in Prayer Book*—The class or department is lined up as in the old-fashioned spell-down. Pupils who miss go to the bottom. In the closing round those who miss drop out, and the survivor is the winner. Leader has prepared a long list of questions such as: How many lessons in Morning Prayer? From what part of the Bible is the First Lesson taken? In what service do we hear the Comfortable Words? What comes after Baptism?—after Evening Prayer?—after the Creed in Holy Communion? Where do you find Family Prayer?

Variation: With Prayer Books in hand, allowing 20 seconds to find the answer: What is the Epistle for Septuagesima? On what page is the table for Easter? etc.

(2) *To Stimulate Original Expression*—A teacher of young people found this worked well: First, slips were given out on which were typed significant statements of Jesus' teachings. These were numbered, and, after some opening remarks by the leader, each was called upon to comment on his slip. Would it work today? Do many people really believe this?

Then a second set of slips was given out, arranged as follows: The leader held complete set of questions. Two duplicate sheets had been cut up and handed among the class, one of each marked with a red circle, the other with a blue Leader calls on "Red" to give his opinion, then asks "Blue" if he agrees, or not. Success of this method depends a great deal on the selection and careful wording of the questions.

(3) *Church Vocabulary*—This device lasts all year. A large scrap-book or manila sketch-book with spiral binding. Teacher opens the book, has crayon in hand, writes "A" at top, draws line down middle of page—boys' words to be written on one side, girls' on the other. Two sides call out words alternately,

thus: Advent, altar, amice, aisle, angel. If the meaning of the word can't also be explained, it doesn't count

Next week, after showing the former page for quick review, "B" is written, and names starting with that letter suggested. The game lasts all year as the alphabet is covered. It arouses great interest, and may be used as the basis for a written review. For this review a list of words used in the game is typed, and pupils are asked to write a short definition or identify each by some phrase.

(4) *Make Your Own Card Games*—We are familiar with the card games sold by Church publishers. The best type have a picture or graph on one side, question and answer on the other *

(5) *Parts of The Prayer Book*—The Prayer Book (like the Bible) is really a number of books bound together To make this clear, teacher comes prepared with nine slips or cards, on the end of each of which is written the name of one part of the Prayer Book: Calendars, Morning Prayer, Evening Prayer, Prayers and Thanksgivings, Litany, Holy Communion, Occasional Offices, Psalter, Ordinal (plus Family Prayer, Articles?). In use, a pupil is given a Prayer Book, asked to insert each slip in proper place—sticking out—at the start of each section. Or, the slips may simply be shuffled, and the requirement is to arrange in the correct order. A similar set of slips may be made for the parts of a single service. For drill on learning books of the Bible, type names on sheet, cut up, and ask to have pieces arranged in correct order.

In all use of such games, the teacher should be sure to repeat the drills to impress the facts covered. The element of competition arouses keen interest. Caution. use these for the end of the period, never at the start, as they are great time users, and often only the bell can stop them.

* See description of method of making these in Chapter 2, "The Art of Drill," page 165

5. STORY-TELLING TECHNIQUES

The telling of stories ranks among the foremost skills of teaching. Moreover, to be able to tell stories effectively, in any social group, gives one a pleasure and a position that is unique. The story-teller has a place and a power; this has been true from the dawn of history. No one is too old to be interested by a story. The following are some methods which have been helpful to others.

(1) Before you begin to prepare, *set the stage* in your mind. Visualize vividly the scene and setting in which you are to tell this story. Picture your class in its circle, yourself facing them. Every eye is upon you. (Resolve not to let any slight embarrassment, or the use of notes, cause you to lose contact with one of those eyes.) Now, don't let the thought get you in a panic of your old shyness. You are going out on a stage, but before an audience that is friendly and appreciative, not critical. It is going to be your big moment And it is going to be fun! Finally, review in a flash—for the hundredth time—the special age, needs, responses, of your particular pupils. They are your public, your only audience. For them alone you prepare.

(2) To tell a story, you must know the story well That's fundamental. This does not mean to memorize it, but know it. The safest and simplest way is to read it through three times. Never trust your quick mind and memory with a "once over." Never be overconfident. So, read the story through twice at the first attack. Then, after a little while—perhaps after some hours of other study or activity, or if possible a day or more later—read it through again.

(3) Then *set up* the story in your own mind. What comes first, what next, what then? What are the high spots, what the ending? Some teachers do this in a systematic way with a writ-

ten outline. More just straighten the material out in their mind, run over it a few times to make sure they have it all.

(4) Here, you might *improve* on the story. It comes to you in the printed form—in textbook or Bible—which you have just read over. But the writer might not have done justice to the underlying story. There are two ways you can always polish a story:

First, point up the *characterization.* Think of every person who appears in the story, one by one. Decide on some details of appearance and personality for each. Thus: "The farmer met Emily. . . ." (original story) Your improvement on this: "Down the road came the tall farmer in patched blue overalls. As he stopped in front of Emily she saw there was a merry twinkle in his eye." If you *see* these details, you will readily get them into your story, when you finally tell it; you need not decide on the exact wording.

Give every character a name or descriptive title or adjective, and call him by this name or title every time he appears. This will not sound monotonous, and aids in keeping the story clear in the minds of the listeners.

Second, put in a lot of conversation and *direct quotations.* Thus: (weak) "one of the disciples told Jesus there was a boy. . . ." How much better the Bible does it: "Andrew (Simon Peter's brother) said to Jesus, 'There is a lad here who has five . . .' "

Try this method with any story. Without writing anything down (for that might make the effect stiff, and the whole process a burden) *make up* complete conversations, with direct words in the mouths of all your characters. Never mind if they are not in very fine wording. They will be alive, and the imaginations of your young listeners will make up for any lack of literary polish

Just to fix this last elementary principle in your mind, it is

usually expressed: *avoid indirect discourse.* Place all possible words in the mouths of persons in the story. As one old teacher expressed it, "Use more quotes." For example: "Jesus . . . asked him what he wanted." (This is indirect discourse.) St. Luke was a better story-teller, for he wrote it, "Jesus asked, 'What wilt thou that I should do unto thee?' "

You may, indeed, have to apply this principle to amplifying the Bible text. Remember, the Gospels are clipped, often far too brief, and we have a right to expand them if we do not change their real meaning For example, "They rebuked the blind man that he should hold his peace" (St. Luke 18:39). You may decide to tell this: "The people around said to him, 'Be quiet! You're making too much noise!' "

Then, too, you may wish to invent more conversation to sustain the dramatic action For example, one teacher expanded the story about like this:

"The blind man asked, 'What is all that noise?'

"His friends said, 'It is a great crowd coming along the road.'

"The blind man asked, 'Why is there such a crowd?'

"They answered, 'Jesus of Nazareth is passing by.'

"Then the blind man began to shout, 'Jesus, Jesus,' etc."

(5) Your *bodily actions* are important. You may shrink from the thought of making gestures, yet anyone, no matter how awkward or shy, can add to a story by some simple motions. If you are one who feels a little self-conscious about this, the following is suggested: Run over the story mentally to see if you can imitate a few of the obvious movements of the characters. Of course you may have to tell the story while seated, but you can do a lot with your head and hands. Thus: "He held out his hands. He looked up to heaven. He saw him in the tree. He shivered in the cold." Surely you can do the action suggested by each of these

But *think out* the gesture, and even practice it, as part of

your preparation. You can readily draw pictures by gestures. Thus: "He came toward them down the winding road" (point, movement of wrist). "The city had walls with square towers" (sketch the sky-line of city with hand in air). "The arrow shot out and fell" (curving motion). Try it. It's easier than you think.

There's more to story-telling than all this But you can work at it and get better rapidly, if you will Of course, you are not going to tell stories all the time, or you wouldn't be doing any teaching. Nor are you likely (if you are a skillful teacher) to tell a different story every single Sunday. That would be falling into one of the many fixed patterns which so often make teaching monotonous. But you will be telling and re-telling stories, to one group or another, all your life, and you owe it to yourself and your work to become expert in it.

6. HOW TO MEMORIZE

We have all noticed that some children can memorize things easier and quicker than others. There are various opinions and theories why this is so. Some people can go over a passage to be learned with such intensity of attention that the words seem to etch themselves upon their minds with a few efforts.

With others we notice their attack. They *go at* a learning assignment in a moment, without any hesitation or "stalling around." They have truly well disciplined minds, willing quickly to do something, and being on the job the next instant.

Again, it is partly a matter of confidence. Those who have learned hard bits in the past know that they can do it, and so approach new assignments with a feeling that it's easy.

One such student comes to my mind. He was given a part in a pageant in an emergency, and was handed his script even as

the first act was starting. While the costume was being fitted on him, he worked at his lines, asking only, "Don't talk to me, I'm memorizing" When he came on, not 20 minutes later, he knew every line of a rather long scene, and even prompted another actor. This boy had a ready mind, but he had done such feats before, and knew that he could do it, easily

Now, as it concerns us as teachers, there are two main parts to memorization—motive and method

"I could do it if I wanted," is the explanation of many a child when twitted that he can't throw, or jump, or sing, or do one of the many activities of the school. That is the secret spring of every life, were the truth known—if I wanted to! How to make the child want to is the leader's real problem.

Memorizing set words is a natural activity, in which every living person, including the lowest forms of mentality, may compete. Anyone can memorize. Tests prove that, literally, we are never too old to learn.

Growing children, using their minds, like their bodies, experimentally, are delighted to discover that they can memorize. It gives them pleasure for several reasons. One is the sheer joy of achievement. This is one of life's deepest joys.

A girl of fourteen was found to be learning the Nicene Creed. She was asked, "Did your teacher assign that?", and replied, "Oh, no, it was the Apostles' Creed, but I knew that already, and just learned the Nicene for fun." We teachers should never forget that it is fun to learn, once started, and we deprive our pupils of a great experience if we do not help them in it.

Besides the joy of doing it, there is more commonly the motive of pride and exhibition. We recite our piece to be heard by the class or audience. We do it, mildly, to show off. But we do it, and thereby the material is in our minds, ready for later use. Let it be said here, teachers who personally find memorizing distasteful will not get good results from their class. Such

teachers will not be as apt to start their pupils on a new assignment with enthusiasm.

Doubtless the best urge to learn is for immediate use. This applies naturally to lines in a play, to prayers to be said in real devotions Another consideration is the kind of material. Some will find verse easiest, while others can master prose more readily. Unfamiliar and meaningless matter is always learned more slowly But always, the teacher must keep the class at their work, and each accomplishes the assignment by contagious leadership.

Memorizing is accomplished either in class or at home. Many teachers who labor faithfully to make the memory period of the class fruitful fail to make any assignments for home work. Indeed, here is where we all miss an ever present opportunity. Parents and children respect the teacher who sends home a typed slip "To be memorized before next Sunday." Expect results and you will get them.

Class methods of drill are various, and the ingenious teacher makes up her own There are the visual, using the book, blackboard or flash cards;* the choral, reciting in concert; and the

* Flash cards are readily made by hand, and speed memory work a great deal Get several pieces of white cardboard about 10 x 12 inches, or whatever size fits the class and item to be learned On this, copy the passage on one side with crayon or black ink (A different assignment may be on each side, requiring fewer cards) Punch hole at center of top, and fasten loop of string A class of four or five can sit closely together so that they can use smaller cards, with lettering not over half inch high For larger class, make chart of a size to be read across the room, with letters about three-fourths of an inch high Two uses

(1) *For the whole class* Hang card on wall Class recites in concert Then individuals try The child reciting faces the class, his back to the card, while the others watch to detect mistakes When any one has recited it perfectly, he is permitted to write his name on the margin The cards are kept hanging on the wall, and are always available for quick drill

(2) *For personal drill* There are several cards, made smaller Two children work on one card One holds it up, lettering towards partner, who reads it aloud Holder then turns the blank side, keeping his own eye on the script while partner recites Thus slight errors are caught at once, and the correct way established

pupil-leader, where the child who has already learned the section takes charge and calls for others to recite.

One proven psychological principle may be taught older children, asked to learn long passages. The rule is: Don't learn one line or verse at a time. Instead, read over the entire passage, again and again Oddly enough, progress will seem to be slower by the latter method. But if you will stick to it, you can actually master the whole section with less repetition, in shorter time And it will stay in your mind more permanently.

Teachers, a personal tip: Take up memorizing as a pastime, for your own pleasure. It will give you a sense of mental power you have not realized for years, and (if you memorize the right things) it will enable you to give great pleasure to others, at unexpected moments.

7. THE VALUE OF MEMORIZING

I am eternally grateful to the Chicago public school system for inspiring me (or compelling me, I suspect) to memorize, "The quality of mercy is not strained," "What is so rare as a day in June?" and other gems of my literary inheritance. They come in mighty handy at times.

I am also grateful to my boyhood parish for seeing that I learned, about the same time, "Come, Holy Ghost, our souls inspire," besides "And now our Eucharist is o'er, Yet for one blessing still we plead. . . ." These treasures I have recalled literally thousands of times. They are part of me, and they have helped me grow in the Faith. With such things ready in my mind, I have been able to teach others. Without them, I would be a poor and ill-equipped Christian.

The value of exact and beautiful passages held in the mind, and used at will, is readily recognized. Facts, lists, details of

stories, names, dates, definitions, and the like are the common grist of school learning. These have their place, it is true, in the total volume of human knowledge. But the *use* of such matter (except in the long chance of your being called up at a radio quiz program) in adult life is very slight. The things to memorize which will be of use all through life are the devotional and spiritual passages through which we may express ourselves and refresh our souls. You either have a store of these in your mind, from childhood days, or you don't. Few people, unless especially inclined, will be apt to memorize late in life

It is therefore our special responsibility to see that our boys and girls actually learn certain choice and tested selections from our Christian literary resources. Some of these, it is true, will be accomplished without special effort, by natural repetition in use at our services. These things include the creeds, the Lord's Prayer, and many frequently sung hymns There is a further list of memory gems which should be the common property of all Christians, but which no one is apt to have learned unless directed and held to the task by a teacher. Here is the special field of the Church School and class

There are two theories, it should be noted, as to the use of verbal memorizing in Christian education. The one extreme is the ancient method which looked upon all knowledge as a transmission of the ancient words, to be learned exactly, with little stress upon the understanding. Picture an ancient class of oriental boys (girls didn't have any such advantages) sitting on the floor, droning aloud the endless scripture they were memorizing From them it is a long jump to the other extreme of a modern Sunday School where a little class is seated around a table in the parish house, cheerfully emoting and evolving some project in self-expression. The boys of old could and did recite their lines all their lives. In contrast, the modern children frequently "have nothing to show for their time," (as Grandfather

grumps) except a few bits of novel handwork and some pleasant impressions.

In between these two extremes of all-memorizing and no-memorizing—entire verbalization and complete self-expression—lies the whole field of varied and effective teaching. On this middle ground, indeed, may yet be fought to its inconclusive finish the war between the Authoritarians ("Christianity is revealed, transmitted Truth: know it") and the Vitalitarians ("Religion is Life. live it"). There seems to be no discharge in that war, once you have taken sides, unless, at long last, we may discover that objective and subjective are only head and tail of the same precious coin of life

The reader may feel that the foregoing is largely theory, but it comes home to him, if a teacher, in the decision to make much or little of memorization, and what things are to be memorized. Granted that you hope to give your pupils something permanently useful, for all of life, what shall these things be? One method, which held the field for several generations, and may still be seen in some old-fashioned courses, is the "golden text" which was memorized, one for each Sunday. Thus, a year's achievement was to know all fifty-two of the texts letter-perfect. Since the same texts were often used again, year after year, the memory equipment of such children was often just this list of selected single verses from the Bible. These often were rich in evangelical meaning, but also were often key texts calling for a large theological knowledge for their complete understanding. Many oldsters can thus recall or recognize many texts which for them are old friends, but which as often have little real meaning

Another system, of about the same period, was also based on the Sunday-by-Sunday method, and attempted the learning of the collect for the day. This may still be found the practice in certain English and Canadian parishes, and in our country

where there is a great emphasis on the Prayer Book The knowledge of the collects is certainly of more value than separate texts. But it is difficult to learn a new collect each Sunday, and younger children are not ready for them. Moreover, such a rigid scheme leaves out many other kinds of memory items.

Let us approach this question of what to memorize in the Church School by seeing what we desire at the end of our system. Here is a young adult, who has been through our parish course and is now twenty to thirty years old. Just what things can he recite from memory because we have taught him?

In the first place, for what occasions in life have we prepared him? He surely should have ready some appropriate words for such times as these: His daily night and morning prayers, with enough variations to fit all kinds of personal problems; some prayers at noon; some ejaculatory prayers to say while busy; a grace at meals; prayers for and with a sick person; a prayer for opening any meeting; beautiful passages for comfort or inspiration, to be said for personal uplift, or to help others Some of these latter will include choice psalms, hymns, and Bible passages

The selection of the items to be taught to meet this intended use is one of the foremost problems of the Church's curriculum planning. There should be a memory schedule, with electives and variations, which should be set up and followed year after year. Certain minimum and some extra things should be listed. Up to the present, no such complete list has been set forth. Each teacher, at the start of the year's work, will have to make up her own scheme, and try to accomplish it, through the year. It's too bad, but at present the teacher, possibly with the help of the priest, must do this alone. Since both have their hobbies and limitations, it is a frail foundation.

Happy will be the Church which, from a competent headquarters, and after years of experiment, holds up an official list

of things which must be memorized. The second strand of the old Christian Nurture Series, "Memory Work," was a thoughtful effort to carry through this year-long planning.

Considering again our end-result, in the graduate of our school, we can list the main requirements of such a list, which may some day be promulgated by authority. This list would include.

The creeds, the Lord's Prayer, and the Ten Commandments, surely, before we branch out on the many other things which a Christian ought to know and believe to his soul's health

A few devotional hymns—mostly objective (to and about God), but some subjective, though not sentimental. Certain others poems (for older students) from our English classics, having devotional value. These last are often learned in literature classes at school or college, but seldom at church.

Certain carefully selected collects and other prayers to fit definite occasions, as given above.

Some devotions to use at the Eucharist.

Two or three psalms.

A few other golden passages, not too short, from the Bible.

A few definitions from the Catechism.

Once such a list is made, the teacher will have a special duty to see that her pupils know the items assigned for that year and to drill on those learned in the preceding year

After the teacher has adopted or been given such a list of objectives, there remains the problem of inducing the children to learn them. We all memorize only when we are motivated Thus, the pupil may learn in order to get the signature on the page of his step-catechism (achievement); or to get his name on the honor roll (recognition, competition); or to be in a play or pageant (display), or just because his teacher's desire and enthusiasm are catching (contagious leadership).

Leave a place in each lesson-plan for memory drill. If you

don't, you may go weeks without accomplishing anything. Some teachers neglect it almost completely, and as a result their pupils are cheated of this part of their training.

Keep the class memorizing *together* as far as possible, but encourage the child with a flair for memorizing to master as much as he will in addition.

Learn the class's assignments yourself, letter-perfect. You simply cannot teach memorizing from a book or chart. This inspires confidence, makes it possible to drill at any moment, without looking up materials.

Above all, stick to it, for a part of each lesson, don't leave a lot of loose items only half memorized.

8. TEACHING WITH A FILMSTRIP*

Every teacher ought to know how to use the new miniature projectors by which small photographs, on single slides or strips of film, are thrown on a screen. The method is old (remember the old magic lantern?) but recent improvements and increasing use in education have given it a new prominence. There is a danger that churches buy the equipment without knowing how to fit it into the teaching program. Be it known that at present there is no such thing as a "program of visual education" in any sense that you can buy sets of pictures to illustrate every lesson of a course. The pictorial elements in the Bible have been studied by producers, and pictures made of nearly every scene in the life of Christ, and many in the Old Testament But pictures alone do not convey religion, and their proper use by the teacher calls for careful study and preparation.

The simplest and most convenient form of transparency is

* The use of motion pictures is too large a subject for this book The use of one type of picture projection is here described as a help to teachers, and to stress the *teaching* activity

the filmstrip, which is recommended as a good way to start any church in the use of projected pictures. This is a piece of standard film about four feet long and with thirty or more single pictures which are shown one at a time. When you are through discussing a picture, you simply turn the knob of the projector to the next When through, the little filmstrip is put back in its tiny box, ready for use by another class, or in other years. The cost is low, and a school gradually builds its library of strips. The filmstrips are increasingly being produced by both commercial and Church bodies, and may even be made by home talent.

After your school has bought the projector and some film strips or slides, teachers must know how to use them. It is easy to run the pictures through the machine, but to make of them a constructive educational experience is the problem. First, you must become acquainted with the strip or group of pictures you are to show. Don't be too sure you remember the story. You must know well every picture you are to show. This requires that you will have set up the projector the day before and run through the full sequence, jotting down notes as you go. You should at this time read the script usually provided by the makers with each strip, to be sure you get the full intent of the editors. But you must go beyond these notes, know as much as possible about the theme And, if it is a filmstrip on a Biblical subject, be sure you re-read the Bible passage carefully.

The next step is to prepare the children. Before the pictures are shown, present the theme to the class or department which is later to see it, aiming to point their minds toward it, so that they will not be seeing entirely unfamiliar matter. Yet you should try to do this without "spoiling the surprise," or leaving nothing for the actual showing

This preliminary talk by the leader takes place in the class the Sunday before the showing, either as a short statement, or

in the form of a directed discussion, creating vital interest in the topic underlying the pictures. This may be part of the development of a class project. Thus, an older class is led into a discussion on "Dating," and you mention that you have some pictures entitled "Boy Meets Girl" Could we find time to examine them next Sunday?

Finally the filmstrip is shown, and the teacher has the problem of speaking while the pictures are thrown on the screen, in a nice balance between an informative lecture and planned questions aimed at student response. *This takes more careful preparation than ordinary teaching.*

Some teaching tips and cautions are given below. These will have much more meaning to you after you have used the projector a few times and realize some of the difficulties, as well as the great possibilities of the method:

(1) Your talk must fit the picture—don't merely give generalities recalled by it.

(2) Yet you must go beyond the picture with added information. On the other hand, brevity and movement are essential. Those who know *too* much are apt to tell it, and be boresome.

(3) Have your material organized, not just a lot of loose comment. Knowing the age pupils you will be addressing, you will have decided on their probable interests and will refer to some of their experiences as points of contact. Use simple but exact words.

(4) Avoid the obvious, merely identifying: "See the big camel."

(5) Work for student response and interpretation by carefully thought-out questions: Thus, "What is that in his hand?" "Billy, how do you think the shepherd felt?" "How many of these men are Pharisees, how many are disciples? Jane, go to the screen and point to them."

(6) Talk quietly and insist on perfect co-operation. Mischief

breaks out in the dark, and you must be ever-alert to control the tone and to maintain the pitch of interest. On the other hand, you will find that you gain in concentration of attention (if your talk is "clicking") because of the dark, with all eyes held by the screen, and the changing images.

(7) Show to small groups of nearly the same age, so your talk can fit their vocabulary and interests, and so you may have every one take part in the discussion.

(8) Have a separate projection space always set up, so as not to have to fuss with curtains, screen, and electric cords. This need be only a space large enough for about a dozen persons, where groups are taken in turn, by pre-arrangement.

(9) Have a separate operator, and if possible a special teacher who is prepared to present all the filmstrips in your library. Thus, the regular class teacher gives the pre-statement, by memorandum from the Projection Leader, then brings her class to the "Little Theater" at the time set The Leader may soon be known as the "Story-Tell Lady."

(10) Keep your shows short, only a portion of the class period. Many filmstrips can be shown in twenty minutes. The class may then return to its own room or alcove to continue the lesson, or discuss the strip.

(11) Plan your showings, by a school schedule, weeks ahead, so that teachers may anticipate and fit them into their courses. This helps to keep them on their toes, and gives to the children a sense of something coming

(12) Finally, let's keep this in perspective, as part of our normal teaching. What we want is activity, pupil response. The trouble with pictures is that on the whole they call for only passive attention. In spite of the ballyhoo, a picture is still only a picture, and our concern is primarily with *ideas* and their expression in lives. There are three stages or levels of teaching, from the lowest to the highest, in the following order:

First, *Words*—verbalizing of all sorts, listening, definitions, and catechisms.

Second, *Visual*—anything done or shown in the presence of the student which reaches him through his eyes. This includes gestures by teacher, blackboards, graphs, wall pictures, drawings, chromos, sketches, cartoons, illustrated leaflets, stereoptican slides, and now the 2 x 2 slides, filmstrips, movies, and sound-movies. The projection of pictures has swept the educational world, and reached the churches. One often suspects that the new interest is embraced in the hope of finding a short-cut to success, by some mechanized process, and perhaps as a substitute for reality—the subconscious which welcomes activity with *things* in the flight from the more difficult ultimate of dealing with *people*, that is, with our pupils But visual aids are part of our program, and may be used if we know their relation to our real goals.

Third, *Activity*—This means any form of personal participation in a guided experience. Everything in our teaching should aim toward this For example, the making of a poster involves *words, visual,* and *activity*; but the activity uses the first two and makes them live.

In your search for a personal hobby, this may be it! to make yourself the Visual Leader for your school, knowing all the equipment, training a staff, learning the techniques of presenting the pictures to each age-group, and perhaps being the official photographer who takes 35mm colored pictures of all classes, organizations and occasions, and shows them at appropriate times. Here is a real calling.

9. STUDENT NOTEBOOKS

Many teachers use student notebooks without knowing why. Few realize fully their possibilities and limitations. Writing is the simplest form of self-expression, combining handwork with a permanent record. But in practice, unskilled teachers use too much writing, and waste much of the precious time of the class period in trying to produce neat and complete notebooks.

"I have stopped using notebooks," a teacher told me recently. "We never have enough time. And there are so many other pleasant ways of self-expression and class activity" After spending a great deal of effort on notebooks, how many of you have come to about the same conclusion?

It is likely that the teacher who insists on perfect notebooks is only reflecting her own tidy personality, or trying to repeat some of the methods of her prim college days. She does not allow for the younger age of her pupils. Therefore, just to clear the air, let's ask ourselves, Why do we have pupil notebooks? Three main purposes come to mind, as follows:

(1) *Handwork, activity*—Observes one teacher, "At least my pupils are busy and quiet while they are writing." But surely this alone is a low motive. We have passed beyond mere "busy work." This motive might do for the substitute teacher, who must make the best use of the period. The trained teacher, with a larger vision of teaching, will scorn such an objective.

(2) *Self-expression, interpretation*—Here, as some one put it, "To know it, you must be able to say it. If you have to write it down, you fix the words in your mind" In theory, yes. But boys and girls from about the fourth grade through the eighth write very poorly and so slowly that the results are painful, or require much slow, patient supervision. And spelling is such a problem, especially with the many difficult Church words.

There are so many other ways of inducing expression. Many

children actually hate to write. The inarticulate child, asked to write out his sentence in silence, is apt to produce little of value If the topic is thrown into the class for discussion, the best of all minds present is contributed. But when the conclusion is reached—usually phrased by the teacher—it can only be dictated, word for word, into all the notebooks. And the slowest pupil holds back the class. For this reason, notebooks of younger children usually end up about the same, with little originality developed.

(3) *Summary, for review*—High school and college pupils may thus use their notebooks, but is this of much value for juniors? There are so many other better ways. Do you still use the easily remembered catch-phrases to recall each lesson—Abraham, the friend of God, Joseph the dreamer, etc.? Such titles, with the dates taught, may well be written on a heavy cardboard (not the blackboard, which gets erased) from week to week, left hanging in the class room, and used frequently for drill. This takes no trouble, wastes no time Moreover, frequent class drill is swifter, more thorough, than by the use of notebooks

Here are some better uses of notebooks, if you still want them:

(1) *New words*—This is a section in the back of notebooks where any new word which arises in class is written, with a brief definition, and later used in sentences.

(2) *Things to look up*—The teacher says, "We haven't time to find out about that just now Let's put it in our notebooks, and we'll see who will be the first to report on it." They turn to a section marked "Find out," and write down the item, as, "How many people can be seated in our church?" As they do this, previous questions inserted there are noticed, and perhaps the urge re-aroused to look them up, too.

(3) *Exchange books*—For this, books are exchanged around the class, and pupils mark for accuracy, neatness, originality.

Better than individual books is the Class Diary, kept by a student secretary—the office a high honor, and rotated frequently. The class starts with the reading of the record of the previous lesson, a much swifter way to review and get in motion than the usual, "Now, what did we talk about last Sunday?"

Into the Diary go all the points that arise in class—the summary of discussions, plans for the future, promises, assignments. One week the record reads, "We made plans for the basket Joanne reported on the party. We talked about how to be helpful. We decided we must give people what they really need, not what we like." The smartest members of the class usually serve as secretary, and thereby a certain amount of special ability is directed and developed Some touching and unexpected impressions may be recorded! A teacher found in looking over the Class Diary for the preceding Sunday, when she had been absent, and an old saint of the parish had been the substitute, the record was simply, "She talked to us about God"

The lure of well-kept notebooks undoubtedly has helped the vogue of the new workbooks, which seem to promise complete and tidy results with little effort. But those who have used them for a while will tell you how deceptive the results are. Notebooks, of any kind, are only a device, and must never become an end The best that may be said for them is that they provide a chance for individual work and a feeling of personal possession and achievement. And they are at least a variation from the incessant talk of some teachers.

10. CLASSROOM DRAMATICS

Some time, after you have run through all the other ways of activity in class, you may decide to try "acting it out." It is much easier than it may seem at first thought But it does take

some advance thought, is never actually impromptu. Some teachers do it instinctively. But we would all do it now and then, if we would see the possibilities, and discover the fun of it.

Here is the way it works. A fifth grade class has just finished its planned work. The teacher has decided to use dramatics to develop the lesson further. Joseph is sold into Egypt (Genesis, chap. 37). It is full of possibilities, and there are plenty of characters. For instance:

Teacher (who has thought it out thoroughly, in advance): "If we should act this story out, who would be the main character? Where is the scene?" (Note: Don't call for a class decision too quickly, just as when launching a major project, but get their imagination rolling first. "*If* we acted. . . ." They will begin to respond in a few minutes, and then things will move, by a common mind and impulse.)

Teacher: "I'll ask Walter to pretend he is Joseph Now Walter, what was the errand your father Jacob asked you to do?" (Walter replies.)

Teacher: "You might walk along here, Walter, no, *Joseph*, wondering where you would find your brothers and their sheep As you go along, what are you thinking about? Have you had any dreams lately?"

Walter has his place now, and the others are in it too, making suggestions.

Teacher: "We'd better have the brothers over here. What are some of your names? What should the brothers be doing?" (Sitting around the camp.) "What are they talking about? Then, which one suddenly sees Joseph coming?"

So the story is recalled, and the setting and actions are sketched. Then the teacher says, "Now let's go through it again from the beginning."

Lines spoken, of course, are made up by the actors. No properties or costumes are needed. From sitting around a table, the

group is suddenly acting The teacher is stage-manager, drill-master, yet the pupils do much of the inventing Thus:

Teacher: "How shall we have Joseph in the pit? Here—he can be just on the other side of this chair, on the floor."

There will be some horseplay and gaiety, yet it is surprising how seriously children take hold of such imaginative activity. If you don't believe it, try working out some past story you have studied. And remember, they like to repeat a successful enactment, especially if a new audience can be found, such as before the department opening, or at a parents' meeting. One excellent way is to have a neighboring class (by arrangement and permission) be the invited audience. In a pinch, this may be better than rushing in an unprepared substitute teacher

A splendid example of Church School dramatics was given in the motion picture, "The Bells of St. Mary's," with Bing Crosby and Ingrid Bergman, where the primary children in the parochial school give their rendition of the Christmas story.

A small boy enters and announces, "We are going to tell you about the Baby Jesus I am Joseph This is Mary. We are going to Bethlehem " He assists Mary to a seat on the donkey (a saw-horse with a cardboard head, and a mop attached for tail, clearly the children's own creation).

"She is very tired We have travelled a long way," says Joseph. There is a pause, then: "That's the end of the first scene." He then goes to an opening in the back curtain, saying, "Knock, knock "

A child sticks his head out, and there is a conversation about getting a room It develops that Joseph has no money, so, no room He reports this to Mary, still on the donkey, who accepts it cheerfully, saying, "Then why don't you try next door?" Here Joseph says, "And that's the end of that scene."

Joseph then tries an opening in the curtain farther along, and in a conversation with another speaker who sticks his head

through the curtain, finally arranges that Mary shall rest in the barn.

The donkey is dragged off by willing hands, and, after some delay, the curtains are pulled back to reveal the Nativity tableau. A cheerful baby about a year and a half old is in a laundry basket (He refuses to lie down, but stands up all through the action, smiling at the audience.) An angel with paper wings stands on a stepladder. There are shepherds and a toy lamb, all introduced by brief sentences from Joseph.

"And here comes the neighbors, bringing some presents," as other children enter, placing objects before the crib (basket). "And now we will sing our Christmas song," Joseph announces, and leads them in the singing of "Happy birthday to you. Happy birthday, dear Jesus, happy birthday to you"

Several points in the foregoing might be noted which mark it as good teaching methods. Although only a scene from a movie, there is behind it much careful checking with a real school. Note the following:

(1) There were few properties or costumes, and even those were common objects at hand The imagination provides practically everything. It is activity and self-expression on the most immediate level of spontaneous action.

(2) The teacher did not appear in the performance at all, not even in scene shifting or prompting. Everything was done by the children, in the final performance. They were not putting on a show, in the adult notion of a finished performance, but they were living through an experience, in their own terms.

(3) The lines were entirely made up by the children, and evidently changed every time they did it. The most ready speaker was given the major part. It was a favorite story, acted out whenever they could get an audience. Or, just for their own pleasure.

(4) The teacher clearly had put in her constructive sugges-

tions while the play was in process of being formulated, but had never intruded adult ideas. We are to imagine that the points were developed in several happy class periods in the weeks preceding. The idea of the donkey had fascinated them, and so they had created one, with head and tail complete. The reason for rejection at the inn was that the holy couple were poor, and hence the conversation about money The thought of "Where can we find a Baby Jesus?" brought out the offer of somebody's baby brother. Angels being up in the air suggested the stepladder. And the "Happy Birthday" song seems far closer to childhood than even the customary "Silent Night"

All through, one can imagine much vital class discussion, a truly "socialized recitation" directed by the plan and oversight of the teacher, yet free enough to allow for every original idea that arose.

In the use of class room dramatics, four suggestions might be given:

(1) Have the scenes and action well thought out in the teacher's preparation, but present it *as if* spontaneous and worked out by the children. Such directed discussion will increase one's skill immensely in the use of the creative methods of project teaching For the acting is a project, an outcome of the lesson, along the line of natural interests.

(2) Assign the characters yourself, at first The reason is that the children make it a popularity contest, or else the most agressive demands a part. And all this wastes a lot of time. You can then change the parts around for a repeat, and they do love to reenact a favorite story.

(3) While directing the first action, be alert to accept every good suggestion offered, as to properties, lines, or business.

(4) Save this for the *end* of your period, as a relief from restlessness. Moreover, you can use up all your scant time with it, if you aren't careful.

Chancel pageantry is well recognized, and can be kept simple if sincerely done. There are enough properties at hand: a chair, a bench, a prayer desk, a small table, a screen. One child can announce the setting and subject. The question is often raised, Should we allow pupils to portray the person of our Lord? Why not? Doubtless this objection comes from adults who have witnessed various Passion Plays, where literalism and much sentimentality intrude, or the actor who took the part of Christ seemed inadequate Others have a real feeling that no one is worthy to take the part. Yet with children, none of these objections obtain—certainly not with boys and girls up to fourteen. To avoid any seeming irreverence, the teacher must take pains to create the atmosphere of earnestness, and cause the assignment to be felt as a solemn privilege.

We might try class room dramatics more frequently. For example, there is the Easter story, rich in possibilities, yet (because of an overcrowded Lent) seldom stressed. We come upon Easter without warning, the stress of Holy Week takes up all the thought and energy of clergy and leaders, and the story of the Resurrection gets little more than a brief telling. But what a chance for the children! There are angels, and soldiers, the Marys, Peter and John, and the risen Lord. There can be added the upper room, and the Emmaus incident. There is plenty of dialog possible, easily invented or paraphrased Ask your class how they would make it into a play, and immediately you will be astonished to see it taking shape from the children's suggestions. But before that, you must have *told* the story so well that it is recalled vividly.

Dramatization is a fine review, good physical activity, and gives scope for interpretation and imagination It is loads of fun.

VII. A LAST WORD: THE REAL REASON

We started this book by proposing that you might consider Church School teaching as a hobby. We hoped to touch a certain inner corner of your mind, to catch you on one of your mild enthusiasms, on the rising up-swing of your best, responsive self. It was to be an appeal to a vague yearning, as yet unfocused on any special work, to be doing something for the sheer satisfaction of it. Some fuel was then provided for your imagination to play upon. By describing a variety of devices, and giving some hints, we tried to get you to see something of the inside of actual teaching, and that it is not beyond your ability.

In doing this, we followed the *educational method*—that is, we took you as (we imagined) we found you, and tried, with our best ingenuity, to get you warmed up and started. (We didn't want to discourage you, to lose you in the early stages.) Our problem was to *contact* you, as you were at the moment of starting this book. That is, we had to touch both your mind and your feelings and get them to vibrating to our proposition. ("Create interest, building on already existing interests" is the formula.)

"Aha! Teaching is just *salesmanship*," I hear somebody say. My child, don't let me ever hear you use that word again around the Church! It is a street word, used only by vulgar people driven solely by the profit motive. It is true that outwardly the salesman and the teacher *seem* to operate on the

same lines. They approach their "prospect"* on the side of his known interests, enthusiasms, or desires and win his confidence. At the right stage both try to secure a decision. But the difference is in *why* each is operating. Salesmen too often are only interested in getting their commissions, and in nothing else. Teachers—certainly splendid Church School teachers—are motivated by the love of Christ. Their labors are completely unselfish, entirely sacrificial "For *their* sakes. . ."

This is where we came in But there is something beyond all this, something closer to our heart's deepest desire This is really a religious urge: we want to help children in their *religion* At our best, we know that Bible stories and activities are not the real goals. We want to help them know God

One time while I was calling at the home of a teacher, we were discussing how to make our pupils feel the personal reality of God I said, "Do you think we teachers speak of God often enough in our lessons?"

A child of the family, who had been listening to our conversation, hung on the arm of my chair and said eagerly, "All right then, let's talk about God!"

It was perfectly natural and real. He was genuinely interested, curious in the most elemental way, and looked to adults for help Notice that he did not ask any question about God. He wanted to *discuss* God, to enlarge his own notions by comparing them with those of others. He wanted no authoritative pronouncements, but a sharing of the thoughts he already had on the subject This clear, native urge is something we miss so often in our heavy-handed approach to the teaching moment. We *tell* them about God, and since our own terms are often somewhat pedantic, we close the door of interest almost with our first words

* The Church has, in recent years, borrowed this word from salesmanship, it is true, but with what a different intent!

Few adults can talk simply, sincerely, and winsomely about God They have never tried, or they have felt self-conscious or argumentative We assume that others "have their own religion" which we will not venture to intrude upon But isn't it possible that we have never thought out clearly and completely the reality of God and His work in us? Our ideas are vague and unexpressed, and may be so until the end of our days.

They may be, that is, unless we find times when, with tender open souls—like children—we can honestly try to frame our blundering, groping notions and voice them in clear and straightforward conversation For conversation and sharing it must be, not merely a grown-up phrasing of words. It must be testimony, witnessing, not second-hand reports Nor must it be thin sentiment, or wordy piety. It must be talk that tries out words known and used by children, and which aims at sharing our larger spiritual experiences, if only for a brief moment, on their level

This is the inward reward of being a teacher for God: that you learn by teaching Teachers must know, *now*; other people may coast along the rest of their lives, knowing they can look it up if the need arises. So you master your subject matter—for their sakes

But deeper than this familiar experience of the content, is the discovery of the *meaning* of the Faith: the personal relation of each soul with God Himself. You never really know until you have to submit your inner life to the requirements of a discussion period when, accidentally or planned, someone proposes, "Let's talk about God."

This is one of those rare *teaching moments* for which all the rest is only a preliminary. Here is the fine, front line of the advancing Faith of Christ, where souls meet souls and share.

Minds must meet And since the subject of our talk will be

God Himself, we can be sure He is brooding over the moment, entering into the conversation. Here is the *occasion* for inspiration, rightly understood. The stage is set, or found; all is ready. Preparation is possible, but exact outlines fail us in conversation, especially with children. We cannot be sure what our pupils will say, and their emerging ideas must be met. Such moments are often short, and soon passed. But they are real, and we can learn to grasp them.

The presentation of the truths of the Christian religion to satisfy the requirements of individuals is known in academic circles as the art of apologetics. It is too often pursued as a theoretical contest, in the argument *ad hominem*, too often addressed to a *hominem* who died a generation ago, or is pure fiction. At its best, it means a skilful presentation of the Faith in a form acceptable to the actual person you are addressing, and in the context of the atmosphere in which you encounter him. You must take into consideration his age, his intelligence, his experiences, his prejudices. And the speaker is not to win a verbal victory, but to let God have His due.

What a long way this is from just telling Bible stories, and from all our patient drilling on facts! Here, if we will court them a little, and recognize them when they suddenly appear, may be times of deepest joy when, in our own character, we just talk about God. Can our Lord have been thinking of such moments of discipling when He promised, "It shall be given you in that hour what to speak"?